





दशधर्म

प्रवचनकार
आचार्य पुष्पदन्त सागरजी महाराज

दश धर्म

(मुक्ति के दश द्वार)

प्रवचनकार

आचार्य १०८ मुनिश्री पुष्पदन्त सागरजी महाराज

सम्पादक

मुनिश्री तरूण सागरजी महाराज

संकलन

अजयकुमार कासलीवाल पंछी इन्दौर

प्रकाशक

सकल दिगम्बर जैन समाज परतापुर

जिला बांसवाड़ा (राजस्थान)

प्रथम संस्करण

२००० दो हजार

मूल्य

३० रुपये

प्राप्ति स्थानः-

(१) अजयकुमार कासलीवाल पंछी
९०/१, खातीपुरा चौराहा,
इन्दौर (म.प्र.)
४५२ ००७

(२) शांतिलाल रतनलाल दोसी,
बागीदौरा

समर्पित

कुन्द् कुन्द् संस्कृति न्यास बागीदौरा को

सम्पादक की कलम से

मेरे प्रभो : मेरे विभो !

- बालयोगी मुनि तरूणसागरजी

"युवाचार्य पुष्पदन्तसागर" एक युवा तपस्वी, ज्ञान दिवाकर, परिव्राजक का नाम है। वे मेरे गुरू हैं, सदगुरू हैं, अगाध्य देव हैं, मेरे ही नहीं वरन मेरे जैसे अनेकानेक मुमुक्षओं के भी। वे ज्ञानी हैं, भेद विज्ञानी हैं, वे ज्ञान की अप्रतिम मूर्ति हैं, काव्य सृजक हैं, कवि हृदय हैं, वे महान व्याख्याता हैं, प्रवचन वाचस्पति हैं, सिद्ध हस्त लेखक हैं, सरस्वती पुत्र हैं, उपसर्ग-परिषहजीत हैं। तार्किक हैं, श्रमण संस्कृति के समोत्रयन में उनका महत्वपूर्ण योगदान है।

भगवान महावीर की वीतरागता, आचार्य कुन्दकुन्ददेव की अध्यात्मिक दृष्टि, आ. समन्तभद्र स्वामी की वाक पटुता, आचार्य अकलंक देव की अकाट्य शक्ति उन्हें विरासत में मिली है अतः वे चहुमुखी प्रतिभा के धनी हैं।

वे युवकों के चहेते महाराज हैं, युवावर्ग उनके करीब आने में सकुचाता नहीं है (जैसा की अन्य साधु के साथ होता है) नन्हें, मुन्नें, दुध मुहे बच्चे भी उनकी वैयावृत्ति बड़े चाव-भाव से करते हैं, आहार में भी वे किसी से कुछ छुड़ाते भी नहीं हैं। (ये बात अलग है कि श्रावक स्वतः छोड़ देते हैं) दस वर्ष का बालक भी उन्हें आहार दे अपने को कृत कृत्य मानता है। वे सामाजिक झगड़ों में नहीं पड़ते ध्यान और अध्ययन ही उनकी रोजमर्रा की चर्या है। समाज से अंजुली भर लेना, दरियां भर लौटा देना उनका स्वभाव है। साम्प्रदायिकता से परे न वे तेरापंथी हैं और न बीसपंथी, वे सही मायने में आगम पंथी हैं। जिनपंथी हैं। आगम उनका नेत्र है (आगम चक्खू साहू) वे समन्वयवादी हैं उनके प्रवचन प्रवाह में समयसार, गीता, रामायण, कुरान, बाइबिल, गुरूवाणी सभी के पृष्ट पढ़ने को मिलते हैं। प्रत्येक विषय पर भी धारा प्रवाह बोलने का अधिकार भी रखते हैं, वे किसी को भी अपने गमन-आगमन की पूर्व सूचना नहीं देते हैं।

उनके श्रमण और विद्ववजनों के मुख से मैंने यह बात सुनी कि "पूज्य आचार्य विद्यासागरजी का चारित्र, पू. आचार्य विद्यानंद का ज्ञान, पू. आचार्य विमल सागरजी का वात्सल्य भाव जगत प्रसिद्ध है और अगर इस चारित्र, ज्ञान, वात्सल्य रूपी त्रिवेणी संगम का एक साथ दर्शन करना चाहता है तो इस समय हिन्दुस्तान में एक ही नाम है। "युवाचार्य पुष्पदन्त सागर" मैं इस विषय में अपनी अभिव्यक्ति नहीं दूंगा, आप पर ही छोड़ता हूं कि इनके करीब निकट रहकर स्वयं अनुभव कीजिये।

अभी कुछ वर्ष पहले इन्दौर पंच कल्याणक में जब आचार्य श्री विद्यानंदजी ने आपकी अपूर्व वक्तृत्व शैली से प्रवचन सुने तो बेहद प्रसन्न हुए और समाज को आज्ञा दी कि मैं तो इन्दौर से जा रहा हूं ये युवाचार्य पुष्पदन्तसागरजी यहां विराजमान हैं। इनका चातुर्मास यहीं कराना है ये ही इन्दौर को संभाल सकते हैं। कितने उत्कृष्ट वचन थे, एक साधु के दूसरे साधु के लिए। चूंकि इस अवसर पर आ. रत्न विमलसागरजी भी पधारे थे। उन्होंने भी खुश होकर यहां युवाचार्य के पद से अलंकृत किया था।

धवला में जो साधु के कई लक्षण दिये हैं कि साधु सिंहसा पराक्रमी हो, गज सा स्वाभिमानी हो, मृग सा सरल हो, पशु सा निरीह हो पवन सा निःसंग हो सूर्य सा दीप्तिमान हो, सागर सा गंभीर हो, चन्द्रमा सा शान्ति प्रदायक हो, सूर्य सा अनियत बसति का वासी हो। पृथ्वी सा सहिष्णु, क्षमाशील हो, आकाश सा अनालम्बी हो, बैल की तरह भद्र प्रकृति वाला हो और सुमेरू सा अकम्प, अचल, अडोल धवला वर्णित बहुवांश विशेषताएं आप में यत्र-तत्र परिलक्षित होती हैं होनी भी चाहिए सिर्फ आप में ही नहीं प्रयुक्त सम्पूर्ण श्रमण संघ में हैं।

"युवाचार्य पुष्पदन्त सागरजी" नाम पूर्णतः सार्थक है, महाराज श्री सचमुच पुष्प की भांति हैं। उनकी सौरभ गंध सम्पूर्ण समष्टि के लिये है, उनका मुस्काता हुआ भावपूर्ण चेहरा, सरल स्वभाव, दयार्द्र हृदय, निष्कपट व्यवहार, उदार विचार, आशीर्वाद की भावपूर्ण मुद्रा सहज ही अबाल वृद्धो के मन भा जाती है।

एक बात मैं और स्पष्ट करना चाहुंगा कि महाराज श्री के पीछे भीड़, क्यों भागती है, अहार में भीड़, विहार में भीड़, निहार में भीड़, प्रवचन में भीड़, वैय्यावृत्ति में भीड़ आखिर कारण क्या है? क्या वे टोना-टोटका करते हैं? क्या वे जन्तर-मन्तर करते हैं। क्या तंत्र-मंत्र के द्वारा चमत्कार दिखाते हैं। क्या उनकी पिच्छी में जादुई शक्ति है। क्या वे वशीकरण-सम्मोहन करते हैं? नहीं-नहीं कदापि नहीं इसका कारण है प्रेम, वे सबको प्रेम-प्रसाद बांटते हैं। प्रेम से अभिसिंचित करते हैं छोटे बच्चे भी उनसे निर्भय बताते हैं।

ये बात सच है कि वे भावुक हैं, सरल भी हैं और कभी-कभी लोग उनकी सरलता का दुरूपयोग कर लेते हैं पर सरलता तो साधु का स्वभाव है क्योंकि संसार इससे उल्टा।

पूज्य गुरूदेव ने पद विहार करते हुए जो म.प्र. छत्तीसगढ़, बुन्देल खण्ड, बिहार, इन्दौर, गुजरात, महाराष्ट्र, राजस्थान में धर्म प्रभावना की है उससे वहां की जनता अच्छी तरह परिचित है। जंगल में मंगल हो जाता है उनकी चरण रज हेतु दौड़ते पड़ते हैं भक्त गण।

[illegible] साहित्य, मानस का अध्ययन की कसौटी जो एक बार भी पढ़ लेता है आपको [illegible] भी [illegible] [illegible] आपको ढूंढता-फिरता है आपके प्रवचन [illegible] को [illegible] रहता है वास्तव में आपके विचार बड़े ही उदार, निष्पक्ष और कल्याणकारी होते है। उनके साहित्य से जन सामान्य को आत्मानुसंधान का मार्ग प्रशस्त होता है। जैनों के अलावा जैनेतर में पाठकों द्वारा भी खूब समझा (पढ़ा) सराहा जा रहा है। लाखों की संख्या में ये साहित्य लोगों तक पहुंचाया जा रहा है, खुशी की बात है।

आपकी जो सबसे बड़ी विशेषता है वह यह है कि क्लिष्ट से क्लिष्ट विषय को जैन धर्म को, गूढ़ताओं को, जटिलताओं को, उदाहरणों से, चुटकुलों, दृष्टान्तों के माध्यम से सरल, सरस बना देते है जो कि प्रत्येक श्रोता के हृदय में स्थायी प्रभाव डालते हैं। वे भगवान महावीर और भारतीय आचार्यों के अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह जैसे बहुमूल्य संदेशों को नगर-नगर, डगर-डगर, शहर-शहर, गांव-गांव में घूमकर अध्यात्म का शंखनाद गुंजायमान कर रहे हैं।

मैं बड़े ही विश्वास से कहता हूं कि अगर परम् पूज्य युवाचार्य पुष्पदन्त सागरजी जैसे ४-५ दर्शक आध्यात्मविद्, प्रभावी वक्ता, युवा तपस्वी श्रमण संस्कृति को मिल जाय तो काया पलट कर देंगे जो हमारी समाज, धर्म, संस्कार, कर्तव्यों से डिगने लगी है वह स्थिरता पा जायेगी।

वास्तव में पूज्य श्री अपने गुरुद्वय आचार्य विमल सागरजी, आचार्य विद्यासागरजी के नाम को गौरवान्वित कर रहे है। उनके बताये हुए पद चिन्हों पर चलकर सम्पूर्ण विश्व को मानवता का पाठ पढ़ा रहे हैं। बस ज्यादा कुछ नहीं, ऐसे नरसिंह दिगम्बर गुरूओं का आशीष और कृपादृष्टि से हम भी उस दिव्यता, वीतरागता अक्षयानंत, स्वात्मोलब्धि प्राप्त करें जिसको भगवान महावीर और अन्नानंत सिद्धात्माओं ने प्राप्त की है।

नमन / नमन / नमन नमन

क्षण - क्षण प्रतिक्षण

गुरूचरणारविन्द चञ्चरीक

(मुनि श्री) तरूणसागर



आचार्य विमलसागरजी महाराज



आचार्य विद्यासागरजी महाराज

सम्पूर्ण जीवन की साधना का फल निर्विघ्न समाधिकरण माना है, साधक के हर एक क्रिया कर्म के पीछे दुक्खक्खओ-------------। कम्मक्खओ-------------। बोहिलाहो-------------। सुगइगमणं--------------। समाहिमरणं-------------। जिवगुण सम्पत्ति होऊ मज्झ............की उत्कृष्ट भावना ही सन्निहित होती है।

जैन दर्शन ही एक ऐसा दर्शन है, जो मरण को भी "मृत्यु महोत्सव" का रुप दे कर मांगलिक बना देता है। समाधिमरण उस शक्ति का नाम है जिसके समक्ष मरण का स्वयं मरण हो जाता है।

शायद मुनि समाधिगुप्त जी इस शक्ति से पूर्व से परिचित थे, इसलिए जीवन के अन्तिम क्षणों तक मृत्यु का डटकर सामना किया, जन्मना रैवारी कर्मणा सच्चा जैन सप्तम प्रतिभाधारी कालूराम को पुण्ययोग से परम पूज्य 108 आचार्य पुष्पदंत सागर जी का परम सानिध्य प्राप्त हुआ।

फिर क्या था, जिस प्रकार जटायु के मरण को रामचन्द्र जी ने उत्तम बनाया था, नाग-नागिन के मरण को भगवान पार्श्वनाथ ने उत्तम बनाया था, मरण सत्र श्वान के मरण को जीवन्धर ने उत्तम बनाया था, बैल के मरण को नमोकर मंत्र देकर पद्म सेठ ने उत्तम बनाया था और हम इसी श्रृंखला में गर्व के साथ कह सकते हैं मुनि समाधि गुप्त के मरण को उत्तम आचार्य पुष्पदंत सागर जी ने बनाया।

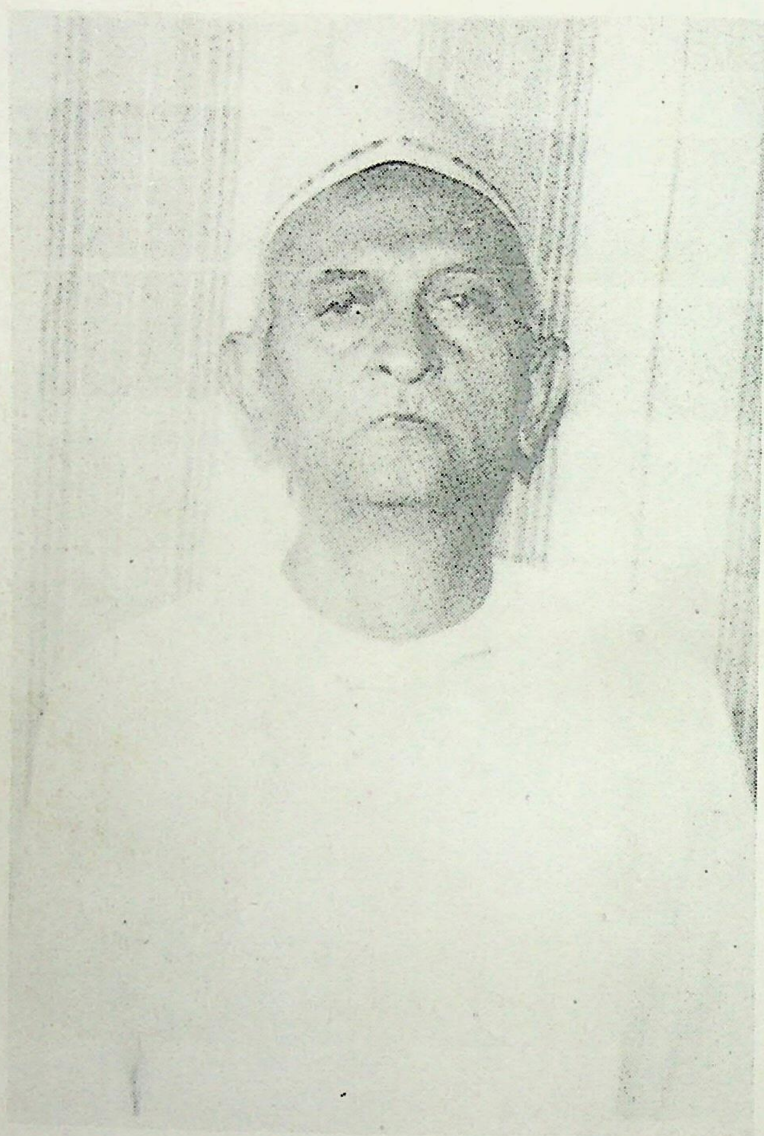
मुनि श्री जन्मता जैन नहीं थे, कर्मणा जैन थे, वर्षो से जैन श्रमण संघों में रहकर समाधि की तैयारी कर रहे थे और अन्तिम समय में अन्तरंग-बहिरंग रूप सम्पूर्ण परिग्रह त्याग कर 'मुनिमुद्रा' धारण कर ली और आमरण चारो प्रकार के (अन्न) आहार-जल का त्याग कर 12 वें दिन ब्रह्ममुहूर्त में सम्पूर्ण संघ के समक्ष ओम नमः सिद्धेभ्यः का जाप करते हुए नश्वर तन तज महाप्रयाग किया।

मुनि श्री समाधि गुप्त जी का समाधि मरण जितना सफल और समता पूर्वक हुआ है वह निश्चित ही हर एक साधक के लिए अनुकरणीय है अक्सर होता है कि अन्तिम समय क्षुधा और तृषा जनित वेदना के कारण साधक के परिणामों में विकलता आ ही जाती है परन्तु मुनिश्री ने अपने अन्तरंग परिणामों की देखरेख बखूबी निभाया और बहिरंग वातावरण को सम्हाला आचार्य श्री एवं उनके श्री संघ ने।

उत्तम क्षमा



आचार्य पुष्पदन्त सागरजी महाराज



श्री जड़ावचन्द भिमचन्द गांधी हाल मुकाम भड़ुंच परतापुर वाले

उत्तम क्षमा धर्म

धर्म स्नेही बन्धुओं,

"उत्तम क्षमा धर्म की जय" के उपरान्त आओ अब आज सच्चे मन से, सच्चे भावपूर्ण हृदय से, आत्मा की जय करें। आत्म स्वभाव का बोध कराने के लिये ही तो हमारे श्रेष्ठ आचार्यों ने इन "दश-धर्मों" का पालन करने हेतु विशेष जोर दिया है। इतना ही नहीं, आचार्यों ने तो इन 'दश-धर्मों को मूलगुणों के अन्तर्गत ही स्थान दिया है। ताकि हम अपने मूलभूत स्वभाव को या मूलभूत धर्म को ही न बिसरा दें। यही कारण है कि, उन्होंने अत्यन्त विचारपूर्वक, दूर दृष्टि पूर्वक, इन्हें आंचार्यों के मूलगुणों के अंदर रखा है।

इन दश-धर्मों में उन्होंने 'उत्तम क्षमा धर्म' को प्रथम स्थान पर रखा है। 'क्षमा' आत्मा का मूल स्वभाव है। फिर भी अनादिकाल से हमारी आत्मा को क्षमा की जगह क्रोध सब ओर से आवेष्टित किये हुए है। इसके चारों ओर क्रोध का वलय है। प्रगट पर्याय तो इस समय क्रोध की ही है, क्रोध आत्मा की विभाव परिणति है। क्रोध के सद्भाव में, आत्मदर्शन की तीन काल में भी सम्भावना नहीं है।

आचार्यों ने कहा है कि वस्तु के स्वरूप को यथार्थ में समझने के लिये, आत्म ज्ञान की प्राप्ति की साधना के लिये, मन को अत्यन्त शान्त रखना, कषायों का उपशम करना, पूर्वाग्रह से पीड़ित न होना, नितान्त निष्पक्ष होना, सरलचित्त बालक की भांति एकदम सरल स्वभाव का होना इत्यादि अपरिहार्य रूप से आवश्यक है, **तभी आत्मा में धर्म का प्रवेश संभव है, अन्यथा नहीं!**

इस धर्म प्रवेश का यह अर्थ नहीं है कि धर्म कहीं बाहर है और बाहर से उसे भीतर डालना है। धर्म तो अन्तरत्तम की अमूल्य संपदा है किन्तु कषायों की जटिलता के कारण उस तक हमारी दृष्टि पहुंच ही नहीं पाती।

क्रोध-कषाय की सबसे बड़ी विशेषता यह होती है कि वह प्रकट होने के पूर्व हमारे विवेक को पूर्णरूप से दबोच लेता है। हमें हित-अहित का विचार करने का, इस विषय में कुछ सोचने का मौका नहीं देता। बड़ा कुशल है यह जादूगर! **इसीलिये इस अद्भुत जादूगर से पीछा छुड़ाने के लिये ही, हमारे अत्यन्त दूरदर्शी आचार्यों ने सर्वप्रथम क्रोध पर ही विजय प्राप्त करने की बात कही है।**

यदि इस तत्व को हम एक दृष्टान्त ..... के माध्यम से समझने का प्रयत्न करें, तो यह बात शीघ्र ही हमारी समझ में सुगमता से आ सकती है।

एक बार, एक राजदरबार में एक पीड़ित व्यक्ति में प्रवेश किया। उसकी एक आँख फूट गई थी ..... उससे रक्त की धारा प्रवाहित हो रही थी। सभी दरबारियों की दृष्टि उस पीड़ित व्यक्ति की उस रक्त रंजित आँख पर पड़ी। उसकी हालत देखकर सभी का ह्रदय उसके प्रति करूंणा से भर गया। राजा ने भी उसकी वह दयनीय स्थिति देखी। उसके मन में भी उसके प्रति दया उत्पन्न हुई। यह अत्यन्त स्वाभाविक था। सरलचित्त मानव का यही मूल स्वभाव भी है। किसी का दुःख एवं् पीड़ा देखकर, वह करूणा से भर जाता है। दया, क्षमा, करूणा ..... ये भावनाएँ न्यूनाधिक प्रमाण में सभी प्राणियों में रहती हैं। महापुरूषों में हम इनका पूर्ण विकास देखते हैं। साधारणजनों में से ये विकासोन्मुख होते हैं - इनका नितान्त अभाव किसी में नहीं होता।

उस पीड़ित व्यक्ति ने अत्यन्त करूणा पूर्ण स्वर में सम्राट से निवेदन किया कि - महाराज, मुझ पर अन्याय हुआ है, मैं आपके पास, आपके दरबार में न्याय की भिक्षा माँगने आया हूँ। आप इस युग के अत्यन्त दयालु, धर्मात्मा एवं निष्पक्ष न्याय करने के लिए प्रसिद्ध हैं, इसीलिए मैंने इस दरबार में आने का साहस किया है। मैं आपसे न्याय माँगने आया हूँ। मुझे न्याय की भिक्षा दी जाये!

राजा ने सान्त्वना पूर्ण शब्दों में, उसे आश्वस्त किया और कहा कि, अत्यन्त निर्भय हो, वह अपना दुःख निवेदन करे। उन्होंने उसे अभय प्रदान किया।

उसने अपनी 'राम कथा' शुरू कर कहने लगा-

रात को मैं एक घर में चोरी करने के इरादे से घुसा। "मैं एक चोर हूँ।" (सोचिये एक चोर, एक राजा से उसके भरे दरबार में साहस पूर्वक यह कह रहा है कि मैं एक चोर हूँ।" आपके पास निर्भीकता पूर्वक किसी भी दरबार में, खुले आम, अपना अपराध स्वीकार करने का इतना साहस कदापि नहीं होगा।)

वह कहने लगा-

'उस घर में बहुत अंधेरा था। मुझे कुछ भी दिखाई नहीं पड़ रहा था। हाथ को हाथ नहीं सूझ रहा था! संभवतः वह घर किसी जुलाहे का था। उसने कपास पींजने के यंत्र को दरवाजे पर ही टाँग रखा था। अंधेरा था ही, मुझे वह यंत्र नहीं दिखाई दिया और वह यंत्र मेरी आँख में घुस गया। मेरी एक आँख फूट गई। उसकी ज्योति हमेशा-हमेशा के लिये चली गई है। अब मैं अत्यन्त मुसीबत में फँस गया हूँ।

मुझे यह चिन्ता सता रही है कि मेरे छोटे-छोटे, मासूम बच्चों का पालन पोषण, मैं मात्र अपनी इस एक आँख के सहारे किस प्रकार कर सकूँगा? कैसे मैं अपना पालन पोषण कर सकूँगा?

उस जुलाहे ने अपनी वस्तुएँ घर में व्यवस्थित रूप से नहीं रखीं। उसने मेरी आँख फोड़ दी है। महाराज की दुहाई है। आपसे मेरी विनम्र प्रार्थना है कि उसे दरबार में, इस न्यायालय में शीघ्र बुलाया जाये और लापरवाही के लिये सजा सुनाई जाये। उसे उचित दंड मिलने पर ही मुझे शांति प्राप्त होगी। आपका न्याय पूर्ण होगा।

राजा ने भी अत्यन्त धैर्यपूर्वक उसकी कहानी सुनी। पश्चात अपने एक कर्मचारी से कहा कि "शीघ्र ही उस दुष्ट जुलाहा को पकड़कर दरबार में हाजिर किया जाये।" वास्तव में यह अत्यन्त विचारणीय तथ्य है। अब बेचारा यह चोर किस प्रकार अपने परिवार का, बच्चों का, भरण पोषण करेगा, जब दुर्घटना में उसकी एक आँख खो गई है। वास्तव में इसके साथ, जिस प्रकार यह कह रहा है, अन्याय हुआ है। चोरी करने घर में घुसा। मिला कुछ नहीं, जुलाहे की अव्यवस्था के कारण आधा बिम्ब अन्धकारमय हो गया। क्या यह अन्याय नहीं है? इसका कार्य-काल भी रात्रि में ही है और जब एक आँख ही समाप्त हो गई हो, तब विचार कीजिये, कितनी विकट समस्या इसके जीवन में उत्पन्न

हो गई है। मेरे राज्य में किसी पर भी, भले ही कोई चोर ही क्यों न हो, मैं इतना बड़ा अन्याय नहीं होने दूंगा। क्या हो गया जो यह चोर है, है तो मेरे ही राज्य का! मैं उस लापरवाह जुलाहे को अवश्य ही कड़ी से कड़ी सजा दूंगा जिससे उसकी लापरवाही के कारण भविष्य में किसी चोर को ऐसी मुसीबत का सामना नहीं करना पड़े।

राजा के सिपाही भी फौरन ही उस जुलाहे को पकड़ कर ले आये! जुलाहा भी बेचारा क्या करता। उसे अपना सब काम-धंधा छोड़कर आना पड़ा ..... राजा की जो आज्ञा थी, आज्ञा का पालन करना पड़ा! बेचारा अत्यन्त सरल स्वभाव का, सीधा-सादा व्यक्ति था। उसने भी आते ही तुरन्त अपना अपराध स्वीकार कर लिया। - बोला

"महाराज वास्तव में उस दिन मुझसे बड़ी भूल हो गई। लापरवाही हो गई, इस क्षण मुझे जरा भी स्मरण नहीं आ रहा है मैं उस समय किस कार्य में व्यस्त रहा, जो मुझसे इतनी बड़ी गलती हो गई। मैंने धोखे में जल्दबाजी में अपना यंत्र, दरवाजे पर टाँग दिया। मुझे तनिक भी पता नहीं था कि कोई चोर इस ढंग से घर में, जहाँ कि सघन अंधेरा रहता है, रात को, घुप्प अंधेरे में, घुसने का दुस्साहस करेगा। अब मैं आपसे निवेदन करता हूँ कि, सरकार गलती तो सचमुच मुझसे हो ही गई है। इस बार मुझे क्षमा कर दिया जाये! आगे मैं आश्वासन देता हूँ, कि अत्यन्त सावधानी पूर्वक कार्य करूंगा ..... ऐसा नहीं होने दूंगा।

राजा ने कहा, - नहीं, ऐसे मामले में क्षमा से काम नहीं चल सकता! यदि मैं तुम्हें क्षमा करता हूँ तो यह न्याय नहीं होगा। न्याय में क्षमा का कोई स्थान नहीं होता। मेरी सम्पूर्ण प्रजा भी इसी तरह लापरवाह हो जायेगी। इस बात की मुझें चिन्ता है अतः मैं आज्ञा देता हूँ कि इस जुलाहे की भी एक आँख फोड़ दीजिए!

कितना निष्पक्ष, कितना सुन्दर न्याय था? सब दरबारी शान्त चित्त से देखते रहे, सुनते रहे।

न्याय सुनते ही जुलाहा विचलित हो गया। बोला— "स्वामी, मुझ पर दया की जाये। आप सोचिये कि धुनाई के समय मुझे अपनी इन दोनों आखों की कितनी आवश्यकता होती है। एक आँख रहने पर मैं कार्य किस प्रकार सम्पन्न कर सकुँगा। कार्य करते समय मुझे दाएँ-बाएँ दोनों ओर बारी-बारी से देखना आवश्यक होता है। यदि आपकी आज्ञा

के अनुसार यथार्थ में मेरी आँख फूट ही गई, तो मैं किसी भी प्रकार अपना कार्य नहीं कर सकूंगा। मेरा भरा-पूरा परिवार तबाह हो जायेगा। यदि आपकी आज्ञा हो तो मैं कुछ निवेदन करू— जिससे आपका न्याय भी पूर्ण हो जाये और मेरा परिवार भी तबाही से बच जाये।

राजा ने अत्यन्त ध्यानपूर्वक उसकी बात सुनी और कहा— अवश्य निवेदन करो। हम यथार्थ में न्याय चाहतें हैं ..... और कुछ भी नहीं। किसी के भी साथ अन्याय हो, हम कदापि सहन नहीं कर सकते। हमारा स्वभाव ही इसे कदापि सहन नहीं करेगा।

'सरकार मेरे पड़ौस में एक चमार रहता है। वह दिन-रात जूते सीता रहता है। एकाग्रता से काम करता है। कभी भी दाएँ-बाएँ नहीं देखता। उसका काम एक आँख से भी भली भाँति चल जाएगा। किसी की भी कोई हानि नहीं होगी न आपकी, न मेरी, न इस बेचारे चोर की, न सम्पूर्ण राज्य की ..... ओर इस प्रकार आपका न्याय भी पूर्ण हो सकेगा। ..... और आपके राज्य के निरीह परिवार भी तबाह होने से बच जायेंगे।

राजा को जुलाहे की यह बात, अत्यन्त युक्ति संगत प्रतीत हुई। वास्तव में जैसा उसने कहा था किसी का भी नुकसान न होते हुए भी न्याय सुरक्षित था। अतः शीघ्र ही उन्होंने दो सिपाही उस कथित चमार को बुलवाने के लिये भेज दिये। चमार को आना ही पड़ा ..... इसके पूर्व कि कुछ कहा जाय, उसकी कोई बात सुनी जाय, राजा ने अपनी आज्ञा सुना दी कि .....

'इसकी एक आँख तुरन्त फोड़ दी जाए' — और बस उसकी एक आँख फोड़ दी गई। राजा का न्याय पूर्ण हुआ। दरबार समाप्त हो गया और जुलाहा भी संतुष्ट हो, अपने घर चला गया। चमार को भी उसके घर भिजवा दिया गया। राजा ने उस पर कृपा की थी, बेचारा उस स्थिति में अकेला भला कैसे घर पहुँच सकता था?

मैनें देखा कि आप सब अत्यन्त ध्यान पूर्वक, दत्त-चित्त हो यह कहानी सुन रहे थे। संभव है कि आपको यह सरासर झूठी भी प्रतीत हुई हो, एकदम कपोल कल्पित लगी हो। ऐसा भी हो सकता है कि एकदम मूर्खता पूर्ण भी लगी हो। कुछ प्रेमी बन्धु मन में यह भी सोचते हों कि ऐसा तो कभी भी नहीं हो सकता। **''अंधेर नगरी चौपट राजा'' की कहानी हमने पढ़ी है, उसमें भी ऐसा अद्भुत, अनोखा, अनहोना न्याय हमने नहीं सुना। भला ऐसा भी कहीं न्याय हो सकता है?**

किन्तु बन्धुओं ..... मैं आपसे कहना चाहता हूँ कि यथार्थ में **इस प्रकार का अत्यन्त अविवेकी, अन्यायी, मूर्ख एवं पागल ''राजा'' हम सब में, भीतर बैठा हुआ है।** हम सब रोज यही कर रहे हैं ..... उसी राजा का, उसके सिद्धान्तों का अन्धानुकरण कर रहे हैं। जरा अपने अन्तःकरण के अन्दर एक बार झाँककर देखिये— **क्रोध का कारण आलम्बन, होता कोई है, उतरता वह किसी निरपराध पर है।** और हमारा क्रोध उतरने पर ही हमारा मूर्ख मन कुछ शांत होता है। अहं की, अहंकार की तुष्टि होती है। हम अपने न्याय की दुहाई देते है उसे पूर्ण हुआ समझते हैं।

कल्पना कीजिये कि मैं आपको, आपमें से किसी बन्धु को, सब के समक्ष अपशब्द कह दूँ ..... कोई भद्दी सी बात कह दूँ ..... गाली दे दूँ (यह कभी भी संभव तो नहीं है किन्तु एक क्षण के लिए मान लीजिये ..... और मान लेने में भला क्या आपत्ति हो सकती है।) तो आप मुझसे तो इन सबके समक्ष, समाज की, धर्म की, परम्परा की, मर्यादाओं का स्मरण करके प्रत्यक्ष में तो कुछ भी नहीं कहेंगे, मन मारकर कुसमुसाकर, वह सह लेंगे; किन्तु जब आपका अहं आहत होगा तो क्रोध अवश्य ही किसी न किसी पर तो बरसेगा ही। तब तक वह शांत नहीं होगा। कदापि नहीं होगा। धुँआ धुँधुता रहेगा। **भीतर ही भीतर एक प्रकार की अग्नि प्रज्ज्वलित होती ही रहेगी। जो आपको शांत बैठने नहीं देगी। उसे आप किसी 'निरीह' निरपराध पर अवश्य ही रिक्त करेंगें, तभी आपको शान्ति मिलेगी।** आपका घायल अहंकार ऐसे मौके की तलाश में रहेगा और किंचित मात्र कारण पाते ही, पूरी तरह गरज कर बरस पड़ेगा। न कहीं किसी को बादल ही दिखाई देंगे, न कहीं बिजली ही चमकेगी, मात्र घनघोर वर्षा सभी को अवश्य दिखाई देगी। बिन बादल ..... बिना उचित कारण, के वर्षा हो जायेगी। मेघ रिक्त हो जायेंगे। आपका विवेक जागृत नहीं होगा। आपके ध्यान में ही नहीं आयेगा कि आप यह सब क्या और क्यों कर रहे हैं।

कल्पना करे कि एक व्यक्ति किसी ऑफिस में, किसी कार्यालय में, कार्य करता है। उसका एक ऑफिसर है। वह सबके समक्ष, साथी कर्मचारियों के समक्ष अपशब्दों का प्रयोग कर देता है, उसकी Position खराब कर देता है ..... उसका ख्याल नहीं रखता तब

भला नौकरी का , पेट का, परिवार के पालन का बड़ा भारी सवाल प्रत्यक्ष उसके समक्ष होने पर, वह उस अधिकारी को प्रत्यक्ष में क्या कह सकता है? अधिकारी के समक्ष तो उसके अन्तःकरण में ज्वाला कितना भी क्यों न उबलता हो, वह शांत ही रहेगा। उसकी विवश-निरीहता उसे शान्त रहने के लिए मजबूर करेगी। वह अपने समस्त क्रोध को पी जायेगा। परन्तु क्रोध उठेगा तो अवश्य ही। **क्रोध के समक्ष सब बराबर होतें हैं। वह अत्यन्त निष्पक्ष होता है। उसके समक्ष न कोई छोटा है न बड़ा, न साहब है, न बाबू, वह यह भी नहीं देखता कि क्रोध व्यक्त करने का यह कोई उचित अवसर भी है या नहीं!** वह क्रोध से भीतर ही भीतर जलने लगेगा। परन्तु उक्त परिस्थितियाँ उस क्रोध को भीतर ही दबा देंगी। अब वह कर्मचारी शाम को अपने घर लौटता है, घर में, अपने परिवार में वह मुखिया है। सबसे बड़ा है। किसी भी ऑफिसर से क्या कम है! घर में पप्पी होगी, छोटा पप्पू होगा, पत्नी होगी-बस कोई छोटा सा कारण भर चाहिए, उबला हुआ सम्पूर्ण लावा बाहर निकल आयेगा। **वह उस समय यह नहीं सोचेगा कि उसका जो क्रोध है वह अंधा क्रोध है। उसके विवेक पर पर्दा पड़ा होगा। सत् और असत् की ओर उसका तनिक भी ध्यान नहीं होगा। अपनी कायरता को शूरवीरता समझेगा, अविवेक को ही न्याय समझेगा।**

और अपनी पत्नी को वह उसे चाहे गाली दे, उसका अपमान करे, चाहे उसे मारे या कुछ और भी करे.....वह तो बेचारी सब कुछ चुपचाप सहेगी ही। उसे बचपन से ही यह सिखाया जाता है कि पति तो परमेश्वर स्वरूप होता है अतः वह बेचारी अपने क्रोध को पी लेगी, उसे दबा लेगी किन्तु क्या उसके 'मन' नहीं है। यदि है, तो वह अवश्य ही भीतर ही भीतर सुलगती रहेगी। और वह भी अपने क्रोध को, अपने निरपराध पप्पू पर बच्चों पर ही उतारेगी। नौकर-नौकरानियों पर अपना क्रोध उतारेगी। बच्चे किस पर क्रोध उतारेगें?.......अपने खिलौनों पर, अपनी गुड़यों पर, जो नितान्त मूक हैं। अपने वस्त्र, जूते-मौजे, पुस्तकें, पेन, इन पर अपना क्रोध व्यक्त करेंगें। नौकर-नौकरानियाँ भी जोर-जोर से बर्तन मलेंगे, कपड़े छाटेंगें-पटकेंगें। इस प्रकार क्रोध उत्पन्न होता रहेगा - बढ़ता रहेगा।

आपने कभी इस बात पर विचार किया है कि- जिन घरों में बच्चे नहीं होते, उनमें पति-पत्नी आपस में ज्यादा लड़ते हैं। और घर में यदि बच्चे हों, तो लड़ाई के अवसर कम ही उत्पन्न होते हैं। इसका

एक कारण यह है कि उनके क्रोध का कुछ अंश इस दिशा से भी बह जाता है। बड़े परिवार में पति-पत्नि प्रायः मित्र बनकर रहतें हैं। बड़े संयुक्त परिवार में टकराने के अवसर भी कम ही प्राप्त होते हैं और यदि वे अकेले रह जाएँ, तो आपस में तू-तड़ाक होती ही रहती है।

हमने इस बात की ओर ध्यान नहीं दिया कि क्रोध का जन्म क्यों और कैसे होता है? जब हमारें अन्तरंग में उत्पन्न होने वाले विचारों के अनुकूल सामग्री नहीं मिलती, तब हमें सभी कुछ उन विचारों के प्रतिकूल नजर आता है। मन खिन्न सा हो उठता है। सभी गलत दिखाई देने लगता है। बुरे, प्रतिकारी, प्रतिशोधात्मक, अशोभनीय विचारों की धूल आत्मा में एकत्र होने चली जाती है। और वह क्रोध को बिखरने लगती है। निमित्त मात्र चाहिए, क्रोध एकाएक उबलकर बरस पड़ेगा। सुई से जो काम निकल सकता हो, उसकी जगह हम तलवार का उपयोग कर बैठते हैं।

बात यह होती है कि मन में उत्पन्न क्रोध का बोझ हम अधिक समय तक वहन नहीं कर सकते। वह हमें बैचेन कर ड़ालता है और अन्ततः स्वयं ही कहीं न कहीं, किसी न किसी पर, किसी भी रूप में उपशम होने का मार्ग खोज ही लेता है। परिणाम की उसे चिंता नहीं होती। आश्रय दाता को, सम्पूर्ण वातावरण को ही, कलंकित दूषित क्यों न होना पड़े, उसकी बला से। मजा यह है कि वह आपके अत्यन्त आत्मीय, अत्यन्त निकटवर्तियों को ही अधिक उलझन में ड़ालता है।

आप इसे जरा और सूक्ष्म दृष्टि से समझिये। क्योंकि अभी-अभी जो व्यक्ति आपको गाली दे रहा है, यदि आप उससे न भी मिले होते, तो भी.....आप विश्वास कीजिये, वह आप को अवश्य ही गाली देता। भले ही आप दोषी न हों, निमित्त अवश्य है, जिसके माध्यम से उस क्रोध से भरे हुए प्राणी ने अपने को रिक्त कर लिया.....भार मुक्त हो गया। प्रकृत्ति का यही शाश्वत नियम भी है। **बदली जब वाष्प से परिपूर्ण हो जाती है तब नियम पूर्वक उसे बरसना ही होता है भूमि या कोई स्थान निश्चत नहीं होता। यही हाल क्रोध से भरे हुए मानव का होता है।**

इस संदर्भ में एक और भी तथ्य समझने का प्रयत्न कीजियें — यदि आपको एक पागल व्यक्ति गाली दे, तो बुरा तो अवश्य ही लगेगा, किन्तु उतना बुरा नहीं लगेगा, जब कोई ऐसा व्यक्ति आपको गाली दे, जो पागल न हो......जिसके होश-हवास एकदम दुरूस्त हों। एक अबोध

बालक आपके प्रति अपशब्दों का प्रयोग करे तो उसकी भोली अबोधता पर आप हँस देंगे।......बुरा मानकर क्रोध नहीं करेंगें।

सारांश यह कि पागल एवं अबोध प्राणी की गाली उतनी प्रभावशील नहीं होती। कभी-कभी तो यह हमारे ध्यान में भी नहीं आता कि वह हमें गाली दे रहा है। कोस रहा है या अपशब्द कह रहा है। और यही कारण है कि मित्र एवं परिचितों के अपशब्द हमें अधिक कष्ट देते हैं।

अतः यदि आप वास्तव में आत्म तत्व की प्राप्ति के लिये जिज्ञासु हैं, तब आपको इस दृष्टि से अपने आप में परिवर्तन अवश्य ही लाना होगा। आप इस बात का अभ्यास करें कि कोई आपका आदर करे तो ठीक, आदर न करे, निरादर करे तब भी ठीक।

जो दे, उसका भी भला-जो न दे, उसका भी भला। दोनों स्थितियों में शांत, तटस्थ रहें......। आप यह सोचिए कि इससे मेरा कुछ भी, किसी प्रकार का लेना-देना नहीं है। यह तो मात्र कर्मों का खेल है, जिसका इस समय उदय हो रहा है। यह मात्र एक घटना है, जो इस समय घटित हो रही है। आप उसे साक्षी भाव से देखते जाइये......उसके प्रभाव को अपने से दूर ही रखिये।

जैसे किसी वृक्ष में स्वयमेव काँटे उगते हैं। वह उनका धर्म है। स्वभाव है, उनकी प्रकृति का नियम है। किन्तु हमें उन काँटो से भला क्या लेना-देना है? प्रकृति के स्वाभाविक नियम के अन्तर्गत यह सब घटित हो रहा है......होने दीजिए। मेरे उन पर नाराज़ होने पर-काँटा चुभने पर...... क्या उनका काँटे उगाना बन्द हो जायेगा? नहीं! फिर मैं नाहक क्यों नाराज होऊं? उन्हें अपना अनुशासन, अपना धर्म पालने दिया जाए। **मैं अपने धर्म का, नियम का, पालन करूं। स्वभाव से अत्यन्त शान्त रहूँ। साक्षी भाव से यह सब देखना.....समझना.....उससे अप्रभावित रहना ही मेरा मूल स्वभाव है। मैं अपने इस स्वभाव में बना रहूँ......यही मेरा कर्तव्य है।**

संसार में कितने ही काँटेदार वृक्ष हैं, झाड़ियाँ हैं। हम और आप अनेकों बार उनके समीप से गुजरते हैं, गुजरे होंगे......परन्तु क्या हम कभी भी यह सोचते हैं कि, ये काँटेदार वृक्ष या इनके काँटे, हमारे लिए ही लगा गए हैं? नहीं! हम ऐसा कभी नहीं सोचते। काँटों को उत्पन्न करना वृक्ष का अपना स्वभाव है, उसका धर्म है। इसी प्रकार जब आप

किसी सुवासित वृक्ष के समीप से गुजरते हैं, तब भी आप यह नहीं सोचते कि ये सब फूल केवल मेरे लिए ही खिले हैं। फूलों का खिलना, सुगन्धि फैलानाः- उनका अपना धर्म है, स्वभाव है। यह अव्याहत रूप से निरन्तर चालू रहता है।

भगवान महावीर कहते हैं, दूसरा क्या कर रहा है यह उतना महत्वपूर्ण नहीं है। यह उसकी अपनी बात है। उसके मुख से भगवान का गुणानुवाद न निकल कर गाली निकल रही है। आंखों से अपार स्नेह की जगह उद्दाम क्रोध टपक रहा है। यह सब उसके भीतर काँटा जो चुभा हुआ है, उसका प्रभाव है। उन कटु शब्दों से आपको कुछ भी लेना-देना नहीं है। अतः आपको परेशान होने का कोई कारण नहीं है। आप अपने स्वभाव को ऐसा बना लीजिये......ऐसा बनाने का यथा साध्य प्रयत्न कीजिये......करते रहिये। प्रयत्न करना अवश्य ही आपके हाथ में है। आप क्या कर रहे हैं, यही जीवन की महत्वपूर्ण घटना है। गाली का प्रत्युत्तर गाली कदापि नहीं है। "उलटत होत हजार" इसे सभी जानते हैं। अतः गाली का सही उत्तर है 'शांति'। उसे चुपचाप सुन लेना, सह लेना, पचा लेना। परन्तु हम देखते हैं कि होता प्रायः इसके विपरीत ही है।

यदि कोई हमें गाली देता है, हम पर क्रोध करता है, तब हमारा 'स्विच' भी एकदम ऑन हो जाता है। तब हम स्वयं ही भूल जाते हैं। स्वयं से, एकदम दूर हो जाते हैं। सम्पूर्ण ध्यान 'पर' की ओर, क्रोध करने वाले पर केन्द्रित कर लेते हैं। "वह गलत है और हम सही हैं"— इसी के चिंतन में अमूल्य समय नष्ट कर देते हैं।......और जब कुछ "पाने" का अवसर आ सकता है, तभी हम चूक जाते हैं। वास्तव में होना तो यही चाहिए कि उस समय हम आत्म निरीक्षण करें-भीतर खोज करें। हमें अर्न्तनिरीक्षण में, अन्तर्चिन्तन में, अन्तर्मन्थन में लीन हो जाना चाहिए।

ऐसे अवसर पर हमें इस प्रकार सोचना चाहिए कि— **क्रोध करने वाला यह व्यक्ति तो मेरा परम उपकार कर्त्ता है; अनन्त-अनन्त भवो के मेरे संचित मल को धोने आया हैं। यही तो कर्म निर्जरा का शुभ अवसर है।** क्रोध करना, गाली देना, यह तो आत्मा का स्वभाव नहीं हैं। यह तो मात्र पशु-वृत्ति है। मैं तो सच्चिदानन्द स्वरूप हूँ......परम मंगलमय हूँ......शान्त हूँ।

किन्तु यह जरूरी नहीं है कि आपके शान्ति धारण कर लेने से अगला व्यक्ति गाली देना बन्द कर दे, उसका अन्तर्मन बदल जावे......किन्तु यह निश्चित जानिये कि ऐसे अवसरों पर शान्त हो जाने से, आपके अन्दर आप एक अद्‌भुत परिवर्तन का अनुभव करेंगे। आपके अन्दर अनन्त युगों से बने हुए......बनते हुए घाव मिटने शुरू हो जाएँगें। क्योंकि अब आपकी यात्रा की दिशा बदल चुकी होगी......आपका अर्न्तजगत एक अपूर्व शान्त आलोक से प्रकाशित हो गया होगा।

यह भी स्मरण रखे कि आपको इस प्रकार शान्त देखकर लोग आपका अपमान भी कर सकते हैं। आपको और भी अधिक त्रस्त कर सकते हैं। आप क्रोधित मानव से जितना भी कम प्रभावित होंगे, वह खीजकर आप पर उतने ही अधिक, तीव्र प्रहार करेगा। भला अपशब्दों में मजा ही क्या यदि आप उनसे न तिल-मिलाएँ प्रभावित न हों? उसके पास आपको परास्त करने के जितने भी शस्त्र होंगे, वह उन सबका खुलकर प्रयोग करेगा। आप पर नाना प्रकार के लांछन लगायेगा, वजनदार शब्दों का अत्यन्त प्रभावशाली ढ़ंग से प्रयोग करेगा। आपकी दुखती रग को सबके समक्ष छोड़ेगा। आपका मौन उसके अहं को बुरी तरह झकझोरेगा और वह स्वभाव-वश् यह सब करने के लिये मजबूर होगा। वह येन-केन प्रकारेण, आपको अपने वश् में रखना चाहेगा। ''खिसियानी बिल्ली खम्भा नोचें'' इस कहावत् के आधार पर वह आपको नोचेगा, प्रहार भी करेगा। यह सब कुछ संभाव्य की सीमारेखा में होगा।

जब किसी परिवार में कोई व्यक्ति कम आयु में ही वैराग्य धारी हो जाता है तब परिवार के अन्य सदस्य, आस-पास के कुछ व्ययक्ति एवं समाज पर मानों एक अद्‌भुत संकट छा जाता है। वे ऐसा अनुभव करते हैं। उनके चेहरे पर व्यक्त होने वाले भावों से ऐसा प्रतीत होता है, मानों उन पर अकस्मात् बिजली गिर पड़ी हो। इस अनहोनी को, इस परिस्थिति को समझने के लिये वे अभी तैयार नहीं थे। उनके दुष्कृत्य, उनके समस्त पाप अन्दर ही अन्दर कुलबुलाने लगते हैं। वे अस्वस्थ हो उठते हैं। अन्तर्मन के किसी अछूते कोने में वे एक शर्म सी महसूस करने लगते हैं। सोचने लगते हैं......सोचने के लिये बाध्य हो जाते हैं कि **''यह 'प्राणी' इस बाल उम्र में, इस छोटी-सी, ना-समझी की**

उम्र में त्यागी, व्रती, संयमी बन रहा है। इसके लिए कृत संकल्प है। आश्चर्य है। इस कच्ची उम्र में इसका विवेक जाग गया है और हम सब अब भी सोये हुए हैं।''

इस चिन्तन से उसकी परेशानी काफी बढ़ जाती है। अब वह क्या करता है— येन-केन प्रकारेण अपनी कायरता को ढाँकने के लिये, उसका समर्थन करने के लिए, उस निरीह वैरागी पर आक्रमण करता है......अपनी सम्पूर्ण शक्ति, सम्पूर्ण प्रतिभा, से उसे सब ओर से कसना शुरू कर देता है। उससे कहता है, उसे समझाता है.....कि ''क्या रखा है इस बेमतलब की वीतरागता में? क्या सार है इस प्रकार साधु बनने में? यह सब ढ़ोंग है....एक नाटक है, भोली-भाली जनता को ठगने का! मात्र एक दिखावा है। अतः चेतो, अब भी कुछ नहीं हुआ है......वापिस आ जाओं। हमारी इस राग भरी दुनिया में, हम पापियों की महफिल में जहाँ पर सब सुख-सुविधाएँ सहज उपलब्ध हैं......अनन्त युगों से, जन्म-जन्मान्तरों से हम उन्हें भोगते चले आ रहे हैं और आगे भी अनन्त युगों तक इसे इसी प्रकार भोगते रहेंगे। स्वयं को इस प्रकार नाहक कष्ट देने में भला किसी को क्या लाभ है। किसका क्या हित है? अतः हमारी मान जाओ, तुम्हें यहाँ कोई कुछ नहीं कहेगा। यह पागलपन यदि छोड़ दोगे, तो हम सब तुम्हारा स्वागत ही करेंगे।

यदि इस चेतावनी से, इस प्रार्थना से, वह प्राणी नहीं चेतता है तब, रागी, मानव-धर्म की निन्दा करेगा। धर्म-गुरूओं की बुराई करेगा......स्वयं को निर्दोष सिद्ध करने का प्रयास करेगा। वह यह तीव्रता से महसूस करेगा कि एक साधु के उदय से समाज पर उसका नियंत्रण'' कम हो गया है, उसकी उपेक्षा होने लगी हैं। वह इस तथ्य को स्वीकार करने के लिये कदापि तैयार नहीं होता कि साधु वैरागी है, वीतरागी है और वह स्वयं योगी है......कामी है। अपनी कमी की अनुभूति से वह व्याकुल हो उठता है......अन्दर ही अन्दर अस्वस्थता का अनुभव करने लगता है और आप पूर्ण नियंत्रण रखने के लिए कृत संकल्प हो, प्रयत्नशील हो उठता है। उसकी प्रत्येक चेष्टा इस बात के लिये होती है, किस प्रकार, किस सम्भव, असम्भव उपाय से आप उसके नियंत्रण में आ सकें।

समझ रहे हैं न आप? वह यह सब क्यों करता है? गाली एवं क्रोध से भी अधिक पीड़ा 'उपेक्षा' में होती है। आप किसी की उपेक्षा कीजिए, वह तिलमिला उठेगा। उचित सम्मान मत कीजिए, प्रणाम मत कीजिये, निमन्त्रण पत्रिका मत भेजिये बस, वह उबल पड़ेगा। यह उपेक्षा

उसका घोर अपमान होगा।

क्रोधित मानव 'उपेक्षा' अपशब्द सुनना बेहतर समझता है।

संभव है कि आपने इस बात की ओर ध्यान दिया हो कि- **संतो को वैरागियों को, सर्वप्रथम क्रोधी, निन्दक, गाली देने वालों के बीच में, प्रखर कटु आलोचकों की जमात से गुजरना पड़ता है। जो शान्तचित्त हो, इस कठिन मार्ग से होता हुआ आगे बढ़ जाता है, वह अपनी खोई हुई आत्मा को प्राप्त कर लेता है।** और जो इन क्षुद्र निन्दाओं में, गालियों में उलझकर अटक जाता है, उसकी प्रगति समाप्त हो जाती है। लोग उसे हमेशा के लिए त्याग देते हैं। उसके सन्मान में शुभ कल्याण की भावना से अपने हृदय कपाट नहीं खोलते। उसे भुलाने में ही अपना सर्वोपरि हित समझतें हैं। क्योंकि अब वह भी उन्हीं जैसा एक बन गया है...... उसमें और उनमें कोई अन्तर नहीं रह गया है। उसकी सम्पूर्ण विशेषताएं समाप्त हो चुकी हैं।

आपने शायद कभी प्रकृति की इस विशेषता पर ध्यान दिया होगा--- कि जब रात्रि का अवसान होता है, भोर का उदय समीप होता है तब कुछ समय पूर्व अन्धकार अत्यन्त गहन हो उठता है। रात्रि सोचती है कि अब मेरा नियन्त्रण समाप्त होने जा रहा है और वह दुःख से व्याकुल हो और भी श्यामल हो उठती है। उदित होने वाला सूर्य भी इसे साक्षी भाव से देखता है परन्तु निस्पृह भाव से, अप्रभावित रूप से वह अपना कार्य करता है।

वितरागी पर विपत्तियाँ आना अत्यन्त स्वाभाविक ही है। विपत्तियाँ तो उसकी परिक्षा की घड़ियाँ है। इन समस्त परीक्षाओं में उसे सन्मान पूर्वक उत्तीर्ण होना ही है। विपत्तियों से बिना उलझे उसे उनसे पार होना है। पार होने पर ही आत्म-दर्शन सम्भव हैं।

कोई भी समझदार श्रोता मन ही मन यह पूछ सकता है कि क्या आपने भी सन्यास लेने के पूर्व कभी क्रोध नहीं किया......? क्रोध से वशीभूत नहीं हुए? उसे अपनी जंघा पर लिटाकर प्रेम के गीत, मधुर लोरियाँ नहीं सुनाई? क्या कभी किसी निरीह पर क्रोध करने में गौरव का अनुभव नहीं किया? उसे अपना स्वाभिमान नहीं समझा? क्या आप भी वीतरागियों को देखकर अपने जीवन में कभी उद्विग्न नहीं हुए? उनके प्रति अपनी मिथ्या धारणाओं की पुष्टि नहीं की? मन ही मन उनका विरोध करके,

उपहास नहीं किया? इन सब प्रश्नों का सही उत्तर है— हाँ हमने यह सब अवश्य किया है। आज वे ही हमारे समक्ष प्रत्यक्ष हो रहे हैं। हमारे स्वयं के कर्म हैं .....किसी अन्य के नहीं।

अब आप कुछ समय के लिए शान्त चित्त से अपने विगत जीवन की गहराई में उतरिये। उसका बारीकी से निरीक्षण कीजिए.....थोड़ा आत्म परीक्षण कीजिये! आप अवश्य ही पायेंगे की कभी-कभी आप क्रोध की तीव्रता से उबले हैं। कभी किसी अन्तरंग मित्र ने, कभी परिवार के किसी व्यक्ति ने, कभी राहगीर ने, कभी किसी साधारण जन ने आपकी अपेक्षा के विरूद्ध आपसे कुछ कह दिया है। उससे आपकी दो-दो बातें हो गई हैं आप उस क्षण उसे किसी प्रकार निरुत्तर नहीं कर पाये। आपने उनके समक्ष स्वयं को बुरी तरह से पराजित पाया और परिणाम स्वरूप तिलमिला उठे। क्रोध से भीतर ही भीतर खौलने लगे। कर्म योग से उसी समय कोई छोटा, निरीह बालक या पप्पू जो आपके समक्ष, नित्य की भाँति, अपने अलौने-सलौने, खिलौनों से खेल रहा था बस बिना किसी कारण के आपने उत्तेजित हो उसे डाँटना शुरू कर दिया - 'बंद करो यह खेल।' जब देखो तब खेल.....खेल.....खेल। यह भी कोई वक्त है खेलने का। कोई पढ़ाई-लिखाई नहीं करनी है.....?

कल भी इसी प्रकार पप्पू खेल रहा था। आप प्रसन्नचित्त थे.....उसे खेलता हुआ देख रहे थे। संभवतः उसके खेल में, खिलौने में आपने रस भी प्राप्त किया था और जब आज भी जब वहीं, बिल्कुल वहीं, सब कुछ वैसा ही हो रहा है, तब आप अचानक उस बच्चे पर अकारण ही क्रोधित हो रहे हैं। उस बालक एवं उन खिलौने के माध्यम से कोई नई घटना नहीं घटी थी, न ही घटने की कोई संभावना थी, किन्तु अपमान, अवज्ञा, तिरस्कार के कारण आपके अहं को ठेस लगी थी और आपके अन्दर ही कुछ घटित हो रहा था।

कल तक......कल तक क्यों; अभी इसी क्षण के कुछ समय पूर्व तक आपको उसी पप्पू का खेलना, उसका मुस्कराना, उसकी बाल-सुलभ चपलता, सभी कुछ अच्छा लग रहा था। उन सब से आपको अपूर्व आनन्द भी प्राप्त हो रहा था। उसका हल्ला-गुल्ला, किलकारियाँ, मस्ती, इठलाना, रूठना-मचलना, ठुनकना सभी कुछ आनन्द प्रदायक था। आपके मधुर जीवन का एक अभिन्न अंग था। किन्तु उस समय उसकी बाल-सुलभ क्रियाएँ आपको सुखद नहीं लग रही है और वह निरीह, भोला बालक

आपके क्रोध का भागीदार बन रहा है आपके क्रोध की सम्पूर्ण वाष्प उस दिशा से प्रवाहित हो रही है। आप स्वयं अत्यन्त अस्वस्थ, परेशान तो हैं ही, आपका क्रोध उसे भी परेशानी में डाल रहा है......जबकि आपके क्रोध का उससे नाम मात्र के लिये भी कोई सम्वन्ध नहीं है। क्या इस चिन्तन से आप किसी अपूर्व विचित्रता का अनुभव नहीं कर रहे हैं? अपने को दोषी नहीं पा रहे हैं?

बच्चे, अत्यन्त भोले होते हैं। आपके इस अकस्मात, अकारण क्रोधित होने की भाव भूमि को वे जरा भी नहीं समझ पाते है। उस क्षण में तो वे अपने प्रिय खिलौनो में ही जीते है। दूसरों से उनका कोई भी सम्बन्ध स्थापित ही नहीं हो पाता।

इसके पूर्व भी इसी स्थिति को मैं स्पष्ट रूप से निवेदन कर चुका हूँ कि यदि आवेशपूर्ण क्षणों में पप्पू या आपके समक्ष न आ पावे, दुर्भाग्यवश आपकी पत्नी आपके समक्ष आ जावे.....बस आप उस पर बरस पड़ते है। आप किसी पर भी, कमजोर प्राणी पर बरस पड़ते है, निर्जीव वस्तुओं पर अपना क्रोध उतारते है। क्योंकि बरसना आवश्यक ही है। **बादल.....जल से भरे हुए मेघ शीतलता प्राप्त करके, पृथ्वी की गुरूत्वाकर्षण शक्ति से बरसते है। परन्तु क्रोध के बरसने की स्थिति इसके विपरीत होती है। बरसने का कोई कारण नहीं होता। है न विचित्र बात!**

उस समय यदि आप कोई पुस्तक, कोई अखबार पढ़ रहे हों, आप उसे पटक देंगे, फेंक देंगे और कोई आश्चर्य नहीं, कि फाड़ भी ड़ालें। वस्तुओं का तोड़ना-फोड़ना-फेंकना आपकी दृष्टि में बेमानी होगा। इतना ही नहीं, पटकने से भी जब आप को कोई राहत, कोई शांति न प्राप्त होगी, तब आपके श्री मुख से गालियों का तीखा झरना भी फूट पड़ेगा।

इसी प्रकार आपने प्रायः देखा होगा कि जब घर में स्त्रियाँ किसी कारणवश् नाराज हो जातीं हैं तब उनका गुस्सा प्रायः निरीह बर्तनों पर उतरता है। शायद वे मन ही मन यह भी सोचतीं होंगी कि **'उनका'** सिर टूटे इससे तो बेहतर है कि प्लेट, ग्लास, टूट जाएँ - थालियाँ झनझना जाएँ। यह उन्हें अपेक्षाकृत सरल सस्ता और व्यावहारिक प्रतीत होता है। क्रोध में भी कितनी दूर दर्शिता होती है, उनसे आप भी इसी प्रकार की दूर-दर्शिता से ही सदा काम लेते हैं। यदा-कदा उस पर हाथ तो छोड़ बैठते है, उसे कभी भी नहीं छोड़ते। छोड़ने की सोचते भी नहीं। यह

भी दूर-दर्शिता ही है।

आज आप अखबारों में अनेको दुर्घटनाओं की वार्ताएँ पढ़ते हैं। उनमें से अनेकों दुर्घटनाएँ क्रोध के परिणाम स्वरूप ही होती है। क्रोध में गाड़ी का 'एक्सीलेटर' गाड़ी को आवश्यकता से अधिक गति प्रदान करता है एवं परिणाम स्वरूप दुर्घटनाएँ घटित हो जातीं हैं। आपको संभवतः यह सुनकर आश्चर्य होगा कि युद्ध में, दंगों में, इतने लोग नहीं मरते, उतने क्रोध के परिणामस्वरूप मर जाते है। युद्ध में मरने वालों की अपेक्षा सड़कों पर मरने वालों की संख्या कहीं अधिक हो सकती है। अब आप ही स्वयं अनुमान लगा लीजिये कि क्रोध में मानव कितनी हत्याएँ करता है।

आप अपने मन से पूछीये कि क्रोध करने में आपको क्या मिलता है? कौन सा सुख, कौनसा अपूर्व आनन्द प्राप्त होता है। और यदि वास्तव में आनन्द प्राप्त होता है, तो सर्वदा क्रोध की स्थिति में उस आनन्द प्राप्ति की स्थिति में, क्यों नहीं बने रहते? क्रोध के उपरान्त आप भले ही अनुभव करते होंगे कि आपका भारीपन, शिराओं का तनाव, समाप्त हो गया है, परन्तु आप हृदय का बोझ मात्र हमेशा के लिए बढ़ा लेते हैं।

भगवान महावीर कहते है कि क्रोध किसी भी रूप में, किसी भी प्रकार का अच्छा नहीं होता। इसीलिये उन्होंने कषायों को पच्चीस भागों में विभक्त कर दिया है। इनमें सोलह प्रकार के कषायों को विशेष कषायों के अन्तर्गत रखा गया है।

कौन-सी कषाय क्या करती है, उसकी शक्ति क्या है- सम्यक दर्शन में कौन सी बाधक है- इसे भी समझ लेना नितान्त आवश्यक है।

आचार्यों ने सर्वप्रथम अनन्तानुबन्धी कषाय क्रोध, मान, माया और लोभ को रखा है जो सम्यक दर्शन को उत्पन्न होने ही नहीं देती। इस कषाय के अभाव में सम्यक्त्व आचरण चरित्र की प्राप्ति होती है। इसे **आचार्यों ने द्विमुखी कहकर सम्बोधित किया है**। यह सम्यक्त्व आचरण चारित्र एवं सम्यक दर्शन का घात करती है। अनन्तानुबन्धी कषाय पत्थर पर खीची गई रेखा के समान होती है जिसकी बांधते वक्त पसीना नहीं बहाना पड़ता, परन्तु इसका फल भोगते वक्त अवश्य ही पसीना आ जाता है।

दूसरे नम्बर पर रखा है अप्रत्याखान कषाय को, जो देश चारित्र का घात करती है। अणुव्रत आदि को नहीं लेने देती। यह भी जमीन पर खींची गई हल की रेखा के समान है। यह अपना प्रभाव अधिक से अधिक छः माह तक दिखा सकती है। इस कषाय के सद्भाव में सम्यक दर्शन तो रह सकता है, किन्तु दशे चरित्र भी नहीं हो सकता।

तीसरे क्रम पर रखा है प्रत्याख्यान कषाय को जो कि सकल चरित्र को नहीं लेने देती। यह भी धूली-रेखा के समान होती है। यह अधिक से अधिक पन्द्रह दिनों तक अपना प्रभाव दिखा सकती है।

चौथे क्रम में संज्वलन कषाय को रखा है। यह यथा ख्यात चारित्र का घात करती है। यह जल में खींची गई रेखा के समान है। यह अधिक से अधिक अन्तर्मुहूर्त तक रह सकती है। आत्मा की अनुभूति इसी कषाय के मन्दोदय में होती है। अन्य कषायों के उदय में आत्मा के दर्शन संभव नहीं है किन्तु आत्मा का श्रद्धान संभव है। इसीलिए संज्वलन कषाय को सम्यक कषाय कहा हैं क्योंकि आत्मानुभूति में यह बाधक नहीं हैं।

इनमें सबसे अधिक बाधक अनन्तानुबन्धी कषाय है। इसी कषाय के सद्भाव के कारण जीवन वास्तविक क्षमा का प्रवेश इसी कषाय की अनुपस्थिति में होता है। क्षमा आत्मा का मूल स्वभाव है। फिर भी मानव अपने स्वभाव से विस्मृत हो चुका है। यही कारण है कि वह अनन्त काल से भव-भव में भ्रमण कर रहा है। चौरासी लाख योनियों की गुलामी कर रहा है। इसी कषाय के सद्भाव में गुलामी और परतन्त्रता की दीवार खड़ी होती है।

यह जीव कारण-अकारण ही संसार के भौतिक कोलाहल में फँसकर क्रोध, मान, माया, लोभ के निरन्तर चक्र में फँसता रहता है। इस कषाय के उदय में ये समस्त अद्भुत परिणाम होते रहतें हैं। इन्हें औदायिक भावों के अन्तर्गत रखा है। इसकी लेश्या भी अद्भुत होती है। नितान्त अशुभ परिणामदायिनी होती है। **इसके कारण से इस लोक में, परलोक में, धर्म में - समस्त क्षेत्रों में यह जीव को निरन्तर पतन की ओर ही ले जाने वाली होती है। यह अनन्त संसार का कारण है।**

एक स्थान पर वादिवृषभ आचार्य ने लिखा है- कि शासक के

शासन में, तपस्वी की तपश्चर्या में किन्चित मात्र भी क्रोध का प्रमाद यदि उत्पन्न हो जाता है, तो वह क्रोध दोनों का शासक एवं तपस्वी का अधःपतन कर देता है। **क्रोध की दृष्टि में शासक अथवा तपस्वी में कोई अन्तर नहीं हैं। दोनों समान हैं।**

अतः हमें निरन्तर अशुभ से बचना चाहिए। अशुभ से बचने के लिये हमें सर्वप्रथम अनन्तानुबन्धी कषाय पर, प्रयास पूर्वक, विजय प्राप्त करनी होगी। क्रोध को निरस्त करना होगा। उसको निःशेष करना होगा। इसका तिल तुष मात्र अंश भी अत्यन्त परिणाम कारी, अत्यन्त घातक है। अतः इस पर विजय प्राप्त करके अपनी 'क्षमा' को जागृत करना होगा।

प्रत्येक आत्मा के पास क्षमा धरोहर के रूप में विद्यमान है। यह ऐसी धरोहर है कि मन चाही खर्च करो, नित्य उपयोग करो......दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ती ही जाती है। इसके प्रयोग से चेहरा एक अद्भुत, अपूर्व दीप्ति से जगमगाने लगता है। उस पर एक अपूर्व आभा, की अपूर्व कान्ति दिखाई देने लगती है। उसे आप चाहें तो आत्मा का शान्ति प्रदायक प्रकाश मान सकते हैं।

यह किसी प्राणी में अपने पूर्ण रूप से व्यक्त है, किसी में आंशिक रूप से व्यक्त है। किसी की क्षमा सम्यक है, किसी की मिथ्या है। वैसे तो व्यावहारिक क्षेत्र में हम अनेकों को नित्य क्षमा करते हैं। क्षमा प्रदायक बनते हैं। स्कूल-कालेज-व्यवसायों के समस्त प्रतिष्ठान इन सब में क्षमा का अत्यन्त तीव्र प्रचलन है जो अभी-अभी सम्पूर्ण शक्ति से लड़ रहे थे और कुछ क्षण पश्चात सर्वत्र शान्ति हो जाती है और क्षमा का आदान-प्रदान होता दिखाई देने लगता है। ऐसे अवसरों पर कभी-कभी ऐसा प्रतीत होता है मानों धर्मात्माओं की अपेक्षा इन लोगों के पास क्षमा का बाहुल्य है......विपुल भण्डार है। परन्तु ध्यान रहे 'उत्तम क्षमा' को अभी हमने सहीं रूप से समझा ही नहीं है। उसे सही माने में अपनाया ही नहीं है। **इसे अपने जीवन में उतारा ही नहीं है। इसीलिये तो नर-नारकादि पर्यायों में परिभ्रमण इतने सुचारू रूप से चल रहा है।**

जीवन में एक बार भी यदि हमारा उत्तम क्षमा से साक्षात्कार हो जाए, तो फिर हमें जन्म और मरण का दुःख कभी भी व्याप्त नहीं होगा। जीवन में सर्वत्र अपूर्व शान्ति परिलक्षित होगी। परन्तु जब तक अन्तःकरण में क्षमा का, उत्तम क्षमा का प्रवेश, उसका वास नहीं होगा— यह जन्म मरण का दुःख निरन्तर सॉये की भाँति हमारे साथ चलता ही रहेगा।

आने-जाने वाली, क्षमा, - क्षमा नहीं होती। **उत्तम क्षमा जो एक बार जीवन में प्रवेश कर लेती है, फिर वह कभी जाती नहीं है। उसकी उपलब्धि के उपरान्त उससे वियोग नहीं होता। यहीं यथार्थ में उत्तम क्षमा का वास्तविक स्वरूप है।**

दैनिक जीवन में, व्यावहारिक जगत में 'क्षमा' का अत्यधिक महत्व है। प्रत्येक क्षेत्र में क्षमा अपना प्रभावशाली कार्य करती हुई दिखाई देती है।

हम चौराहों पर, बड़े शहरों में लाल एवं हरे प्रकाश पुंज देखते है। अपघातों से सतर्क-सावधान करने वाले सूचना फलकों को देखतें हैं। और यह भी देखते हैं कि यदि फिर दुर्घटनाएँ हो जातीं हैं, तब कुशल चिकित्सक उन्हें सुधार देता है। हमें चलने-फिरने की, कार्य-संचालन की यथा सम्भव कुशलता प्रदान कर देता है। किन्तु आत्मा की क्षति को, दुर्घटना को क्षमा धर्म के माध्यम से ही दूर किया जा सकता है। मानव मन में, भीतर ही भीतर अनेको दुर्घटनाएँ प्रतिक्षण घटतीं ही रहतीं हैं। नाना-प्रकार के संकल्प विकल्प, शुभ-अशुभ कषाय परिणामों के भयंकर वेग-गामी 'ट्रक' प्रत्येक समय चलते ही रहते हैं। वे बिना किसी प्रकार के ब्रेक के निरन्तर घूमते रहते हैं। इसके फलस्वरूप दैविक दुर्घटनाएँ, अर्थात् कर्मो का आस्रव निरन्तर होता ही रहता है। इन दुर्घटनाओं से बचने के लिये क्षमा का 'ब्रेक' ही सफल सिद्ध हो सकता है। जिसने अपने अन्तरंग में किंचित मात्र भी क्षमा धर्म को स्थान दिया है, वह प्राणी अपनी गाड़ी को विषय परिस्थितियों में भी, क्षमा का प्रभावशाली ब्रेक लगाकर निकाल ही लेता है। बिना ब्रेक की वेगवान स्वयं तो नष्ट होती है, साथ ही उसमें बैठी हुई सब सवारियों को भी ले डूबती है। इसीलिये हमें अपने जीवन में निरन्तर उत्तम क्षमा धर्म का आँचल थामें रहना चाहिए।

यदि आप धर्म में प्रवेश करना चाहते हैं, अध्यात्म में प्रवेश करना चाहते हैं, तो उसके लिये सर्वप्रथम एक शर्त है कि आपके हाथों में क्षमा का टिकट अवश्य हो। बिना क्षमा के इस क्षेत्र में प्रवेश सम्भव नहीं है।

आत्मानुशासनकार ने कहा है—

हृदय सरसि पावन्निर्मले ऽप्यत्गाधे,
वसति खलु कषाय ग्राह चक्रं समान्त.त्।

क्षयति गुणगणोऽयं तत्र तावद्वि शंक,
संयम शम विशेषैस्तान, विजेतुं यतस्व।।

जिस सरोवर में भयानक, विशाल, क्रूर कर्मा मगर मच्छ हों, उस सरोवर में भला मछलियां शाँति से, निर्द्वन्द्व होकर कैसे विचरण कर सकतीं हैं? बस ठीक इसी प्रकार जब, आत्मा में भी कषाय रूपी मगर मच्छ, शुभ-अशुभ, संकल्प-विकल्प, राग-द्वेष रूपी परिणामों के खेल खेलता रहेगा - **आत्म-सरोवर** में गंदगी की कल्लोलों को जन्म देता रहेगा, तब तक आत्मा के अन्दर क्षमा रूपी मछली अर्थात् आत्म-शांति का रहना कदापि सम्भव नहीं है। आत्म-दर्शन के लिए, संकल्प-विकल्प की समूल समाप्ति उनका निर्विशेष होना, समस्त कषायों का उपशम-क्षयोपशम-क्षय होना नितान्त अपरिहार्य रूप से आवश्यक है। स्तब्ध, शान्त सरोवर में ही पूर्ण चन्द्र बिम्ब दिखाई देता है- मानव अपना स्वरूप, अपना चेहरा, इस प्रकार, इतनी स्वच्छता से देख सकता है, मानो किसी निर्मल दर्पण में देख रहा हो। **तरंग कम्पित जल में भला स्पष्ट चेहरा कैसे दिखाई दे सकता है? क्या यह कभी भी संभव है?**

ऐलाचार्य श्री विद्यानन्दजी ने 'क्षमा' के विषय में अत्यन्त सुन्दर वर्णन किया है। वे कहते हैं कि—

'क्षमा' की चर्चा करना अत्यन्त मधुर है......बड़ा आनन्द प्राप्त होता है, इस प्रकार की चर्चा करने में, किन्तु अनुभव मात्र अत्यन्त कटु ही प्राप्त होते है। क्षमा का प्रबल विरोधी है, क्रोध। 'क्ष' का अर्थ है, आत्मा में अवस्थित समस्त अवगुणों का क्षय करना। 'मा', यह रक्षक होती है। 'क्ष' के पश्चात 'मा' का प्रयोग करने से अभिप्राय है— 'क्षय' से 'रक्षा' करने वाला।

जैसे माँ अपने बेटे को दूध पिलाकर उसे पुष्ट करती है, उसको निरन्तर क्षमा करती है, इसी प्रकार आत्मा का यदि कोई रक्षक है, उसमें स्थित सद्गुणों का कोई रक्षक है, तो वह है- 'क्षमा'। क्षमा भाव ही हमारी आत्मा का रक्षक है। उसे पतन के गर्त में जाने से बचाती है।''

चैतन्य स्वभाव का अवलोकन करने वाला, उत्तम क्षमाधर्म को हृदय में नित्य धारण करने वाला कोई वीतरागी, ज्ञानी, मुनि ही हो सकता है। उन्हीं के हृदयों में 'उत्तम क्षमा' के दर्शन होते है। इसका एक मात्र

यही कारण होता है कि, उनके पास राग-द्वेष का नितान्त अभाव होता है। न तो वे इष्ट से राग करते है न अनिष्ट से, उन्हें किसी प्रकार का द्वेष ही होता है। उनके पास मात्र 'समता' का भाव रहता है।

वीतरागी मुनि तो अपने ही द्रव्य से क्षमा माँगतें हैं। वे बार-बार इसी प्रकार के चिन्तन में, मनन में लीन रहतें हैं कि— मैंने अनन्तकाल से, अनादि काल से अनन्त प्रकार के अनर्थ किये हैं। क्रोध के प्रभाव में आकर अपने परमात्मा तक को विस्मृत किए रहा-समस्त कषायों के अनिष्टकारी प्रभावों के फल स्वरूप उसकी छबि को निरन्तर धूमिल किये जा रहा है। इससे बड़ा अनर्थ और अन्याय और क्या हो सकता है? अपने परमात्मा को कैद में, गुलामी के बन्धन में रखकर, स्वयं, पर की गुलामी करना......? मैने स्वयं अपने परमात्मा की आज तक घोर उपेक्षा की है, उसका अपमान किया है, आज तक उसकी कोई खबर तक नहीं ली! अब मैं अनन्य भावना पूर्वक, भक्ति पूर्वक उसकी सेवा करूँगा। उसे चैतन्य करूंगा, इसी में मेरा कल्याण है, मेरा अपना हित है।

क्रोध, मान, माया, लोभ ये तो मेरे जन्म-जन्म के शत्रु रहें हैं। इन्हीं चतुर शत्रुओं ने ही तो मेरे परम पावन परमात्मा को कैद कर लिया है। उसे कैद करके ही तो उसने मुझे अपना दास बना लिया है। किन्तु अब मैं निश्चय पूर्वक, अत्यन्त दृढ़ संकल्प पूर्वक इन सब अशुभ परिणामकारी भावों का त्याग करता हूँ।

मानव प्राणी जन्म के साथ ही कषायों को लाता है-उनके जटिल बन्धनों में फंसा रहता है। उन्हीं के बीच में रहकर अपना जीवन यापन करता है। कषायों के बीच जन्म लेना, उनके साथ पैदा होना, यह मानव का दुर्भाग्य नहीं है। उसका तो दुर्भाग्य तब है जब वह इन समस्त कषायों को अग्नि में सतत जलता, रहकर अपनी जीवन लीला को समाप्त कर देता हैं और मृत्यु के साथ ही साथ इन कषायों को भी ले जाता है। जो प्राणी मृत्यु के पूर्व ही इन समस्त कषायों पर विजय प्राप्त कर लेते हैं, वे ही मात्र इस जगत में यथार्थ में सौभाग्यशाली प्राणी है-वे ही अजर और अमर है।

कषायों की धधकती ज्वाला के कारण मानव प्रभु होने की पात्रता नहीं प्राप्त कर सका। क्रोध के कारण, जन्म-जन्मान्तरों से उसका समस्त जीवन उपेक्षित है। इसी उपेक्षा के फल स्वरूप ही वह दुःखित है। उपेक्षा अत्यन्त दुःखदायी होती है, मैं पहिले ही निवेदन कर चुका हूँ!

अब आप इसे भली-भाँति समझ लीजिये कि मात्र क्रोध करके ही हम अपने इस बहुमूल्य जीवन को मिटा रहें हैं। हम व्यर्थ ही जी रहे हैं। इस पृथ्वी पर हम केवल भार स्वरूप है......एक दुर्बह बोझ है। हमारे जीवन में हमें कुछ भी सार प्रतीत नहीं हो रहा है। मात्र हम जीये जा रहे हैं। कषाय हमारें जीवन की एक, हमसे कभी भी भिन्न न होने वाली एक सम्पदा बन गई है। जीवन का बहुमूल्य अंग बन गई है। **और जिन्होंने इसे अपने जीवन का एक अभिन्न अंश, मान लिया है, आज वे ही प्राणी, अत्यधिक दुःखी, चिन्तित हैं। उनका जीवन उन्हीं के लिये भार स्वरूप हो गया है।**

क्षमा हमें, क्षुद्र चिन्तन से, तुच्छ बातों से प्राप्त नहीं होती। उसे पाने के लिये जीवन में परम श्रेष्ठ आचरण प्राप्त करना नितान्त आवश्यक है। जब मानव परमश्रेष्ठ धर्म से भर जाता है, तब उसका जीवन एक सुन्दर पुष्प के समान खिल उठता है। एक अपूर्व सुरभि से परिपूरित हो वह आन्दोलित हो उठता है। परन्तु इसके विपरीत यदि वह क्रोधाभिभूत हो उठता है तो उसकी जीवन की बगिया पूर्ण रूपेण भस्मीभूत हो जाती है उसके जीवन में गंदी नालियों की, दुर्गन्ध से युक्त डबरे बहने लगतें हैं-उसके जीवन के साथ ही साथ वे उसकें सम्पर्क में आने वाले समस्त प्राणियों के जीवन को अत्यन्त दूषित एवं कटु बना देता हैं।

जो मात्र क्रोध को ही सर्वोपरि समझ लेतें हैं, वे स्वयं उसमें जलकर भस्म हुए बिना नहीं रहते। क्रोध स्वयं उन्हीं का अनिष्ट करता है।

"क्रोध एक अग्नि के समान है। यह मात्र जलने और जलाने का ही कार्य करता है। इसके उपरान्त मात्र पीड़ा और वेदना का ही जन्म होता है और **क्षमा एक शीतल जल के समान है। इसमें जीवन का अनन्त आनन्द छिपा हुआ है। क्रोध किसी को जीवन में कोई गौरव प्रदान नहीं करता।**

आत्मिक विकास में क्रोध सर्वाधिक बाधक तत्व है। अनन्तानुबंधी क्रोध तो सदैव ही मिथ्यात्व की ओर ही ले जाने वाला होता है। आत्मा के गुणों का विकास, मात्र उत्तम क्षमा पर भी निर्भर होता है। क्षमा का अर्थ है क्रोध का अभाव। क्षमा शास्त्रों के अध्ययन से, कहीं बाहर से प्राप्त नहीं होती। इसके लिये संतो की संगति उनकी कृपा नितान्त आवश्यक है। इसे स्वयं प्रयास पूर्वक अपनी आत्मा में हमें जागृत करना होता है। घास-फूस स्वयमेव बिना प्रयास के ऊग जाते हैं। सुन्दर सुगन्धि प्रदान

करने वाले पौधों को प्रयासपूर्वक ही पाला-पोसा जाता है। वही सम्पूर्ण प्रक्रिया इस क्षेत्र में भी सिद्ध करनी होती है।

शास्त्र तो मात्र साधन है। बाह्य शत्रुओं पर विजय प्राप्त करना एक बार आसान है, अन्तरंग, घर के भेदी शत्रुओं पर विजय पाने के लिए अपूर्व पुरूषार्थ आवश्यक है।

भगवान महावीर कहते हैं कि जब आप अपने प्रति किसी के क्रोध को पसन्द नहीं करते, तब भला दूसरों पर क्रोधित क्यों होते हैं? सूखी घास पर अग्नि की चिनगारी गिरने से समस्त घास जल जाती है, और एक समय लपटों से युक्त धधकती हुई प्रचण्ड अग्नि भी, राख में परिवर्तित हो जाती है; परन्तु वही अग्नि हरी घास पर गिरती है, तो थोड़ी देर के बाद स्वयं बुझ जाती है। इसी प्रकार हम सब भी यदि क्षमा रूपी घास से सदा हरे बने रहें तो बाहरी अग्नि हमें कभी भी जलाकर भस्मीभूत नहीं कर पायेगी, बाहरी अग्नि हमें तभी जलाने में सक्षम है, जब हम क्षमा के अभाव में, क्रोधाग्नि में, भीतर ही भीतर झुलस कर, सूखी घास के समान हो गये, रहते हैं। जब हम शान्त रहते हैं, तब अगला व्यक्ति क्रोध करते-करते थक जाता है, हार जाता है और ......स्वयं ही बुझ जाता है।

क्रोध में सबसे बड़ी विनाशात्मक शक्ति है। यदि आपको अपने जीवन में कभी यह दिखाई पड़ जाये कि जीवन की सम्पूर्ण कथा को क्रोध ने समाप्त कर दिया है, जीवन के तमाम आनन्द क्रोध ने लूट लिये है, इस क्रोध के कारण मात्र आपका पतन ही हुआ है, इसकी संगति में मात्र गिरना ही नसीब रहा है, मिटना और बिखरना ही है तभी आपका यह क्रोध विलीन होगा, और तब कहीं 'क्षमा' का प्रादुर्भाव होगा। फिर आपको भीतर लिये हुए सत्य की प्रतीति होगी। वही सत्य ही तो आपका वास्तविक जीवन है। एक बार सत्य की उपलब्धि होने पर जीवन आमूल परिवर्तित हो जाता है। जीवन में आपको एक वास्तविक धारा प्राप्त हो जाती है। यही वास्तव में जीवन प्रवाहीधारा है।

यह जीवन-धारा प्राणी मात्र को अनायास ही उपलब्ध नहीं होती! जो इसके लिये सतत, निश्चयपूर्वक प्रयास करता है। अन्तःसृजन करता है, मात्र उसे ही यह उपलब्ध होती है। सुरभि युक्त पुष्पों की प्राप्ति के लिये भूमि को मृदु बनाना होता हैं, उसमें बीज बोने होते हैं। जब पौधा अंकुरित होता है, तब उसे बार-बार सींचना होता है, उस पौधे की सुरक्षा

करनी होती है-खाद ड़ालनी होती है, अतिरिक्त बाढ़ की छँटनी करनी होती है इतने श्रम के उपरान्त ही अभिलाषी पुष्पों की उपलब्धि होती है। अतः बन्धुओं! सुरभि युक्त सुन्दर पुष्पों की उपलब्धि जिस प्रकार अनायास ही नहीं होती, उसी प्रकार आत्मा का वास्तविक आनन्द, उत्तम क्षमा के पुष्प भी सीधे उपलब्ध नहीं होते।

बिना बीज बोये, बिना पौधे को सींचे, बिना सतत् परिश्रम किये जो प्राणी सुन्दर सुगन्धित पुष्प की अभिलाषा करते हैं, उन्हें उनकी प्राप्ति नहीं होती, ये वे फूल नहीं है, जिन्हें पैसे फेंककर हम बाजार से खरीद ले। अतः जो प्राणी अपने जीवन में उत्तम क्षमा के बीज बोता है, सतत इतना श्रम करता है, उसे ही जीवन में वास्तविक आनन्द के फूल प्राप्त होतें हैं। जीवन में इसकी उपलब्धि का भी अपना एक विशेष महत्व होता है।

अनेकों 'सज्जन' क्षमा करने का दिखावा करतें हैं, प्रार्थनाओं में कहते हैं कि हे प्रभु! जैसे हमने अपने अपराधियों को क्षमा किया है, वैसे ही तू हमारे अपराधों को क्षमा करना।'' प्रार्थना में दोष नहीं है, दोष है हमारे छलावा भरे दूषित मन में। हम मात्र क्षमा करने का दिखावा करतें हैं, परन्तु हमारे मन में, मन के किसी कोने में क्रोध छिपा होता है। प्रेम की अभिव्यक्ति के पीछे घृणा छिपी होती है। क्रोध एवं घृणा क्षमा एवं प्रेम के पीछे छिपे होते है। अभी आप यहाँ अत्यन्त शान्ति पूर्वक बैठकर मुझे सुन रहे हैं। बगल में बैठा हुआ कोई व्यक्ति आपको कुछ कह दे, तो तुरन्त आपकी शांति भंग हो जायेगी। मन में सर्वत्र अशान्ति फैल जायेगी। अभी आप सब अत्यन्त श्रद्धा-पूर्वक, तन्मयता से मेरे प्रति अपना प्रेम भाव व्यक्त कर रहे हैं किन्तु यदि मेरे मुहँ हठात् कोई ऐसी बात निकल आए जो आपके प्रतिकूल हो, तो तत्क्षण आपका मेरे प्रति प्रदर्शित होने वाला यह प्रेम समाप्त हो जायेगा। घृणा, तिरस्कार आदि के भाव एकदम उभर आएँगे। क्या यह प्रदर्शित मान, सम्मान, प्रेम सच्चा है? तनिक विरोध एवं विपरीत वातावरण में जो अपना स्वरूप बदल दे। वह भला कैसे सच्चा हो सकता है। वास्तविक प्रेम तो क्षमा की दृढ़ नींव पर खड़ा होता है......कितनी भी विपरीतताओं में, विरोध में वह कभी भी नहीं बदलता। उसकी नींव की आधार शिलाएँ होती है, श्रद्धा एवं दृढ़ विश्वास। जब निमित्त मात्र से ही क्रोध एवं घृणा उभर सकतें हैं, तब शांति भला कहाँ से? कैसे प्राप्त होगी? इन्हें दबाकर क्षमा कभी भी प्राप्त नहीं की जा सकती। दबा हुआ क्रोध जब उभरता है, तब उसका स्वरूप, उसका परिणाम अत्यन्त भयंकर होता है.....हो सकता है। जब हमारी क्षमा क्रोध को दबाकर सामने आती है, तब वह

यथार्थ में क्षमा नहीं होती। इस तथ्य को हमें समझ लेना चाहिए।

जब हम क्रोध पर ही नियन्त्रण नहीं रख पाते, तब भला हमारी क्षमा कहाँ सुरक्षित रह पायेगी। यदि हम क्षमा का उपयोग करेंगे भी तो क्या वह क्षमा एकदम खोखली नहीं होगी? निश्चित जानिये, ऐसी क्षमा निष्प्राण होगी; उसमें कोई सत्व नहीं होगा। क्रोध के निःशेष होने पर ही वास्तविक क्षमा का उदय होता है।

अपने क्रोध को दबाकर यदि कोई व्यक्ति हमारी ओर प्रेम पूर्वक, क्षमा का अभिनय करते हुए, हाथ बढ़ाता है और हम उसका हाथ थामते है; तब थोड़ी देर बाद ही हम देखते हैं कि वे हाथ हमारे हाथ को अब शिकंजे की भाँति कसने लगे हैं। यह कसाव प्रेम का नहीं, दबे हुए क्रोध का प्रभाव है **प्रेम कसता नहीं, मुक्त करता है। जिसके प्रति हम प्रेम का प्रदर्शन करते है और वहीं उस प्रेम से छुटकारा चाहता है, तब समझ लीजिये, प्रेम उसके लिये बन्धन स्वरूप है, प्रेम में कोई दोष छिपा है।**

क्रोध छिपाकर क्षमा करने वाले मानव अद्भुत ही होते हैं। वे हमें कभी ऊपर नहीं उठा सकते। क्रोध की गति अधोगामी है। इसी प्रकार से आवेष्ठित प्रेम भी थोथा होता है। दया, प्रेम एवं क्षमा से एक बार हृदय अह्लादित होने पर दूषित विकारों को फिर हृदय में कोई स्थान नहीं रह जाता। इनमें ऊपरी सतह का कोई आवेग नहीं होता, शान्त सरोवर की गहन स्थिरता पूर्ण सुखद स्थिति होती है। यह मंगलकारी एवं आनन्दप्रदायक होती है।

आपको संभवतः यह सुनकर हैरानी होगी कि जो आपके लिये जान देने को तैयार था, वहीं अब थोड़ा मत-भेद होने पर आपकी जान का ग्राहक हो गया है। अल्प समय में ही ऐसा भीषण परिवर्तन! यह सब इसीलिये होता है कि प्रेम किसी ठोस आधार शिला पर अवस्थित नहीं था। प्रेम के झीने, आवरण को छिन्न-विछिन्न कर घृणा सम्पूर्ण शक्ति से उभर आई। अन्ततः जो भीतर होगा, आखिर वही तो बाहर आयेगा न। आप एक समय भले ही ऊपर-ऊपर शांति के सागर, क्षमा के आगार प्रतीत होते हों, किन्तु ज्योंहि अशान्ति का काँटा चुभा नहीं, अब तक सोया हुआ क्रोध पूर्ण उफान पर आ जाता है। मानों पिटारे में बंद सोया हुआ भयंकर नाग हो। यह है हमारी क्षमा का वास्तविक स्वरूप।

वास्तविक क्षमा यदि एक बार अंतरतम में जागृत हो जाती है, तब वहाँ क्रोध के उत्पन्न होने की कोई भी संभावना नहीं रह जाती। ईसामसीह के अनन्य प्रेम को लोग घृणा में कदापि नहीं बदल सके। शैतान की लुभावनी परिस्थितियाँ उन पर कभी भी हावी नहीं हो सकी। उन्हें काँटो का ताज पहिनाया गया, सूली पर लटकाया गया, हाथों में, पैरो में निर्दयता पूर्वक कीले ठोकी गई......उनकी वेदना की कल्पना कीजिये। संभव है कल्पना यदि यथार्थ की सीमा को स्पर्श कर सके, तो व्याकुल प्राण पखेरू पिंजरे से उड़ जाएँ-किन्तु उस अनन्त प्रेम की महिमा के कारण उनके भीतर जागृत क्षमा को उनसे कोई भी न छीन सका। प्राण घातक अपराधियों को भी उन्होंने सहज भाव से क्षमा किया। **सूली पर चढ़ते हुए भी उन्होंने परम पिता परमेश्वर से प्रार्थना की कि है प्रभु! इन सबकों क्षमा करना! ये स्वयं नहीं जानते हैं कि ये क्या कर रहें हैं।''**

दुष्टों ने, सम्भव है, यह भी सोचा होगा कि देखें इनका प्रेम! कब तक ये अविचल रहते हैं। उनके कोमल हाथ और पैरों में कीले ठोकी गई। किन्तु उनके चेहरे की मधुर देवी मुस्कान को मानव की शैतान प्रेरित दुष्टता नहीं छीन पाई। कितना दिव्य दिखाई देता होगा, उनका महिमा मंडित चेहरा।

हजारों लोग, वह दृश्य देखते रहे। उनके शिष्य, अनेकों भक्त इनमें थे। छाती-पीट रहे थे, आँसू बहा रहे थे। तब ईसा मसीह ने अत्यन्त शान्ततापूर्वक कहा कि ये अबोध प्राणी मात्र मेरे शरीर में कीले ठोक रहें हैं किन्तु मैं तो अन्दर परमात्मा के अनन्त प्रेम का ही अनुभव कर रहा हूँ। तुम लोग इस शरीर पर विश्वास मत करना, इसी को सब कुछ मत मान लेना। इसकी पीड़ा, तुम्हारी पीड़ा नहीं है, न ही इसका सुख तुम्हारा सुख है। **तुम तो उस अमृत को, उस अखंड प्रेम को खोजना जिस की कभी भी मृत्यु नहीं होती।**

मैं इस शरीर के नष्ट होने का अनुभव कर रहा हँ, किन्तु इसके माध्यम से मानव मात्र के लिये जो असीम......अनन्त प्रेम प्रकट किया गया है, वह अमर है, उसकी जड़ें मेरी आत्मा में अनन्त गहराई तक फैली हुई हैं। तुम लोग भी शरीर के लिए कभी मत जीना, इस पर कभी विश्वास मत करना। यह तो अमृतमय प्रेम की खोज का साधन है। **तुम उस दिव्य, पावन ज्योति की खोज के लिये इसका उपयोग**

करना। यह तो नश्वर है। इसे तो नष्ट होना ही है। प्रेम अनश्वर है, अमर है।

इन लोगों का कोई कसूर नहीं है, कोई भी अपराध नहीं हैं। यह सब तो होना ही था......इस शरीर को ये सब कष्ट झेलने ही थे। आप सब, इन सब को क्षमा कर देना। ये अज्ञानवश ही यह सब कर रहे हैं। ये क्षमा के ही पात्र है।

नारायण श्री कृष्ण वन में सो रहे थे। एक व्यक्ति ने (जरद कुमार) उन्हें मृग समझकर बाण मारा और आकर जो देखा तो अत्यन्त भयभीत हुआ। बार-बार वह इस अपराध के लिये क्षमा याचना करने लगा। श्री कृष्ण ने उसे क्षमा किया- अपने बधिक को क्षमा किया। उसे समझाया कि वह वहाँ से शीघ्र ही कहीं अन्यत्र चला जावे अन्यथा बलराम वहाँ आते ही होंगे। श्री कृष्ण की वह स्थिति देखकर वे क्रोधित होंगें और उसे कभी क्षमा नहीं करेंगें।

बन्धुओं! सोचिये। अपने प्राण-हर्ता के प्रति भी उनके मन में किंचित मात्र भी क्रोध उत्पन्न नहीं हुआ अपितु उसके संरक्षण की ही उन्हें चिंता थी। **अतः वास्तविक क्षमा क्रोध के अभाव में ही उत्पन्न होती है। श्री कृष्ण तो भावी तीर्थंकर है। भावी तीर्थंकर के भावों में अभी से कितनी अधिक क्षमा विद्यमान है? बात भी सच है! वास्तविक उत्तम क्षमा के धनी एक मात्र तीर्थंकर ही तो होतें हैं।**

दीक्षोपरान्त भगवान महावीर विहार करते हुए उज्जैन पहुँचे वहाँ पर वे श्मशान में एक वृक्ष के नीचे तपस्या में लीन हो गए। उस भूमि पर रहने वाले लोगों ने समझा कि वे हमारी भूमि पर आधिपत्य जमाने आ गए है। बस उन्होंने इसकी सूचना अपने परिचित, शुभचिन्तक साथियों को दी और वे सब मिलकर महावीर स्वामी पर अनेकों प्रकार के उपसर्ग करने लगे, उन्हें ड़राने लगे, आंतकित करने लगे, विचित्र प्रकार की ड़रावनी ध्वनियाँ निकालने लगे। वे उन्हें किसी भी प्रकार से उन्हें उस स्थान से हटाना चाहते थे। परन्तु ध्यानस्थ महावीर स्वामी अपनी साधना में रत रहें। वे किसी भी प्रकार से विचलित नहीं हुए। अन्ततः वे समस्त श्मशानवासी उनकी अद्‌भुत शांति देखकर, थककर, हारकर वहीं बैठ गये। अन्त में उन्होंने सोचा कि इतनी व्याधियों को शान्ति पूर्वक सहन करने वाला यह अवश्य ही कोई महान सन्त होना चाहिए। अतः वे उनसे अन्तःकरण पूर्वक क्षमा याचना करने लगे।

कमठ और प्रार्श्वनाथ- इन दोनों से भी आप भली-भाँति परिचित है। कमठ ने पार्श्वनाथ के जीव पर घोर उपसर्ग किये। किन्तु पार्श्वनाथ ने कोई उत्तर नहीं दिया। मन में किसी प्रकार का खेद या खिन्नता भी नहीं लाये। परन्तु न तो कमठ ने ही उपसर्ग का त्याग किया, न पार्श्वनाथ की क्षमा का त्याग किया। अब कमठ ही दुष्टता एवं पार्श्वनाथ की क्षमा को देखिये......उसे समझने का प्रयत्न कीजिये। कमठ यह कोई बाहरी व्यक्ति या प्राणी नहीं है। तत्वों को रूपकों के माध्यम से, कहानी की सहायता से समझाया जाता है। आत्मा में क्षमा का अभाव ही कमठ का स्वरूप है। आत्मा पार्श्वनाथ है। इस आत्मा रूपी पार्श्वनाथ पर यह क्रोध रूपी कमठ अनादिकाल से उपसर्ग कर रहा है। अतः कमठ कहीं बाहर नहीं है, हमारें भीतर ही है......। अतः बन्धुओं इसे हमें बाहर निकालना है।

आज मैं आपसे पूछना चाहता हूँ कि आप किसके आश्रम के निवासी बनना चाहते है? कमठ आश्रम के अथवा पार्श्वनाथ के? वैसे तो हम सभी अनादि काल से कमठ आश्रम के ही सदस्य है किन्तु अब हमें अपना दल, अपनी सदस्यता बदलनी है। हमें पार्श्वनाथ के आश्रम का सदस्य बनना है।

मानव एक अद्भुत, रहस्यपूर्ण प्राणी है। उसमें अनन्त संभावनाएँ है। दिव्यता की, भगवत्ता की! वह परमानन्द स्वरूप है, ज्ञानानंद है, मुक्ति है, निर्वाण है। किन्तु इन सबकी पूर्ण अभिव्यक्ति तभी संभव है, जबकि वह भगवान पार्श्वनाथ के आचरण को अपने जीवन में आत्मसात करे!

परम धन्यता को, परम संतृप्ति को, कृतकृत्य अवस्था को, सिद्धावस्था को वे ही जीव उपलब्ध हुए हैं, जिन्होंने संत पुरूषों के, परम ज्ञानियों के, ऋषियों के, वीतरागीयों के आचरण के साथ अपने जीवन के स्वरों को मिला दिया है तथा जिनके परम पवित्र अचारण को अपने श्वास के प्रत्येक कण में साधना रूप में बसा लिया है।

भगवान महावीर की देशना सतत् निनादित होती रहती है कि......तू भी वहीं है जो मैं स्वयं हूँ। तू भी भगवान है, स्वयं पूर्ण ब्रह्म है। अतः इसी परम शक्तिशाली देशना के आधार पर मैं आप सबको आमंत्रित करता हूँ कि इस परम पवित्र देशना को, महावीर की अमर ज्योति को, **चिन्मय** ज्योति को समझने और जीवन को संवारने के लिये, आप भी उस अमृत वाणी को प्राप्त करने के अधिकारी है। इस वाणी

म डूबना, अपन मूलस्वभाव को प्राप्त करना यही मानव की नियति है। अतः इन दशलक्षण पर्व में आइये और अनन्त संभावना को जागृत करें।

मानव प्राणी इन अनन्त संभावनाओं का बीज स्वरूप होकर भी आज तक उसकी पूर्ण अभिव्यक्ति उसके जीवन में क्यों नहीं हो सकी? इसमें कौनसा तत्व बाधक है? इसे आप समझें और तदनुकूल आचरण कर उसे जागृत करें, उसकी प्राप्ति करें।

इन अनन्त संभावनाओं की अभिव्यक्ति को, प्रत्यक्ष आपके परमात्मा को- क्रोध, घृणा, हिंसा, अहंकार आदि ने जकड़ रखा है। क्रोध अहंकार आदि पर हमारा कोई भी वश नहीं है। मैं तो कहता हूं कि इन सब पर काबू करने की बात तो बहुत दूर है, इनसे हम अभी परिचित भी नहीं हो पायें हैं। हमें इस बात का भी पता नहीं हैं कि ये हमारे जीवन में किस प्रकार घुलमिल गये हैं। जो काम पशु कर रहे हैं-करते हैं, वे ही काम आज का मानव कर रहा है।

पशु भी आपस में लड़ते हैं। उनका भी स्वार्थ जब टकराता है तब वे अवश्य लड़ते है किन्तु दूसरे ही पल वे इसे भूलकर पुनः एक हो जाते हैं। परन्तु मानव ही मात्र एक ऐसा प्राणी है, जो क्रोध को युगों तक अपने साथ लिये रहता है। स्वयं भी उस क्रोधाग्नि में जलता है और दूसरों को भी उसमें जलाता रहता है।

कल्पना कीजिये कि एक व्यक्ति आपके घर के सामने से निकल रहा है। थोड़ी देर बाद वह समीप के एक गड्ढे में गिर पड़ता है। आप तुरन्त दौड़कर उसे बाहर निकाल देंगे। बाहर निकलने में उसकी मदद करेंगे। आपको उसकी इस स्थिति पर दया आयेगी। आप सोचेंगे कि अरे रे! बेचारा इस गड्ढे में गिर पड़ा। उसे गड्ढा दिखाई नहीं पड़ा होगा। किन्तु वही व्यक्ति उसी गड्ढे में यदि बार-बार, नित्य ही गिरने लगे, तब भला आप क्या करेंगे? अपने मन में उसके विषय में क्या सोचेंगे? आप संभवतः यहीं सोचेंगे कि एक बार भूल हो सकती है। बार-बार की भूल......यह संभव नहीं। यह मनुष्य नहीं "पशु" है। रोज हम इसे गड्ढे से निकालते है, और रोज ही यह इस गड्ढे में गिर पड़ता है। यह तो पशु से भी गया बीता है। इसके जीवन में कोई परिवर्तन सम्भव नहीं है। इसी प्रकार हमने स्वयं को क्रोध से अभिभूत होते देखा है। परिणाम देखकर पछताए भी हैं, परन्तु फिर भी उसी भूल को दोहराए जा रहे हैं। उसका परित्याग करने के लिये हम

स्वयं को असमर्थ पा रहे हैं। इसी प्रकार जिस 'घृणा' के फलस्वरुप हम पीड़ित हुए, आहत हुए-हमारी नींद खराब हुई - उससे भी हम स्वयं को मुक्त नहीं कर पा रहे हैं। **कैसा है यह जटिल बन्धन इस घृणा का! जन्म-जन्मातरों से हम उसमें कोई परिवर्तन नहीं कर पा रहें हैं।** इसी प्रकार जिस अहंकार की अग्नि ने हमें जलाया है, हमें दर-दर की ठोकरें खिलाई हैं, चारों गतियों का दास बनाया है, उसे भी हम पूर्ववत पकड़े हुए है, अपने दामन से लगाए बैठें है। उससे छुटकारा पाने में स्वयं को नितान्त असमर्थ पा रहे हैं। जिस मोह ने आत्मिक गुणों का नाश किया है, दिन और रात जिसने हमें बार-बार आँसू रूलाया है, उसे ही आज हम अपना जीवन समझ बैठे है! उन्हीं पूर्व कृत भूलों को हम अनन्त जीवन से दोहराते चले आ रहे हैं। भूलें जो मात्र काँटों को ही जन्म देती हैं, उनकी पुनरावृत्ति से भला क्या लाभ! और आश्चर्य यह कि हम हमेशा पश्चाताप भी करते है कि इस भूल को अब अपने आयुष्य में कभी नहीं दोहराऊंगा, किन्तु जब काँटे चुभने लगते हैं तब हम पाते हैं कि उसी भूल को हम पुनः दुहरा चुके हैं।

इसीलिये यह जो कहा जाता है कि मानव का व्यवहार पशु तुल्य है, तो इसमें कुछ सार्थकता प्रतीत होती है। हमारे पास बुद्धि एवं विवेक होकर भी हम उसका यथोचित उपयोग नहीं करते। यदि हमें अपने जीवन में इस तथ्य की तीव्र अनुभूति हो सके कि हम एक पशु के समान ही जी रहे है। उसके जीवन में और हमारें जीवन में, विवेक की दृष्टि से कोई भी फर्क नहीं हैं, तब ही हमारें जीवन में परिवर्तन संभव है, अन्यथा नहीं।

किसी भी बीमारी का सही-सही निदान कर लेना ही, उस बीमारी से आधी मुक्ति है। यदि यह तथ्य भलीभाँति समझ में आ जाये कि क्रोध करना, घृणा एवं अहंकार करना मेरा स्वभाव नहीं है, तो क्रोध स्वयमेव छूट जायेगा। घृणा समाप्त हो जायेगी। अहंकार भी हमेशा के लिये बिखर जाएगा। फिर उसे स्वरूप का बोध करने में कोई कठिनाई नहीं होगी।

जायरूवं जहा मट्ठं निद्धन्तमल-पावगं।
राग दोस-मसाईयं तं बूम माहणं।। (उत्तर अ २५ गाथा २१)

जो अग्नि में ड़ालकर शुद्ध किये हुए एवं कसौटी पर कसे हुए सोने के समान निर्मल है, जो राग-द्वेष तथा भय से रहित है, उसे हम ब्राह्मण कहते है।

आत्मा के सम्बन्ध में बड़ी सुन्दर बात कह रहे हैं कि —

अग्नि में ड़ालकर शुद्ध किये हुए, कसौटी पर कसे हुए सोने के समान जो निर्मल है वही तेरा स्वभाव हैं, वही तेरा परमात्मा है।

अब आपसब अत्यन्त ध्यान से सुनिये —

जिसे आप आज तक अग्नि के रूप में देखते आयें है, वही मात्र अग्नि नहीं है। और भी अनेकों प्रकार की अग्नियाँ हैं। बाहर से हमें जो दिखाई देती है, वह तो अग्नि का एक स्वरूप है ही। हमारें भीतर भी एक अग्नि धधक रही है। इसी प्रकार आपके भीतर भी चमकीला स्वर्ण होने की संभावना है।

महावीर स्वामी कहतें हैं कि यह भीतर का कंचन पुरूषार्थ और श्रम से ही प्राप्त किया जा सकता है। किन्तु वर्तमान में यह अशुद्ध है.....इसे हमने आज तक कभी शुद्ध करने का प्रयत्न ही नहीं किया है। आज तक यथार्थ में हम सब बाहरी स्वर्ण जाल की प्राप्ति में उलझे रहे। भौतिकता की चकाचौंध में ही सब कुछ भूले रहे। वास्तव में हमने अपने भीतर कभी झाँककर भी नहीं देखा जहाँ अनन्त खजाना छिपा पड़ा है। हम मात्र भिखारी बन कर दर-दर की ठोकरें खाते रहें। हम सब बुनियादी रूप से निपट अज्ञानी ही बने रहे।

भगवान महावीर कहते हैं कि बजाय इसके कि क्रोध आपकी आत्मा को नुकसान पहुँचाये, आप उसकी सहायता से अपनी आत्मा को निखारिये! इस क्रोध से आत्मा के कुन्दन को तपाइये। तब यह एक अद्‌भुत प्रक्रिया होगी। पशु की सतह से आप ऊँचे उठिये! इस ताप से आप अपने भीतर के मल को स्वच्छ कीजिये! आन्तरिक मल जब जलकर पूर्ण रूप से भस्म हो जायेगा, तभी आप सफल मानव बन सकेंगे।

घर का एक छोटा सदस्य क्रोध पूर्वक जब बाहर आता है और उस क्रोध को बाहर उगलने का प्रयत्न करता है, तब बाहर बैठा हुआ उसी परिवार का बड़ा सदस्य उसी पर क्रोधित होकर उसे रोककर अन्दर भेज देता है- **इसी प्रकार श्रेष्ठ मुनि श्री अपने क्रोध पर क्रोधित होकर उसे अन्दर की ओर प्रवाहित कर लेता है।** क्रोध का धाम है..... जो भी उसके मार्ग में आये, उसे जलाकर भस्म कर देना। कुशल

मुनि उस उबलते क्रोध से भीतरी समस्त मल जलाकर भस्म करने में सहायता लेते है। इस प्रक्रिया से भीतर का मल समाप्त होकर सब स्वर्ण निखर उठता है। दीप्ति से दमक उठता है।

क्रोध को आप इस प्रकार नियन्त्रण में रखें, रखने का प्रयास करें कि अन्तोगत्वा, यह आपका स्वभाव न बन पाएं। क्रोध पर विजय पाकर आप इतनी अधिक प्रसन्नता का अनुभव करेंगे जिसकी आपने कभी कल्पना भी न की होगी। आप समस्त परिस्थितियों से हमेशा के लिए मुक्त हो जाएँगे। आप, तब, स्वयं अपने स्वामी बन जाएँगे।

क्रोध की दशा में आप दूसरे के गुलाम बन जाते है। यह सुनकर आपको हैरानी अवश्य प्रतीत होगी किन्तु यह नितान्त सत्य है। भले ही कटु सत्य ही क्यों न हो। **क्रोधी प्राणी भ्रम वश यह सोचता है कि यदि मैंने क्रोध न किया तो, दूसरा प्राणी मुझ पर हावी हो जायेगा। मेरा मालिक बन बैठेगा। मेरा अस्तित्व ही समाप्त हो जायेगा।**

महावीर स्वामी कहते हैं कि जब आप किसी पर क्रोध करतें है, तब वह व्यक्ति आपका मालिक होता है। आपकी चाबी उसके हाथ में होती है। क्रोध की स्थिति में आप जो भी करेंगे, उससे आपका हित कुछ भी नहीं होगा।

परन्तु, क्रोध में एक अद्भुत, आकर्षण है- इसीलिये तो सर्वसाधारण जन हमसे इतनी जल्दी प्रभावित हो जाते है। मानव प्राणी अच्छाइयों से भले ही देर से प्रभावित हो **बुराइयों से वह अत्यन्त शीघ्र प्रभावित हो जाता है।** गालियाँ उसे अति शीघ्र प्रभावित करती हैं। गालियाँ बारूद की ढ़ेरी में मानों चिनगारी का काम कर देती है। आप धधक उठतें है! यदि आप किसी भी जटिल, अपमान कारक परिस्थिति में भी शांत रहेंगे, तब निश्चित ही आपका विवेक जागृत होगा। आपकी चेतना में अद्भुत निखार आयेगा।

इसीलिये भगवान महावीर ने कहा है कि जो प्राणी अग्नि में ड़ालकर शुद्ध किये हुए, कसौटी पर कसे हुए सोने के समान निखर कर शुद्ध हो गया है..... **वही वास्तव में ज्ञानी है, वही परमात्मा है।**

सोने का अग्नि में ड़ालना ही पर्याप्त नहीं है। उसके उपरान्त ही उसकी शुद्धता को कसौटी पर कसना भी उतना ही आवश्यक है। सोने

को कसने के लिये बाईस परीषह रूपी कसौटी को सामने रखा है। आप एकान्त में बैठे है- जहाँ किसी के आने-जाने की कोई संभावना नहीं है- और आप कहें कि आपको क्रोध नहीं आता, तब यह उतनी पुखता बात नहीं होगी। वास्तविक आपकी परीक्षा तो तभी होगी जब आपको कोई सताए। बार-बार बाधा पहुंचाये, गालियाँ दें, आपका नुकसान करें, फिर भी जब आपके चेहरे पर किंचित मात्र भी शिकन न आने पावे तभी आप वास्तव में क्रोधजयी होंगे। परीक्षा में खरे उतरेंगे। शुद्ध स्वर्ण की भाँति निखर उठेंगे। चेहरा एक अपूर्व कान्ति से दीप्त हो उठेगा।

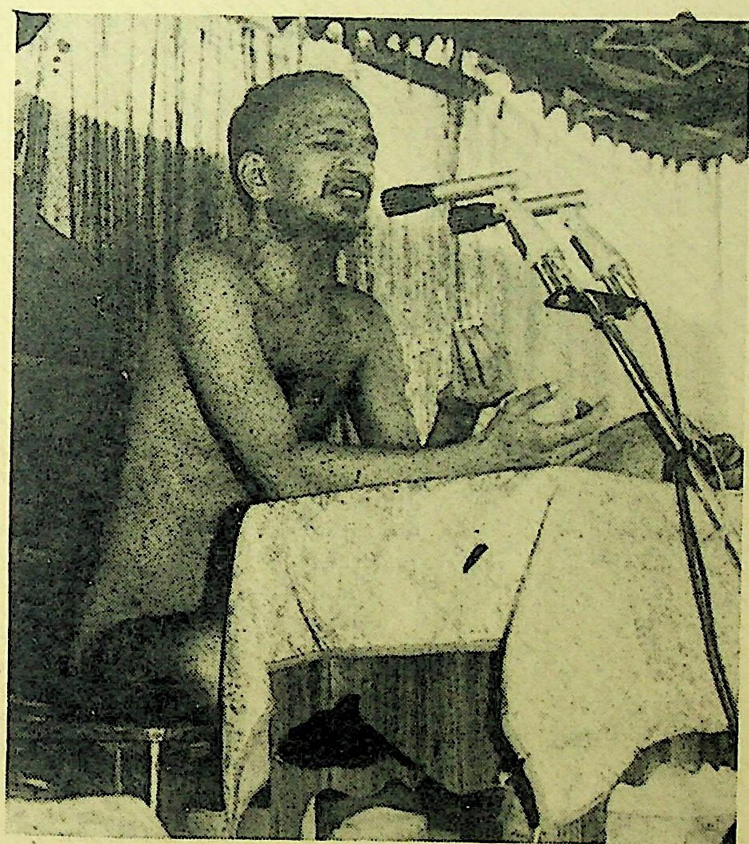
जो प्राणी राग-द्वेष-भय से मुक्त हो वही यथार्थ में ज्ञानी है। इसे भी समझना आवश्यक है। महावीर स्वामी कहते हैं दोनों से रहित होना। राग और द्वेष में कोई अन्तर नहीं है। ये दोनों सुबह और शाम के समान एक ही दिन के दो भिन्न पहलू है। जीवन में इनका क्रम नित्य चलता ही रहता है। इन दोनों से एक साथ मुक्ति पाना ही उत्तम क्षमा है।

(१) मृदुता लोहे को सीसा बना देती है,
क्षमा शैतान को भगवान बना देती है।
क्रोधाग्नि में बरबस हाथ मत डालो,
कषाय इंसान को शैतान बना देती है।

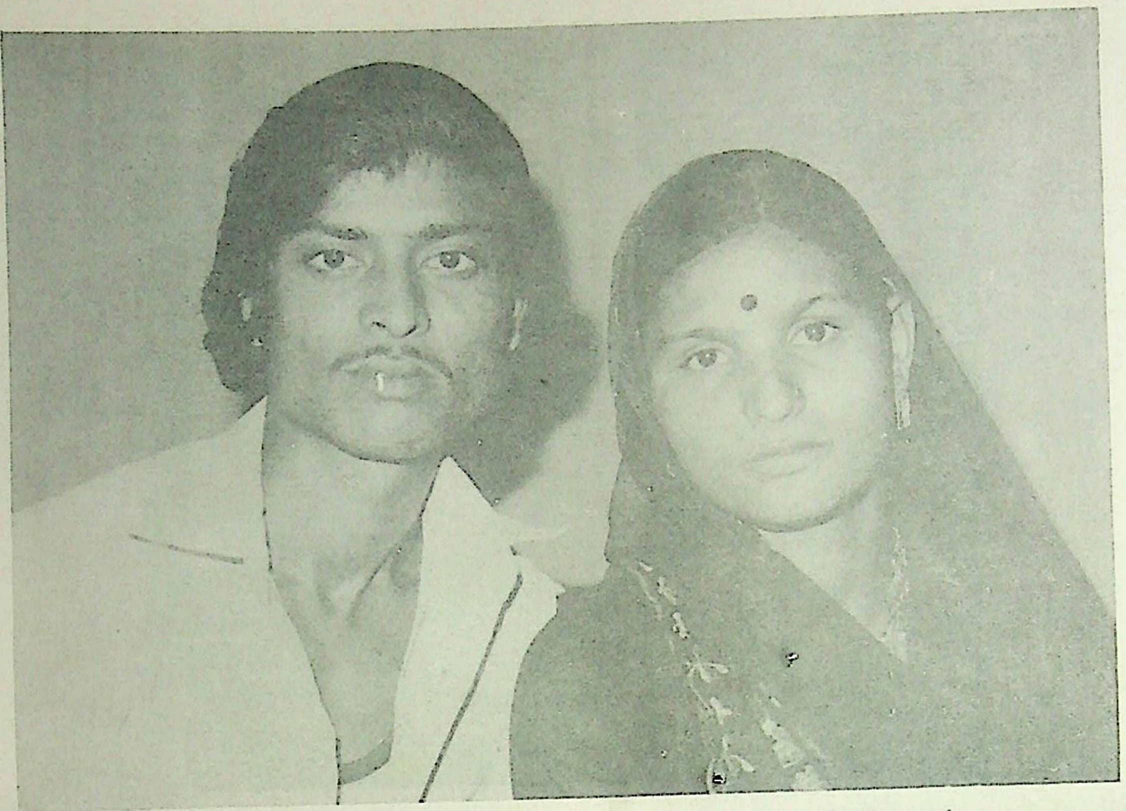
(२) पतन के लिए बस एक अहंकार ही काफी है,
बन्धन के लिए मात्र क्रोध ही काफी है,
इसीलिए कहता हूँ बार-बार कि छोड़ दो उन्हें,
भगवान बनने के लिये तो क्षमा ही काफी है।।

— x —

उत्तम मार्दव



आचार्य पुष्पदन्त सागरजी महाराज



श्री चन्द्रपाल धर्मपत्नि विमला देवी परतापुर

उत्तम मार्दव धर्म

मानापमान करना भव को बढ़ाना,
पाना कभी न सुख को दुःख ही उठाना।
सब मान त्याग अपना प्रभु गीत गाले,
फिर मान के हनन से, सब मुक्ति पालें।।

धर्मानुरागी बन्धुओं,!

आज **''उत्तम मार्दव धर्म''** के पालन का, इस धर्म के विषय में चर्चा करने का, इसे भली भाँति समझने का उत्तम दिन है। 'मार्दव' शब्द से जो सरल अर्थ ध्वनित होता है वह यह है कि 'मान' कषाय का मर्दन करना ही मार्दव धर्म को अंगीकार करना है।

यह संसारी प्राणी अनादिकाल से मान और अपमान के झूले में झूलता आया है। आज भी वह इस झूले में झूल रहा है। वैसे भारत वर्ष में सावन के झूलों की काफी महत्ता भी गाई गई है; और झूला झूलने में सबको आनन्द प्राप्त भी होता है। परन्तु इस झूले में उसे सुख तो किंचित मात्र भी नहीं, दुःख अवश्य ही भुगतना नसीब हुआ। यद्यपि मानव-प्राणी अपने जीवन में सुख की प्राप्ति के अनेक उपायों की योजना करता आ रहा है। नाना विधि के साधन जुटाता आ रहा है **किन्तु आश्चर्य है कि उसे क्षण मात्र के लिये भी, जिसे सुख कहना चाहिए, उस सुख की रंच मात्र भी अनुभूति नहीं हो पाती है।** जबकि मानव में अनन्त की परिप्राप्ति की, अनन्त में पूर्ण रूप से समाहित होने की पूर्ण क्षमता है। संभावना है, उसके अंतस में परब्रह्म परमात्मा का प्रतिरूप पूर्ण विकसित सहस्रदल कमल छिपा हुआ है।

आचार्य विद्यासागर जी के शब्दों में-

बहती रहती कषाय नाली, शांति सुधा भी झरती है,
भव की पीड़ा बही प्यार कर, मुक्ति रमामन हरती है।
तीन लोक भी आलोकित है शुचिमय चिन्मय लीला है,
अद्भुत से अद्भुततम महिमा, आतम की, जय शीला है।।

जब हम मानव के विराट् स्वरूप का गहराई से अध्ययन करते हैं, अन्तरात्मा में अत्यन्त गहरे Deep उतरते हैं, तब हमें अपनी स्वयं की आत्मा में, आत्मा की अनन्त गहराई में भी, कषाय का और शांति का; अच्छाई एवं बुराइयों का, एक अति अद्भुत, अत्यन्त विचित्र ताना बाना परिलक्षित होता है।

एक ओर तो आध्यात्मिक भावनाओं की परमपावन निर्मल धाराएँ सतत प्रवाहित होती हुई दृष्टिगोचर होती है; तथा दूसरी ओर कषायों की...... दुर्वासनाओं की गन्दी और सड़ी बदबू फैलाने वाली नालियां भी दृष्टिगोचर होती है; एक ओर तो सद्गुण रूपी सदा बहार खिले हुए पुष्पों का अनुपम बाग है, जहाँ से सुखदायिनी, आनन्द प्रदायक, सुरभि बह रही हैं तद्वत दूसरी ओर दुर्गुणों के विष कंटको का भयंकर जंगल चारों और फैला हुआ है। एक ओर गहन अंधकार है तो दूसरी और धवल प्रकाश भी विद्यमान है। **देवी और आसुरी भावनाओं का यह देवासुर संग्राम मानव-जीवन में उसके रोम-रोम में व्याप्त है।**

आखिर वे कौन से ऐसे कारण हैं जो मानव-जीवन को चहूँओर से विक्षिप्त किये हुए हैं? वे कौनसे ऐसे भीषण जाल हैं जो उसे सब ओर से घेरे हुए है? वे कौन से बोझिल पत्थर है जो उसकी आत्मा को पंक से ऊपर उठने ही नहीं देते? उसे हिमालय की ऊचाइयों को छूने नहीं देते? कौन उन असीम क्षमताओं को निर्मित करता है? कौन उन्हें स्वीकार करता और बांधता है? कोई अन्य या हम स्वयं?

यदि हम स्वयं अपने इन समस्त कार्यों का अवलोकन करें स्वयं अन्दर झाँककर देखें, प्रयत्न करे, तो हम पायेंगे कि हम स्वयं ही इन सबके लिये जिम्मेवार है! **हमें कोई भी दास नहीं बनाता और न कभी बना सकता है, हम स्वयं ही इस दासता को स्वीकार करते है।** कोई हमें परतन्त्र नहीं बनाता, अपने अज्ञान की विवशता वश ही हम परतन्त्र बने हुए हैं। यदि हम विचार करें तो हम पायेंगे कि इन सब बन्धनों का, दासता का, परवशता का मूल कारण है हमारा अपना अहंकार! हम सर्वत्र प्रत्येक क्षेत्र में मान चाहते है, और यही चाहना ही हमारें समस्त दुःखों का मूल है, अज्ञान का, परम अंधकार का कारण है।

जब तक मानव मान का आदर करेगा, वह दास ही बना रहेगा। हमेशा परतन्त्र ही बना रहेगा। इस मान ने, सम्मान से, वह स्वतन्त्र होने

का साहस, सार्मथ्य और यहाँ तक कि, स्वतन्त्र होने का विचार भी खो देता है। मान की भावना मानव के विवेक को नष्ट कर देती है। **जिसका विवेक नष्ट हो गया हो, भला वह सत्य के दर्शन किस प्रकार कर सकता है।** उसका उस आलोक से कदापि संभव नहीं है। जो उसके जीवन में फैले हुए अनन्त अहंकार को मिटा दे, समाप्त कर दे।

जरा हम स्वयं अपनी पराजय के बारे में भी सोचे! बाह्य जगत में जिनकी विजय पताकाएँ फहरा रही है, या जो इन लहराती हुई, पताकाओं को फहराने के स्वप्न देख रहे है, वे भी स्वयं अपने भीतर क्या है? कोई वहाँ, उनके भीतर क्या है? हे कोई वहाँ, उनके भीतर विजय चिन्ह;? सुख का रंच मात्र भी दर्शन? वे वहाँ पर स्वयं को एकदम पराजित हो पायेंगे। **कितनी विडम्बना है कि- मन में उत्पन्न होने वाले क्रोध पर हमारा कोई नियन्त्रण नहीं होगा। हम सर्वदा उसके गुलाम बने रहेंगे......और वह हम पर मनमाना शासन करेगा।** हमारा मन अहंकार की नित्य उठने वाली भीषण लहरों से, अपमानित रहेगा, अशान्त रहेगा......हम इन चंचल लहरों को कभी भी शान्त करने में समर्थ नहीं होंगें। वे सब हमारें स्वामी है, हम उनके दास है। हम मात्र अब भी पशुता के तल पर ही पड़े हुए हैं। जब मानव अहंकार पर पूर्ण विजय प्राप्त कर लेता है, तब ही उसका यथार्थ में जन्म होता है और तब ही जीवन की ओर उसकी वास्तविक यात्रा शुरू होती है। अहंकार पर विजय यह जीवन-यात्रा का प्रथम सोपान है। **अपने ही मान पर हमें विजय प्राप्त करनी है; अपने ही मान का हमें पूर्ण रूपेण मर्दन करना है। मान-मर्दन के उपरान्त ही मार्दव-धर्म का जन्म होता है।**

अहंकार आत्मा की 'विभाव परिणति' है; 'स्वभाव परिणति' नहीं हैं। जीव हमें कभी नहीं कहता कि हम अहंकार में जीएँ। अहंकार में पशु वृत्ति छिपी होती है। जहाँ पशुता छिपी होगी, दानवता छिपी होगी, वहाँ भला श्रेष्ठ मानवता कैसे विकसित हो सकती है? अहंकार के अभाव ही में श्रेष्ठ मानवता का विकास होता है। अहंकार के पूर्ण विसर्जन के उपरान्त ही प्रभुत्ता के दर्शन होते है। **मार्दव में, मृदुता में हृदय की कोमलात में ही परमात्मा छिपा हुआ है। तभी उसकी प्राप्ति हो सकती है।**

'भूदोर्भावः इति मार्दवम्'। मृदुभाव, कोमल परिणाम को ही मार्दव धर्म कहते हैं। मार्दवधर्म की उपलब्धि सभी प्राणियों को नहीं हो पाती क्योंकि 'मार्दव वीरस्य भूषणम' मार्दव वीर का आभूषण है। और यथार्थ

जब हम मानव के विराट् स्वरूप का गहराई से अध्ययन करते हैं, अन्तरात्मा में अत्यन्त गहरे Deep उतरते हैं, तब हमें अपनी स्वयं की आत्मा में, आत्मा की अनन्त गहराई में भी, कषाय का और शांति का; अच्छाई एवं बुराइयों का, एक अति अद्‌भुत, अत्यन्त विचित्र ताना बाना परिलक्षित होता है।

एक ओर तो आध्यात्मिक भावनाओं की परमपावन निर्मल धाराएँ सतत प्रवाहित होती हुई दृष्टिगोचर होती है; तथा दूसरी ओर कषायों की...... दुर्वासनाओं की गन्दी और सड़ी बदबू फैलाने वाली नालियां भी दृष्टिगोचर होती है; एक ओर तो सद्‌गुण रूपी सदा बहार खिले हुए पुष्पों का अनुपम बाग है, जहाँ से सुखदायिनी, आनन्द प्रदायक, सुरभि बह रही हैं तद्‌वत दूसरी ओर दुर्गुणों के विष कंटको का भयंकर जंगल चारों और फैला हुआ है। एक ओर गहन अंधकार है तो दूसरी और धवल प्रकाश भी विद्यमान है। **देवी और आसुरी भावनाओं का यह देवासुर संग्राम मानव-जीवन में उसके रोम-रोम में व्याप्त है।**

आखिर वे कौन से ऐसे कारण हैं जो मानव-जीवन को चहूँओर से विक्षिप्त किये हुए हैं? वे कौनसे ऐसे भीषण जाल हैं जो उसे सब ओर से घेरे हुए है? वे कौन से बोझिल पत्थर है जो उसकी आत्मा को पंक से ऊपर उठने ही नहीं देते? उसे हिमालय की ऊचाइयों को छूने नहीं देते? कौन उन असीम क्षमताओं को निर्मित करता है? कौन उन्हें स्वीकार करता और बांधता है? कोई अन्य या हम स्वयं?

यदि हम स्वयं अपने इन समस्त कार्यों का अवलोकन करें स्वयं अन्दर झाँककर देखें, प्रयत्न करे, तो हम पायेंगे कि हम स्वयं ही इन सबके लिये जिम्मेवार है! **हमें कोई भी दास नहीं बनाता और न कभी बना सकता है, हम स्वयं ही इस दासता को स्वीकार करते है।** कोई हमें परतन्त्र नहीं बनाता, अपने अज्ञान की विवशता वश ही हम परतन्त्र बने हुए हैं। यदि हम विचार करें तो हम पायेंगे कि इन सब बन्धनों का, दासता का, परवशता का मूल कारण है हमारा अपना अहंकार! हम सर्वत्र प्रत्येक क्षेत्र में मान चाहते है, और यही चाहना ही हमारें समस्त दुःखों का मूल है, अज्ञान का, परम अंधकार का कारण है।

जब तक मानव मान का आदर करेगा, वह दास ही बना रहेगा। हमेशा परतन्त्र ही बना रहेगा। इस मान ने, सम्मान से, वह स्वतन्त्र होने

का साहस, सार्मथ्य और यहाँ तक कि, स्वतन्त्र होने का विचार भी खो देता है। मान की भावना मानव के विवेक को नष्ट कर देती है। **जिसका विवेक नष्ट हो गया हो, भला वह सत्य के दर्शन किस प्रकार कर सकता है।** उसका उस आलोक से कदापि संभव नहीं है। जो उसके जीवन में फैले हुए अनन्त अहंकार को मिटा दे, समाप्त कर दे।

जरा हम स्वयं अपनी पराजय के बारे में भी सोचे! बाह्य जगत में जिनकी विजय पताकाएँ फहरा रही है, या जो इन लहराती हुई, पताकाओं को फहराने के स्वप्न देख रहे है, वे भी स्वयं अपने भीतर क्या है? कोई वहाँ, उनके भीतर क्या है? हे कोई वहाँ, उनके भीतर विजय चिन्ह;? सुख का रंच मात्र भी दर्शन? वे वहाँ पर स्वयं को एकदम पराजित हो पायेंगे। **कितनी विडम्बना है कि- मन में उत्पन्न होने वाले क्रोध पर हमारा कोई नियन्त्रण नहीं होगा। हम सर्वदा उसके गुलाम बने रहेंगे......और वह हम पर मनमाना शासन करेगा।** हमारा मन अहंकार की नित्य उठने वाली भीषण लहरों से, अपमानित रहेगा, अशान्त रहेगा......हम इन चंचल लहरों को कभी भी शान्त करने में समर्थ नहीं होंगें। वे सब हमारें स्वामी है, हम उनके दास है। हम मात्र अब भी पशुता के तल पर ही पड़े हुए हैं। जब मानव अहंकार पर पूर्ण विजय प्राप्त कर लेता है, तब ही उसका यथार्थ में जन्म होता है और तब ही जीवन की ओर उसकी वास्तविक यात्रा शुरू होती है। अहंकार पर विजय यह जीवन-यात्रा का प्रथम सोपान है। **अपने ही मान पर हमें विजय प्राप्त करनी है; अपने ही मान का हमें पूर्ण रूपेण मर्दन करना है। मान-मर्दन के उपरान्त ही मार्दव-धर्म का जन्म होता है।**

अहंकार आत्मा की 'विभाव परिणति' है; 'स्वभाव परिणति' नहीं हैं। जीव हमें कभी नहीं कहता कि हम अहंकार में जीएँ। अहंकार में पशु वृत्ति छिपी होती है। जहाँ पशुता छिपी होगी, दानवता छिपी होगी, वहाँ भला श्रेष्ठ मानवता कैसे विकसित हो सकती है? अहंकार के अभाव ही में श्रेष्ठ मानवता का विकास होता है। अहंकार के पूर्ण विसर्जन के उपरान्त ही प्रभुत्ता के दर्शन होते है। **मार्दव में, मृदुता में हृदय की कोमलात में ही परमात्मा छिपा हुआ है। तभी उसकी प्राप्ति हो सकती है।**

'मृदोर्भावः इति मार्दवम्'। मृदुभाव, कोमल परिणाम को ही मार्दव धर्म कहते हैं। मार्दवधर्म की उपलब्धि सभी प्राणियों को नहीं हो पाती क्योंकि 'मार्दव वीरस्य भूषणम' मार्दव वीर का आभूषण है। और यथार्थ

जब हम मानव के विराट् स्वरूप का गहराई से अध्ययन करते हैं, अन्तरात्मा में अत्यन्त गहरे Deep उतरते हैं, तब हमें अपनी स्वयं की आत्मा में, आत्मा की अनन्त गहराई में भी, कषाय का और शांति का; अच्छाई एवं बुराइयों का, एक अति अद्भुत, अत्यन्त विचित्र ताना बाना परिलक्षित होता है।

एक ओर तो आध्यात्मिक भावनाओं की परमपावन निर्मल धाराएँ सतत प्रवाहित होती हुई दृष्टिगोचर होती है; तथा दूसरी ओर कषायों की...... दुर्वासनाओं की गन्दी और सड़ी बदबू फैलाने वाली नालियां भी दृष्टिगोचर होती है; एक ओर तो सद्गुण रूपी सदा बहार खिले हुए पुष्पों का अनुपम बाग है, जहाँ से सुखदायिनी, आनन्द प्रदायक, सुरभि बह रही हैं तद्वत दूसरी ओर दुर्गुणों के विष कंटको का भयंकर जंगल चारों और फैला हुआ है। एक ओर गहन अंधकार है तो दूसरी और धवल प्रकाश भी विद्यमान है। **देवी और आसुरी भावनाओं का यह देवासुर संग्राम मानव-जीवन में उसके रोम-रोम में व्याप्त है।**

आखिर वे कौन से ऐसे कारण हैं जो मानव-जीवन को चहूँओर से विक्षिप्त किये हुए हैं? वे कौनसे ऐसे भीषण जाल हैं जो उसे सब ओर से घेरे हुए है? वे कौन से बोझिल पत्थर है जो उसकी आत्मा को पंक से ऊपर उठने ही नहीं देते? उसे हिमालय की ऊचाइयों को छूने नहीं देते? कौन उन असीम क्षमताओं को निर्मित करता है? कौन उन्हें स्वीकार करता और बांधता है? कोई अन्य या हम स्वयं?

यदि हम स्वयं अपने इन समस्त कार्यों का अवलोकन करें स्वयं अन्दर झाँककर देखें, प्रयत्न करे, तो हम पायेंगे कि हम स्वयं ही इन सबके लिये जिम्मेवार है! **हमें कोई भी दास नहीं बनाता और न कभी बना सकता है, हम स्वयं ही इस दासता को स्वीकार करते** है। कोई हमें परतन्त्र नहीं बनाता, अपने अज्ञान की विवशता वश ही हम परतन्त्र बने हुए हैं। यदि हम विचार करें तो हम पायेंगे कि इन सब बन्धनों का, दासता का, परवशता का मूल कारण है हमारा अपना अहंकार! हम सर्वत्र प्रत्येक क्षेत्र में मान चाहते है, और यही चाहना ही हमारें समस्त दुःखों का मूल है, अज्ञान का, परम अंधकार का कारण है।

जब तक मानव मान का आदर करेगा, वह दास ही बना रहेगा। हमेशा परतन्त्र ही बना रहेगा। इस मान ने, सम्मान से, वह स्वतन्त्र होने

का साहस, सार्मथ्य और यहाँ तक कि, स्वतन्त्र होने का विचार भी खो देता है। मान की भावना मानव के विवेक को नष्ट कर देती है। **जिसका विवेक नष्ट हो गया हो, भला वह सत्य के दर्शन किस प्रकार कर सकता है।** उसका उस आलोक से कदापि संभव नहीं है। जो उसके जीवन में फैले हुए अनन्त अहंकार को मिटा दे, समाप्त कर दे।

जरा हम स्वयं अपनी पराजय के बारे में भी सोचे! बाह्य जगत में जिनकी विजय पताकाएँ फहरा रही है, या जो इन लहराती हुई, पताकाओं को फहराने के स्वप्न देख रहे है, वे भी स्वयं अपने भीतर क्या है? कोई वहाँ, उनके भीतर क्या है? हे कोई वहाँ, उनके भीतर विजय चिन्ह;? सुख का रंच मात्र भी दर्शन? वे वहाँ पर स्वयं को एकदम पराजित हो पायेंगे। **कितनी विडम्बना है कि- मन में उत्पन्न होने वाले क्रोध पर हमारा कोई नियन्त्रण नहीं होगा। हम सर्वदा उसके गुलाम बने रहेंगे......और वह हम पर मनमाना शासन करेगा।** हमारा मन अहंकार की नित्य उठने वाली भीषण लहरों से, अपमानित रहेगा, अशान्त रहेगा......हम इन चंचल लहरों को कभी भी शान्त करने में समर्थ नहीं होंगें। वे सब हमारें स्वामी है, हम उनके दास है। हम मात्र अब भी पशुता के तल पर ही पड़े हुए हैं। जब मानव अहंकार पर पूर्ण विजय प्राप्त कर लेता है, तब ही उसका यथार्थ में जन्म होता है और तब ही जीवन की ओर उसकी वास्तविक यात्रा शुरू होती है। अहंकार पर विजय यह जीवन-यात्रा का प्रथम सोपान है। **अपने ही मान पर हमें विजय प्राप्त करनी है; अपने ही मान का हमें पूर्ण रूपेण मर्दन करना है। मान-मर्दन के उपरान्त ही मार्दव-धर्म का जन्म होता है।**

अहंकार आत्मा की 'विभाव परिणति' है; 'स्वभाव परिणति' नहीं हैं। जीव हमें कभी नहीं कहता कि हम अहंकार में जीएँ। अहंकार में पशु वृत्ति छिपी होती है। जहाँ पशुता छिपी होगी, दानवता छिपी होगी, वहाँ भला श्रेष्ठ मानवता कैसे विकसित हो सकती है? अहंकार के अभाव ही में श्रेष्ठ मानवता का विकास होता है। अहंकार के पूर्ण विसर्जन के उपरान्त ही प्रभुत्ता के दर्शन होते है। **मार्दव में, मृदुता में हृदय की कोमलात में ही परमात्मा छिपा हुआ है। तभी उसकी प्राप्ति हो सकती है।**

'भूदोर्भावः इति मार्दवम्'। मृदुभाव, कोमल परिणाम को ही मार्दव धर्म कहते हैं। मार्दवधर्म की उपलब्धि सभी प्राणियों को नहीं हो पाती क्योंकि 'मार्दव वीरस्य भूषणम' मार्दव वीर का आभूषण है। और यथार्थ

में वीर वही होता है जो मान का मर्दन करता है। सम्यक दृष्टि प्राप्त जीव ही भव का मर्दन करने वाला होता है। इस वीर का अपूर्व शस्त्र होता है उसका संयम। इस संयम से ही वह मान का मर्दन करता है। इसे हम इस प्रकार भी कह सकते है कि मार्दव धर्म संयमी का आभूषण है। मार्दव धर्म आत्म ज्योति को जागृत करने वाला विज्ञान है। **मार्दव धर्म के सद्भाव में ज्ञान-स्वरूप चैतन्यमयी आत्मा का बोध होता है। इसे जागृत करने में मार्दव धर्म पूर्ण रूप से सक्षम है।**

यह धर्म मानव की ऊर्जा शक्ति को संग्रहित करता है, आत्मा को शक्तिशाली बनाता है। इसके ठीक विपरीत अहंकार मानव को क्षीण बनाता है, कमजोर बनाता है। कमजोर मानव की यह पहिचान है कि उसे लौकिक मान-सम्मान, पद-प्रतिष्ठा, वैभव प्राप्ति की, इसके संचय की, चाह होती है। मानव की सबसे कमजोर कडी अहंकार है। इसी अहं के कारण वह स्व से, अपने परमात्मा से विमुक्त हो जाता है। हिन्दी के प्रसिद्ध कवि कबीर ने भी इसे सच्चे हृदय से स्वीकारा है कि "मैं था तब हरि नहीं"। जब **हृदय में अहंकार भरा होगा, तब उसमें भला ईश्वर का समावेश कैसे हो सकता है।** फिर अहंकार रूप का हो, वैभव का हो, पद-प्रतिष्ठा का हो, अपनी किसी विशेषता का हो, योग्यता का हो। इसके अनन्त रूप हो सकते है; किसी भी रूप यह नितान्त अहितकर ही है। जो अपने शरीर को सजाते संवारते है। यह भी उसका एक विलोभनीय घातक स्वरूप है। **संतों को देखिये! वे शरीर के प्रति कितने कठोर रूप से निस्पृह: होतें हैं।** परन्तु मानव प्राणी इस कमजोरी को लिये हुए ही जीता है, और इसी के साथ उसका प्राणान्त भी हो जाता है।

मैं भी कुछ हूँ। मात्र इसकी अभिव्यक्ति के लिये वह अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगा देता है। अपना सम्पूर्ण जीवन नष्ट कर देता है। परिणाम स्वरूप उसके जीवन में दुःखों का, पापों का आस्त्रव होता है। आँधी उड़ाकर ले जाती है। जीवन में शुभा-शुभ कर्मों की निशानी भर रह जाती।

आज का मानव मृत्यु से नहीं ड़रता। ड़रता वह इस बात से है कि जिस अहंकार को जीवन भर पालपोसकर बड़ा किया, कहीं अंत समय में वह न बिखर जाए.......इस बात से उसे डर लगता है। जो मौत से भयभीत होते हैं अहंकार पर उनकी पकड़ उतनी मजबूत नहीं रह जाती और उनका 'मैं' भी फिर उतना सशक्त नहीं रह जाता।

यह 'मैं' ही संसार की उत्पत्ति का कारण है...... बीज स्वरूप है। इस बीज को 'मैं' का 'राशन-पानी' खाद्य मिलना प्रारम्भ हो जाता है, तब यह अहंकार अत्यन्त पुष्ट होकर, विशाल वृक्ष का रूप धारण कर लेता है। इस वृक्ष में फिर ऐश्वर्य, पद-प्रतिष्ठा, बल, ज्ञान, तप आदि के फल लगने लगते हैं। **ज्ञान एवं तप में भी अहंकार छिपा रहता है।** इस प्रकार प्राणी सोचने लगता है कि मुझसे बड़ा अब कोई नहीं है। मैं ही विश्व में सबसे बड़ा हूँ?

अहंकार के अंकुरित होते ही मानव में "चाह" भी उत्पन्न होने लगती है। किसी वस्तु, तत्व के लिये "चाह" उत्पन्न होना ही अहंकार का प्रभाव है। धन प्राप्ति की चाह; यश प्राप्ति, भवन-निर्माण विश्व में कुछ सर्वोच्च होने की चाह यह सब अहंकार के ही पोषक है, उसी के द्योतक हैं। निकृष्ट कार्य करके भी उत्कृष्ट होना चाहता है...... है न आश्चर्य! यह चाह ही उसे गगन में उड़ने वाली उस कटी पतंग के समान बना देती है, जिसके संचालन के लिये, पतन से बचाने के लिये कोई ड़ोर नहीं हैं, और जो कभी भी किसी भी क्षण नीचे आकर विनष्ट हो सकती है। पतंग आकाश में ड़ोरी एवं हवा की सहायता से कितनी भी ऊँचाई तक जा सकती है, किन्तु ड़ोर टूटने पर, कटने पर वह उतनी ही नीचे आ जाती है। अहंकारी मानव की भी जीवन में यही संभाव्य स्थिति है।

अहंकार अत्यन्त सूक्ष्म होता है। वह शीघ्र ही स्वयं की पकड़ में नहीं आता। हम नित्य ही अहंकार की चर्चा करते है; उससे अद्भुत दुगुर्णों की भी चर्चा करते है, उसे छोड़ने की भी बातें करते हैं, परन्तु इस चर्चा के दौरान भी हम अहंकार से आकंठ भरे होते है, और वह हमारें अंतः करण में छिपा, मन्द-मन्द मुस्कराता रहता है, हमारी समस्त कमजोरियों को जानता हुआ, उनका जायजा लेता रहता है। एक रूष्ट माँ, अपने उदण्ड बेटे से कहती है- ठहर जा दुष्ट! आज तुझे घर से बाहर निकाल कर ही रहूँगी। "आ तो अब घर में, तेरी टाँग तोड़ दूंगी" - परन्तु इन उक्तियों में जितनी सत्यता छिपी होती है उतनी ही सत्यता से हमारे अहंकार को त्यागने में भी होती है-और अहंकार इसे भली भाँति जानता है, इसीलिये तो वह मंद-मंद मुस्कराता रहता है हमारें निश्चय का, वचनावलियों का आनन्द प्राप्त करता रहता है। वह यह भली भाँति जानता है कि यह सब ऊपर-ऊपर का दिखावा है, अपने को निकालता कोई नहीं हैं।

हमारी सब चर्चाएँ इस अहंकार की अपेक्षाकृत उस उदण्ड बालक की उदण्डता की भाँति उलटे पुष्ट ही करती है। जिसकी माँ कौतुक वश उस चपल बालक की उदण्डता से त्रस्त हो (किन्तु मन ही मन उससे ही प्रसन्नता का भी अनुभव करती हुई) किसी पड़ौसन से कहती है कि- "अरी चाची! देख तो यह दुष्ट कितना नटखट हो गया है। मैं तो बाज आई इससे। इसने तो मेरी नाक में दम कर रखा है। मेरी अक्ल कुछ काम नहीं कर रही है कि अब मैं क्या करू? यह नित नई-नई हरकतें करता ही रहता है। वह "चाची" ही नहीं, आप और हम सब इस शिकायत की सत्यता को, इसकी शक्ति को भली-भाँति जानते है। बस ठीक यही हाल हमारें उस रवैय्ये का होता है जिससे माँ कि शिकायत सुनकर उसकी खीज से आनन्द लेता हुआ बालक कोने में खड़ा-खड़ा मुस्कराता रहता है। इसी प्रकार हमारा अहंकार भी हमारी चर्चाओं से प्रसन्न हो पुष्ट होता रहता है। वह भली भाँति जानता है कि ये हमें अपने दिल से निकालना थोड़े ही चाह रहे हैं, यह तो मात्र दिखावा भर कर रहे हैं।

कल्पना कीजिये आप किसी से अंग्रेजी में या किसी से अन्य विदेशी भाषा में बात कर रहे हैं और कोई व्यक्ति, जिसे वह भाषा नहीं आती है, अथवा उतनी अच्छी नहीं आती है, जितनी अच्छी तरह से और सफाई से आप बोल रहे हैं और वह अत्यन्त कौतूकपूर्वक, कुतूहल पूर्वक आपकी ओर देख रहा है-तब सहज ही आप स्वयं में कितने गौरव का अनुभव करते हैं। उस समय आप निश्चित ही अहंकार के घोड़े पर सवार रहते हैं। यह घोड़ा हवा से बातें करता हुआ, वायु वेग से उड़ता हुआ........अत्यन्त तीव्र ग्रामी घोड़ा होता है। उस पर बैठे हुए, सैर करते हुए आप एक अत्यन्त सुखद अनुभूति से, गुदगुदी-सी महसूस करते हुए अभिभूत हो उठते हैं। आप अनन्त आकाश में उड़ने लगते हैं। भूमि से आपका सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है। क्योंकि आप विदेशी भाषा फर्राटे से बोल रहे हैं और लोग आपकी ओर, अत्यन्त कौतुक से देख रहे हैं। **अहंकार के लिए हवा में उड़ने के लिये, बस इतना सा कारण भी पर्याप्त होता है।**

जब आप सुन्दर कपड़ों में होते हैं वे अच्छे ढ़ंग से फैशन के अनुरूप सिले होते हैं तब भी आपका अहंकार पुष्ट होता रहता है। आपके स्नायुओं में एक अनोखा तनाव रहता है। चाल में एक कड़ापन, अकड़ रहती है। आप एक स्वस्थ-प्राकृतिक, Normal मनुष्य नहीं होते। उस समय आप कुछ और ही, अद्भुत मनुष्य होतें हैं। इसी प्रकार जब आप किसी द्विचक्र वाहन पर द्रुतगामी कार या स्कूटर पर सवार होते हैं

तब भी आप अहंकार से परिपूर्ण होते हैं। आप स्वयं को उस वाहन का स्वामी समझते है, बड़ा आदमी समझते है। पैदल चलने वाला, साइकिल पर चलने वाला, उस समय आपसे ''छोटा'' होता है।

इसी प्रकार जब आप अपनी सुन्दर, सुघड़ सुविध पत्नी के साथ शाँपिग के लिये अथवा कोई 'शो' देखने या 'पिकनिक' आदि के लिये, सैर सपाटे के लिये जा रहे होते हैं- और मार्ग में आपका कोई परिचित मित्र मिल जाता है, तब आप प्रयास पूर्वक उसकी ओर न देखने का, अनदेखा करने का प्रायस करेंगे। आप यह भासित करेंगे कि आपका ध्यान उसकी ओर नहीं है। यदि मित्र ने भी स्वाभाविक रूप से या सौजन्य वश, शालीनता वश् आपकी ओर ध्यान नहीं दिया तो आप उससे नाराज हो जायेंगे। मन ही मन उससे बात न करने का निश्चय कर लेंगे। और यदि कोई तिरछी निगाहों से आपकी 'उनकी' ओर देखकर आपको नमस्ते कर लेता है, तब भी आप सुखद अहंकार से तन जाते हो चारों ओर दबी दृष्टि से इस गौरव का अनुभव करते हुए देखते हो कि देखिये, लोग मुझे नमस्कार कर रहें हैं। मैं कितनी अहमियत रखता हूँ। आप भी मुझे नमस्कार कीजिये, झुकिये- मेरे कारण मेरी इस सुविधा सुन्दर सुस्वरूप पत्नी के कारण। **सुन्दर पत्नी का पति होना भी कोई कम सौभाग्य की, कम गौरव की बात नहीं है। इसके लिये भी भाग्य चाहिये। पूर्व जन्मों में कृ.त-पुण्यों के फलस्वरूप ही नसीब होती है सुन्दर पत्नी! न जाने इस तरह के कितने ही विचार आते-जाते हैं आपके चंचल मन में।**

यदि आप एक शिक्षक हैं— और आपके परिचित किसी छात्र ने सबके समक्ष, झुककर आपके चरण स्पर्श कर लिये- उस समय आसमान भी आपके समक्ष ओछा प्रतीत होने लगता है। विनम्र गर्व की अनुभूति से स्नायु कुलबुलााने लगते हैं। सिर में तनाव आ जाता है; आखो में एक अनोखी चमक आ जाती है आप सोचने लगते हैं, देखिये कितना अच्छा है यह छात्र जो सबके समक्ष इतना दीन होकर मेरा सन्मान कर रहा है। उस दृश्य की छबि को, उस गुदगुदाहट को अनन्त समय तक आप अपने ह्रदय में सेते रहते हो। यह सब अहंकार ही है।

यदि आप इस प्रकार की किसी अहंकार की अनुभूति से भरे हुए मुझे सुनने का प्रयास कर रहे होंगे, तो आप मुझे न तो ठीक से सुन ही पायेंगे न समझ पायेंगे। उदाहरणों में आपकी अनुभूतियाँ भरी होती है, :सन्त। का उनसे कोई सम्बन्ध नहीं होता, सन्त . उन सबसे तटस्थ

बहुत दूर होते हैं। वे उनके परिचय से आपको जागृत करने का प्रयत्न करते है। अहंकार की तलाश में भला आप सन्त। को क्या समझ पाएंगे?

शास्त्र सभा में जाने वाले. या आने वाले अनेकों सज्जन नियत समय पर कभी नहीं जाते, देरसे ही जाते हैंकिन्तु सबसे आगे, सुविधापूर्ण स्थान में बैठने का प्रयास करते हैं। यदि वे पीछे बैठते हैं तो कौन उनकी ओर ध्यान देगा? उनका महत्व कम नहीं है, तब आपकी आँखें उन्हें नहीं निहारती । इन आँखों के माध्यम से आपका अहंकार ही उन्हें निहारता है। **आपकी आँखेंआपके हृदय का, मन का दर्पण है। उनमें आपकी यथार्थ छबि तुरंत अंकित हो जाती है। काश हम उन्हें हमेशा सही पढ. पाएँ।** Your eyes are athe mirror of heart· कितनी सही और सुन्दर अभिव्यक्ति है।

ऐसी स्थिति में आप में स्थित अहंकार अणु-अणु से कण-कण से, रोम-रोम से अपनी अतृप्त प्यास बुझाना चाहता है। अत्यन्त उत्कण्ठा पूर्वक आतुर रहता है वह इस बात के लिये! आपकी आँखें यह देखती ही रहती हैं कि आपका इशारे से भी तो अभिवादन कर दे; इतना भर कह दें.....सबके समक्ष कि, यहाँ बैठ जाइये। आपके कान भी इन शब्दों को सुनने के लिये व्याकुल से रहते हैं कि आप हमारे समीप यहीं बैठ जाइये; आप इस नगर के अत्यन्त सम्माननीय धर्मात्मा व्यक्ति हैं। अरे! नहीं साहब, आप वहाँ कहाँ बैठेंगे, आपका तो स्थान यहाँ हैं.....सबसे आगे है और ऐसे ही तत्सम वचनों को सुनने के लिये आप और हम सब, ऐसे अवसरों पर, अत्यन्त लालायित, अत्यन्त व्याकुल रहते हैं-बैचेन रहते है। एकं प्रकार की अजीब सी-अब तक अव्यक्त परेशानी का अनुभव करते हैं। जहाँ प्राणों पर इतना बोझ हो, इतनी परेशानी हो; शान्त चित्त से प्रवचन सुनना कैसे सम्भव है। इस पर से समझ लीजिये कि इस अहंकार की महिमा कितनी अगाध है.....उससे अछूता रहना, बचपाना कितना कठिन काम है।

कुछ प्राणी, ''आत्म कल्याण'' की इच्छा से, घर-द्वार, परिवार का परित्याग करकेअन्यत्र चले जाते है! सगे सम्बन्धियों को छोड़कर सन्यासी हो जाते हैं, साधू बन जाते हैं। इस प्रकार साधु बनना और साधु होना.....इन दोनों स्थितियों में पर्याप्त रूप से, अत्यन्त मौलिक अन्तर है। साधू तो कई भी अत्यन्त सरलता से बन सकता है, परन्तु हर कोई साधू नहीं हो सकता। साधू बनना मात्र एक शारीरिक प्रक्रिया है। भभूती लगा

ली, भस्म मल ली, गैरिक वस्त्र पहिन लिये। कमण्डलु थाम लिया, माला हाथ में ले ली। इन्हीं मान्यताओं के आधार पर कोई भी रूप धारण कर लिया और साधु बन गए। अतः इस प्रकार बनना आसान है। परन्तु साधु होना यह अंतरंग प्रक्रियाहै। संसार की भावना के विसर्जन के संकल्प से यह प्रारम्भ होती है।

जिन-शासन ने अन्तरंग और बहिरंग दोनों के त्याग को महत्व दिया है। इनमें अन्तरंग त्याग को विशेष महत्व प्रदान किया है। जहाँ अन्तरंग त्याग के पूर्ण शुद्ध भाव विद्यमान है, वहां बहिरंग त्याग नियम से ही हो जाता है। परन्तु बहिरंग त्याग के उपरान्त यह आवश्यक नहीं कि अंतरंग त्याग भी हो ही जाए! बहिरंग त्याग करने वाले शारीरिक तल से तो अवश्य ही ऊपर उठ जाते हैं, किन्तु मन के तल से उनका सम्पर्क तब भी बना ही रहता है किन्तु इस तल से अभी उन्होंने अहंकार का विसर्जन जो नहीं किया है। उनके मन में विभिन्न प्रकार की आकांक्षांए, महत्वाकांक्षाएँ जन्म लेती रहतीं हैं। वे यह कहते हुए पाये जाते हैं कि- "तुमने क्या छोड़ा है? किस बात का त्याग किया है- यह तो कुछ भी नहीं है- मैंने तो इतने लाख की जायदाद को लात मारी है।"

निःसंदेह, जैसा वे कहते हैं, उन्होंने जायदाद को लात तो अवश्य ही मारी है, उसके अभाव में अनेकों सुख-सुविधाओं को भी त्यागा है, किन्तु उस सम्पत्ति पर से उनके मन की पकड़ अभी ढ़ीली नहीं हो पाई है। पुनः वे उसकी गिरफ्त में कभी भी आ सकते है। यह अभिव्यक्ति मात्र उनके अहंकार की ही पुष्टि करती है। अपनी प्रशंसा की अपनी स्तुति की अब भी उन्हें चाह है। कभी-कभी वे अपने शिष्यों की योग्यता पर गर्व करते पाये जाते हैं। उनकी गर्वोक्ति तब इस प्रकार की होती है-

"मैं तो अपने संघ में 'मैरिट' वालों को ही स्थान देता हूँ। इस संघ में तो पढ़े लिखे लोग ही स्थान पाते हैं। देखिये अमुक साधु इतना पढ़ा लिखा है, इतना होशियार हैं।

परन्तु ध्यान रहे- **महावीर स्वामी कहते हैं कि-**

साधुता से मैरिट का एवं मैरिट का साधुता से रंच मात्र भी कोई सम्बन्ध नहीं है। मैरिट का सम्बन्ध तो अहंकार से होता है, साधुता से नहीं। वहां तो मात्र विनम्रता ही होती है। वह अपने विषय में अपनी

योग्यता अपनी उपलब्धियों के विषय में तो एकदम ही मौन रहता है। कभी कुछ भी नहीं कहता। उनके साथ रहने पर ही उनका, योग्यताओं का पता चलता है। वह उनका कभी भी ढ़िंढोरा नहीं पीटता, उनका प्रकाशन नहीं करता।

धन का अभिमान करने के लिये सामने कोई एक निर्धन प्रति द्वन्दी चाहिये, ज्ञान का प्रदर्शन करने के लिये सामने एक अल्पज्ञानी या अज्ञानी चाहिये। अतः अहंकार बिना द्वेष भावना के कभी भी विकसित नहीं होता। साधुत्व भी तभी प्रगट्ट होता है, जब मान का पूर्ण रूपेण अभाव हो। "मेरे संघ के सब साधु पढ़े लिखे है" इसका यही अर्थ हुआ कि अन्य संघ के साधु अपेक्षाकृत कम पढ़े लिखे है। यह अभिव्यक्ति भी अहंकार का ही प्रदर्शन करती है।

अहंकारी मानव को सबसे प्रिय होती है उसकी प्रशंसा! प्रशंसा का नशा मदिरा के नशे से किसी प्रक़ार भी कम नहीं होता। "अब गिरा उठा मतवाला, प्याले में फिर भी हाला" - ऐसे स्थिति होती है उसकी। ठोकरे लगने के पश्चात भी उसका नशा नहीं उतरता! मदिरा मुख से पी जाती है। इसका नशा कुछ समय के लिये ही होता है। पीनेवाला लड़खड़ता है, गिरता है, फिर उठता-गिरता है, परन्तु पुनः-पुनः पीता ही जाता है। परन्तु प्रशंसा रूपी मदिरा कानों से पी जाती है। **इसके पीने से भी मनुष्य का पतन होता है, वह गिरता है, परन्तु इस गिरने का उसे स्वयं, एवं अन्यों को भी शीघ्र ही पता नहीं चलता। इससे उसे उठाने वाले तो प्रायः नहीं ही मिलते; उसे गिराने वाले, उसकी निन्दा करने वाले पग-पग पर मिलते है। अतः कानों से पी जानेवाली यह स्तुति रूपी मदिरा अत्यन्त भीषणकारी परिणामकारी होती है।**

एक शास्त्री प्रवचनकार थे। बहुचर्चित, सुप्रसिद्ध। उनकी ख्याति लोक में चहूँ ओर फैली हुई थी। उनकी उस ख्याति को सुनकर मैं भी एक दिन उनकी शास्त्र सभा में जा पहुंचा। उनकी प्रस्तुति, भाषा, शैली अत्यन्त मधुर एवं प्रभावशाली थी। सुनकर मन अत्यन्त गद्-गद् हो उठा। प्रवचन का विषय था "अहंकार" इस विषय पर मैने अपने आयुष्य में पूरे साठ मिनिट का प्रवचन प्रथम बार सुना। उन्होंने अत्यन्त सुन्दर रूप से मार्मिक ढंग से अहंकार का विश्लेषण किया था। स्वाभाविक ही मैं उनकी उस अनूठी प्रतिभा से अत्यन्त प्रभावित हुआ। सहज ही जिज्ञासावश

उन प्रबुद्ध प्रवचनकार जीसे मैं मिलने चला गया। सोचा क्योंनसमय का सदुपयोग किया जाय।

उनके समीप दो-तीन सज्जन भी उपस्थित थे। वे सब उनके प्रवचन की, उनकी भाषा की, उनकी शैली की, उनकी शब्द रचना एवं प्रतिभा की भूरी-भूरी प्रशंसा कर रहे थे। प्रवचनकार भी अपनी प्रशंसा सुनकर मुस्कराते हुए प्रसन्नता व्यक्त कर रहें थे। मैं चुपचाप वहां से उठा और बाहर चला आया। अहंकार का इतनी सूक्ष्मता से विश्लेषण करने वाले स्वयं अपनी प्रशंसा सुनकर मुग्ध हुए जा रहे थे। उनके प्रति मेरी श्रद्धा को बहुत ठेस लगी। वह वहीं समाप्त हो गई। मैं विमूढ़ हो मन ही मन सोचने लगा।

"कितना अन्तर है इनकी कथनी और करनी में"

सोचा उन्हें दोष देने में कोई लाभ नहीं। **अहंकार का सूक्ष्म विश्लेषण करना और प्रत्यक्ष उस पर विजय प्राप्त करना, कोई बच्चों का खेल नहीं है। जमीन आसमान का अन्तर है इसमें!** अपनी प्रशंसा सुनकर खुश न हों, निन्दा सुनकर एकदम रूष्ट न हो, वही व्यक्ति तो अहंकार पर विजय प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार मन में अनेक प्रकार की चिन्तन की धाराएँ प्रव्राहित हो रहीं थी।

अतः मैं आपसे यही कह रहा हूँ कि "साधु बनना" और "साधु होना" दोनों में पर्याप्त अन्तर है। बनने में बाह्य दिखावा मात्र है, होने में पूर्ण समर्पण की भावना है। सन्यास ग्रहण कर लिया, पत्नी को छोड़ दिया, घर-बार-परिवार का त्याग कर दिया, शरीर के समस्त परिणामों को छोड़ दिया; परन्तु यदि मन की पश्वशता को, इसकी गुलामी की को यदि नहीं छोड़ा, तो यह तो साधु बनना ही हुआ। साधु होना नहीं हुआ। मन के अतल तल से मुक्त हुए बिना समस्त साधना बेकार है। **मुक्त वही हो सकता है जिसने मन की गुलामी को छोड़ दिया है। अपने मन की उन समस्त जंजीरों को तोड़ फेंका है, जो उसे जकड़े हुए थीं।** ऐसा प्राणी ही यथार्थ में उन्मुक्त वायुमण्डल में मुक्तता की श्वास ले सकता है।

एक साधू था। अपनी अत्यन्त उत्कट साधना से, कठोर व्रत एवं तपश्चर्या पूर्ण, जीवन यापन करने के कारण सम्पूर्ण देश में प्रसिद्ध हो

गया। लोग-बालक-वृद्ध-श्रद्धालु महिलाएँ काफी दूर-दूर से उनके दर्शन के लिये पहुँचने लगे। घर-घर में उसकी तपस्या की चर्चा होने लगी। उसकी प्रसिद्धि का गुणगान होने लगा। उस देश का राजा उसका बचपन का साथी था, मित्र था। काफी समय से प्रेम था इन दोनों में। राजा के कानों तक भी उसकी प्रसिद्धि की चर्चा पहुँची। वह भी अत्यन्त प्रसन्न हो, श्रद्धापूर्वक एक श्रीफल लेकर साधु के श्री चरणों में पहुँचा। उसने उस साधु से अपने नगर में पधारने का आग्रह किया। अनुग्रह की याचना की! धर्म-लाभ की मनोकामना व्यक्त की।

साधु-महाराज हित-मित भाषी थे। अत्यन्त कम बोलते थे। उन्होंने महाराज से 'हा' या 'ना' कुछ भी नहीं कहा। कोई प्रत्युत्तर नहीं दिया। राजा ने देखा कि उनका प्रस्ताव सुनकर साधू महाराज मौन हैं अतः "मौनम् सम्मति लक्षणम्" समझकर वे अपने नगर को लौट आये। उन्होंने सोचा -

साधु के श्री चरणों में विनम्र भावना से प्रार्थना अवश्य ही की जा सकती है किन्तु उन्हें किसी भी बात के लिये कदापि बाध्य नहीं किया जा सकता। उन पर किसी का शासन नहीं चलता। वे अपनी मर्जीकेमालिक होते हैं। परन्तु शुद्ध अन्तरंग की सात्विक भावना एक न एक दिन पूर्ण अवश्य ही होती है। मात्र धैर्य एवं श्रद्धापूर्वक प्रतीक्षा आवश्यक है। समय का कोई प्रतिबन्ध वे स्वीकार नहीं करते।

एक दिन राजा की उस भावना का परिपूर्ति का समय भी आ गया! साधु महाराज ने राजा के नगर की दिशा से प्रस्थान किया। राज ने अत्यन्त प्रसन्न हो नगर द्वार से राजमहल तक मखमल की सुन्दर कालीन बिछा दिये। समस्त नगरवासियों ने भी अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक अपने घरों में घी के दीपक जलाये। राजा ने सड़कों पर इत्र छिड़कवाया नगर की गलियाँ, विथियाँ सुगंधि से महकने लगीं। सर्वत्र सुन्दर बन्धनवार बांधे गये। समस्त नर-नारी, आबाल-वृद्ध साधु के आगमन की खुशी से अत्यधिक उत्साहित थे। उत्साह की उमंग में मृदंग, ढ़ोल, मंजीरे आदि वाद्य ले उन्होंने नृत्य एवं गायन प्रारम्भ कर दिया। सम्पूर्ण वातावरण में एक अपूर्व आनन्द एवं उत्साह का समा था। परन्तु......

इस संसार में विघ्न संतोषी भी कम नहीं होते। अच्छे कामों में विघ्न डालने में ही उन्हें वास्तविक आनन्द होता है। कोई भी कार्य सुचारू

रूप से आनन्द पूर्वक सम्पन्न हो, यह उन्हें फूटी आँख नहीं सुहाता। बस वे 'नारद' मुनी बन जातें हैं। नारद मुनी की भूमिका निभाने में उनका रॉया-रॉया फड़कने लगता है। लोगों को आपस में लड़ाने में उन्हें बड़ा मजा आता है।

बस इसी प्रकार किसी नारद ने साधु महाराज के कान भर दिये। बोले- महाराज! आप वास्तव में अत्यन्त भोले और सीधे हैं। परन्तु यह दुनिया इतनी सीधी नहीं है। इसमें यथार्थ में मित्र और शत्रु को पहिचानना अत्यन्त मुश्किल है। कौन आपका यथार्थ में स्वागत करता है, करना चाहता है और कौन आपको नीचा दिखाना चाहता है, आपकी तपस्या को ललकारता है यह पहिचान पाना साधारण मनुष्य के वश की बात नहीं हैं।

"अब यहीं देखिये न! इस नगर के राजा साहब आपके मित्र रह चुके है। भला उन्हें यह सब करने की क्या आवश्यकता थी। आप उनसे किस दृष्टि से कम है। भले ही उनके समीप वैभव सम्पन्नता हो, किन्तु इससे क्या होता है......उन्होंने नगर को इतनी खूबसूरती से सजाया है कि उस चमक-दमक के समक्ष आपकी तपस्या फीकी दिखाई पड़े। कितना घमण्ड है उन्हें अपने वैभव का!

साधु महाराज ने यह सब अत्यन्त ध्यान पूर्वक सुना और वे भीं प्रभावित हो गये। बोले- "ठीक है उन्हें कर लेने दीजिये अपने वैभव का प्रदर्शन। हम भी दखेंगे उनके वैभव को"

- और जब नगर के तोरण द्वारा पर पहुँचे तब वहाँ पर नगर के समस्त प्रतिष्ठित नर-नारियों ने, वृद्धों ने, अत्यन्त श्रद्धापूर्वक उनका भावभीना स्वागत किया, ग्रीष्म ऋतु थी। चिल-मिलाती धूप थी किन्तु जब सबने देखा कि साधु महाराज के पैरों में घुटनों तक कीचड़ लगी हुई है, तब उनके आश्चर्य की सीमा न रहीं। लोग सोच रहे थे कि यहाँ तो वर्षा के दिनों में भी इतना पानी नहीं बरसता कि सड़कों पर इतनी कीचड़ हो जावे। यह तो रेतीला, मरूस्थलीय प्रदेश है। फिर कीचड़ कहाँ से आ गई। महाराज श्री के चरणों में इतनी ढ़ेर सारी कीचड़ कहाँ से लग गई?

राजा की सूक्ष्म दृष्टि से भी यह तथ्य छिपा न रह सका। उन्होंने भी इसे प्रत्यक्ष अपनी आंखों से देख लिया। परन्तु उन्होंने सोचा जन समूह में सबके समक्ष कुछ पूछना उचित नहीं होगा, किन्तु एकान्त में

मैं इस रहस्य के विषय में अवश्य ही पूछूँगा।

साधु महाराज अत्यन्त शान से, गर्व मिश्रित सुखद अनुभूति पूर्वक सुन्दर-सुन्दर कालीनों पर कीचड़ सने अपने पैरों की छाप छोड़ते हुए चल रहे थे। जब महल में प्रवेश किया तो बची हुई समस्त कीचड़ को उन अत्यन्त सुन्दर कालीन से रगड़-रगड़ कर, पोंछ कर साफ करने लगे।

एकान्त पाते ही महाराज से, राजा ने अत्यन्त विनम्रता पूर्वक पूछा स्वामी! क्या मार्ग में किसी प्रकार का कोई संकट उपस्थित हो गया था जिसके फलस्वरूप इन श्री चरणों में इतनी कीचड़ लग गई है?

साधू महाराज इस उत्तम स्वागत को न सहकर, इसे अपनी तपस्या को चुनौती समझकर अहं की चोट से उफन से रहे थे। रूष्ट तीखे स्वर में बोले-

कोई संकट नहीं आया था,. न ही कोई किसी प्रकार की दुर्घटना हुई। संकट और दुर्घटनाएँ मुझसे कोसों दूर रहतीं हैं? मेरी कृपा के फलस्वरूप ही तुम यह चमत्कार देख रहे हो। तुम अपने आपको समझते क्या हो? जब तुम सड़कों पर मखमली कालीन बिछवाकर अपने वैभव का प्रदर्शन कर सकते हो, तब मुझ जैसे साधारण साधु भी उन पर कीचड़ सने पैरों से चलकर तुम्हारे गर्व को चूर्ण करने की सार्मथ्य रख सकते हैं? साधुओं को वैभव से क्या? यह प्रदर्शन प्रिय नहीं होता। इससे उन्हें क्या लेना-देना है। यह सब मैने स्वयं अपनी इच्छा से, अपने संकल्प से किया है......मात्र तुम्हें नसीहत देने के लिये। तुम्हें एक सबक सिखाने के लिये......समझे।"

राजा तुरन्त समझ गये कि यह सब अहंकार की ही परिणति है। सम्पूर्ण स्थिति उनके समक्ष एकदम स्पष्ट हो गई। उस ओर ध्यान न देकर पिछले मधुर सम्बन्धों का स्मरण कर पूर्ववत उन्होंने साधू महाराज को अपने गले से लगा लिया और स्नेह सिक्त स्वर में बोले -

मित्र! मैं तो सोच रहा था कि साधु बनने के उपरान्त तुम पूर्ण रूप से बदल चुके होंगे। अब तुम नित्य आत्मा-नन्द में लीन रहते होंगे। आध्यात्मिक क्षेत्र में पर्याप्त उच्च स्थान पर होंगे, किन्तु हम दोनों भी आज पूर्ववत उसी स्थान पर खड़े है..... कोई प्रगति नहीं हुई। जहाँ से

हमने बिदा ली थी, उससे रंच मात्र भी आगे नहीं बढ़े है।

मैं सोचता था कि मैं अपने साम्राज्य को विशाल विस्तार प्रदान कर रहा हूँ, विजय पताकाएँ चहुँ ओर फहरा रहा हूँ इसलिये अत्यन्त अहंकारी बन गया हूँ, क़िन्तु तुम तो मुझसे भी बाजी मार ले गये। क्या यह सब तुम्हारी तपस्या की ही उपलब्धि है? अहंकार का यह प्रदर्शन तो यही प्रमाणित करता है कि तुम्हारी तपस्या मात्र दिखावा है, बनावटी है। इस वेष में भी यदि अहंकार का परित्याग नहीं कर सके, तब फिर इसे कब छोड़ पाओगे? मित्र याद रखो, यह अहंकार रूपी नाग एक दिन, तुम्हें अवश्य ही डस लेगा। तुम इस तपस्या के माध्यम से किसी अन्य को नहीं, अपितु स्वयं को ही ठग रहे हो। यह निश्चित जानो, कि इस उग्र अहंकार ने तुम्हारी तपस्या को बिल्कुल ही निष्फल बना दिया है। इसे अब त्याग दो; इस पर विजय प्राप्त करो। तभी तुम्हारा, मेरा हम सब का कल्याण है। तुम्हें इस प्रकार उपदेश देने की मेरी तनिक भी पात्रता नहीं है, किन्तु एक मित्र के नाते ही मैं अत्यन्त सच्चे ह्रदय से तुमसे यह निवेदन कर रहा हूँ। इसे अन्यथा मत मानना।

यह 'मैं' और 'समस्त अहंकार' तुम्हें अपनी अन्तरात्मा से उतना ही दूर कर रहा है। इससे तुम्हारी अन्तःदृष्टि कभी नहीं खुलेगी। तुम इसी तरह भटकते रहोगे। जन्म-जन्मान्तरों की तुम्हारी यह भटकन कभी समाप्त नहीं होगी। हमारा यह अहंकार ही अर्न्तदृष्टि की प्राप्ति में बाधक बनता है। **यह 'मैं' ही हमारे ह्रदय में धर्म के वास्तविक स्वरूप को प्रविष्ट नहीं होने देता। 'मैं' का हमारी आत्मा पर इतना अधिक बोझ है कि हम धरातल से ऊपर ही नहीं उठ पा रहे हैं!**

जिसे 'मैं' के ऊपर उठना है, आत्म-साक्षात्कार करना है, उसे 'मैं' के घने अंधकार को तिरोहित करना ही होगा, उसे गलाना होगा। उसे उठते-बैठते, सोते-जागते, काम करते समय सर्वदा यह स्मरण रखना होगा कि मेरी क्रिया अहंकार से तो नहीं निकल रही है? मैं जो भी निवेदन कर रहा हूँ , वह मात्र 'अहंता' का विस्तार तो नहीं हैं? मैं यहाँ जो प्रवचन कर रहा हूँ- कहीं उसके पीछे यह भावना तो नहीं है कि मैं अच्छा बोल रहा हूँ या नहीं, इस क्षेत्र में मेरा आदर पूर्वक, ज्ञानियों की श्रेणी में, नाम लिया जा रहा है अथवा नहीं! कहीं ''मैं'' अहंकार को पुष्ट करने के लिये ही तो तपस्या नहीं कर रहा हूँ? 'मैं' जो मन्दिरों का निर्माण कर रहा हूँ, करवा रहा हूँ- यह कहीं मेरे अहंकार का ही तो प्रतिरूप नहीं है। कहीं इस निर्मिति के पीछे यह भावना तो नहीं है कि

लोग युगों तक इस तथ्य को जानते रहे, कि इस मन्दिर को मैंने बनवाया है। इसे निर्माण करवाने में 'मैं' ने बहुत परिश्रम किया है।

किसी प्रकार का दान करते समय भी यदि यह ख्याल आ जाये कि मैं दान कर रहा हूँ। मैं दाता हूँ - तब यह दान भी व्यर्थ हो जाता है। इस दान का कोई अर्थ नहीं रह जाता है। इसीलिये कहा है कि गुप्त-दान करो और दाहिना हाथ यदि दान करे तो बाएँ हाथ को उसका पता न चलने पाये। अन्यथा "मैं" के कारण सब व्यर्थ हो जाता है। जो अपने जीवन में 'मैं' के व्यवहार से, इसके प्रभाव से जितना भी शून्य हो जावेगा, वह उतना ही अधिक अपनी उज्जवल आत्मा के सम्मुख होगा। उस दिशा से बढ़ने में उसकी गति भी पर्याप्त तीव्र होगी।

आत्म-पथगामी पथिक को "मैं" के इस भ्रान्ति-पथ को छोड़ना होगा। यह मार्ग उसके लिये निश्चित ही नहीं है। उसका मार्ग ठीक इसके विपरित है। उसे स्वयं अत्यन्त प्रयास पूर्वक इस पर पूर्ण विजय पानी होगी। इसे परास्त करना होगा- इससे हमेशा-हमेशा के लिये मुक्ति पानी होगी। इसे तपस्या की अग्नि में जलाकर भस्म कर ड़ालना होगा। तभी आपको अद्भुत सत्य के दर्शन होंगें। आप आश्चर्य चकित होंगे कि इस मृत्यु के दीपक में आपको जीवन के दर्शन होंगें, अमरता के दर्शन होंगें।

आप में अहंकार के प्रवेश के मार्ग अत्यन्त सूक्ष्म होते हैं। जब आप कहते है, और अत्यन्त प्रामाणिकता से स्वयं के विषय में ऐसा ही सोचते भी हैं कि आप अत्यन्त विनयशील है, आप में किंचित भी अहंकार नहीं है- किन्तु उसी क्षण यदि आप अपने भीतर ध्यानपूर्वक देखेंगे, आत्म निरीक्षण करेंगे, तो पायेंगे कि अहंकार आपके मन में अत्यन्त सज-धज के खड़ा है। जो अहंकार से मुक्त हो चुका है, जिसमें अहंकार नाम मात्र को भी नहीं रह गया है, उसे इस बात का पता भी नहीं चलता कि वह विनम्र है; और विश्वास कीजिये कि जब भी व्यक्ति को इस बात की अनुभूति होती है कि वह विनम्र है, वहाँ से 'कपट' शुरू हो जाता है। अतः इसे समझ लीजिये की 'मैं' यह अति सूक्ष्म भाव तत्व है जो फल के किसी भी अंश में आपका साथ नहीं छोड़ता। आपसे यह भाव कभी भी विमुक्त नहीं होता। **प्रत्येक प्राणी में यह 'मैं' ही वह भयानक अहंकार है उसका** 'Ego' है। इससे उसे मुक्ति पानी ही है। अन्यथा यह आपको पतन की किसी भी सीमा रेखा तक

ले जा सकता है।

अब यह कितनी उलटी किन्तु उतनी ही सत्य और महत्वपूर्ण बात है- इसे भी समझ लेजिये। कल्पना कीजिये कि कोई आपका वध कर रहा है. आपकी हत्या कर रहा है, आपके अमूल्य प्राणों को लेने के लिये तैयार है......बचाव का कोई भी मार्ग या उपाय नहीं है......ऐसी परिस्थितियों में भी आप असीम धैर्य का, साहस का परिचय देते हैं। है न अद्भुत बात......अहंकार के अति सूक्ष्म रूप में आपको यह साहस, यह प्रोत्साहन मिल रहा होता है। यह अहंकार कोई की रूप धारण करके, आपके समीप रहता है आप इसे सेवा, त्याग, देश प्रेम आदि किसी भी सुन्दर नाम से पुकार सकते है- जब भी आप यह अथवा इसके रूप में कुछ भी करते है, वह अहं का ही सुन्दर रूप है। अभी आप उसके भुलावे में आकर कार्य करते है- साहस का परिचय देते रहते है। महावीर स्वामी कहते हैं कि कोई आप को फाँसी पर लटका रहा है, आपके मुहँ पर काला वस्त्र लगा दिया है, फंदा गले में पड़ा हुआ है उस समय भी धैर्य रखना आसान है। जितना बड़ा यह उपद्रव होगा; धैर्य भी उतना विशाल रूप धारण कर लेता है। सर्वत्र आपके धैर्य की प्रशंसा होती है, चर्चाएँ होती है। आपका शरीर फांसी के तख्ते पर चढ़ रहा होता है, परन्तु मन अहंकार पूर्वक खुशियाँ मना रहा होता है। छोटी बातें, छोटी घटनाएँ आपको अस्वस्थ कर सकती है, परन्तु बड़ी बातों में आप धैर्य का प्रदर्शन करते हैं। एक छोटी सी गाली आप पर पहाड़ हो सकती है, वह आप को बर्दाश्त नहीं होगी। गाली सह लेने पर, भला कौन आपकी प्रशंसा करेगा, आपका 'अहं' कैसे तुष्ट होगा? परन्तु ऐसी परिस्थिति में जहाँ आपके प्राण संकट में हो, आप अत्यन्त धैर्य पूर्वक उसका सामना करेंगे। हजारों प्रेक्षक, दर्शक आपके प्रशंसक होंगे- उतनी ही आपके अहं की तुष्टि होगी, वह उतना ही पुष्ट होगा......आप उससे उतने ही सन्तुष्ट होंगे।

इसी अहंकार पर सतत ध्यान रखकर यदि हम विवेक पूर्वक उस पर नियन्त्रण रखें, तब वह अवश्य ही चूर होने लगता है। उसके प्रति सतर्कता बरतने पर वह स्वयमेव गलने लगता है। यह तो ठीक उसी प्रकार है कि मेघाच्छन आकाश में प्रखर सूर्य का उदय होने पर बादल स्वयमेव हट जाते है एवं बर्फ पिघल कर पानी-पानी हो जाता है। इसी प्रकार महिमा मंड़ित विवेक के जागृत होते ही अहंकार छिन्न-भिन्न हो जाता है। तब जीवन में अशान्ति के बादल फटकर शांति की अपूर्व सुखदायिनी शीतल धारा प्रवाहित होने लगती है। अज्ञान का तिमिर तिरोहित

हो, ज्ञान के प्रकाश पुंज से हृदय आलोकित होने लगता है। तब अन्तर्दृष्टि की प्राप्ति हो निरहंकार का जन्म हो जाता है।

वे प्राणी धन्य है जिन्होंने अपनी अमूल्य सांसों का सही सही उपयोग किया है। उन्होंने ही वास्तव में जीवन के यथार्थ सत्य को, सुखद सौन्दर्य को, वांछनीय अमृत तत्व को जाना है। वे ही परमात्मा तत्व को प्राप्त होते हैं। उसमें उनका रूपान्तरण होता है। वे ही यथार्थ में चिन्मय सत्ता की प्राप्ति के अधिकारी है।

चिन्मय की अनुभूति का नाम ही उत्तम मार्दव धर्म है। ऐसे प्राणी के जीवन में ही उसके चरित्र के माध्यम से उत्तम मार्दव धर्म प्रस्फुटित होता है। उसे चैतन्य की प्राप्ति के अग्रसर करने वाला सफल धर्म ही मार्दव धर्म है।

अहंकार का लोप होने पर ही सत्य का सूर्य प्रकाशित होता है। अहंकार के पूर्ण अभाव की स्थिति में ही मार्दव धर्म से साक्षातकार सम्भव है। निर अहंकार की स्थिति ही आत्मा का मूल स्वभाव है। अहंकार की निर्मूल स्थिति में ही जीवन की ज्योति प्रज्जवलित होती हैं, जीवन की यथार्थ प्रथा प्रस्फुटित होती है। जहाँ एक बार अहंकार तिरोहित हुआ, फिर जीवन में दुःख पीड़ा, अज्ञान कुछ भी नहीं रह जाता अहंकार ही इन सब का जनक, इनका पोषक है। जीवन में आत्मा चिन्मय आनन्द की स्थिति में ड़ोलने लगता है, जीवन में एक अनूठा संगीत लहराने लगता है।

मानव श्रेष्ठ दान के माध्यम से लोभ पर विजय प्राप्त कर सकता है। अहिंसा के द्वारा हिंसात्मक प्रवृत्ति पर विजय प्राप्त की जा सकती है। अपरिग्रह के माध्यम से परिग्रह का त्याग संभव है। ब्रह्मचर्य के माध्यम से काम वासना पर विजय प्राप्त की जा सकती है। क्षमा से क्रोध पर विजय पा सकती है। सत्य-असत्य को पराभूत कर सकता है। **पुण्य कर्मों के संचय से पाप का क्षय हो सकता है। यह सब अत्यन्त आसान है, सरल है; किन्तु अहंकार को पराजित करना अत्यन्त कठिन काम है। यह आपके अन्तःकरण के किस कोने में कहाँ छिपा रहकर आपको ललकारेगा, कुछ कहा नहीं जा सकता।**

आप अल्प भी दान करते हैं तो तुरन्त कहने लगते हैं मैंने अमुक व्यक्ति को, अमुक संस्था को इतना दान किया। धर्मशाला का निर्माण

करते है तो उस पर आपका नाम अंकित होना अत्यन्त अनिवार्य हो जाता है। आप समस्त पापों को समाप्त करने का दम्भ तो भरते हैं, परन्तु आपका चिर-परिचित "मैं" आपके साथ-साथ छाया की तरह लगा रहता है। एक पल के लिये भी वह आपसे जुदा नहीं होता। और आप विश्वास कीजिये यहीं "मैं" आपके पतन के लिए कारणीभूत होता है। आपके समस्त पुण्य संचय पर पानी फेर देता है। मुझे एक कथानक याद आ रहा है-

एक महल था। उस महल के समीप एक अत्यन्त विशाल मैदान था। उस मैदान पर कुछ चंचल बालक खेल रहे थे......मौज कर रहे थे। समीप ही एक पत्थरों की ढ़ेरी पड़ी हुई थी। खेल ही खेल में एक बालक ने उस ढ़ेरी में से एक पत्थर उठा लिया और उसे महल की खिड़की की दिशा से फेंक दिया। नीचे पड़ा हुआ पत्थर अब ऊँचा, आसमान की दिशा से सुन्दर महल की ओर उठने लगा, उड़ने लगा। उसने स्वाभाविक ही नीचे पड़े हुए पत्थरों की ओर देखा और गर्व पूर्वक बोला- मित्रों! टा! टा! अब मैं आकाश की सैर के लिये जा रहा हूँ। बेचारे नीचे पड़े हुए पत्थर भला क्या कहते? पड़े-पड़े चुपचाप सुनते रहे। वे देख रहे थे कि उनका एक साथी निश्चित ही आकाश की दिशा से सैर करने जा रहा था। वे निर्जीव थे, निष्क्रिय थे, किन्तु उस क्षण उनके मन में भी सहज ही यह इच्छा उत्पन्न हुई कि काश वे भी उस पत्थर के साथ ही आकाश की सैर कर सकते। परन्तु वे विवश थे उनके पास पंख नहीं थे। परन्तु आज बिना पंखों के उनका साथी उनकी आंखों के समक्ष ही आसमान की सैर के लिये जा रहा था। उसे जाता हुआ प्रत्यक्ष अपनी खुली आँखों से देख रहे थे।

उन्होंने देखा कि वह पत्थर महल की खिड़की के काँच से टकरा गया। काँच चकनाचूर हो गया। पत्थर काँच की दुर्दशा पर खिलखिलाकर हँस पड़ा। बोला- मैंने कितनी मर्तबा ऐलान किया है कि जो भी मेरे रास्ते में आएगा, मेरी गति में रोड़े अटकाएगा, वह इसी भाँति चकनाचूर हो जाएगा। हो गए न तुमभीचकनाचूर! कांच अपने शरीर की यह हालत देखकर रो रहा था.......सिसकियां ले रहा था। परन्तु पत्थर अहंकार से फूलकर गोल गप्पा हुआ जा रहा था। परन्तु पत्थर बेचारे को भी यह नहीं मालूम था कि किसी भी अहंकार के मारे की गति ऊर्ध्व दिशा की ओर नहीं होती! उसकी गति हमेशा ही नीचे की ओर होती है। फिर वह कभी भी ऊँचा नहीं उठ सकता! अहंकार का अंतिम परिणाम नीचे गिरना ही तो होता है।

तावदान चकनाचूर करके पत्थर महल के कदन में प्रविष्ट हो अन्दर कालीन पर गिर पड़ा। वह सोचने लगा कि मैं इतनी लम्बी यात्रा के

पश्चात काफी थकान-सी महसूस कर रहा हूँ। साथ ही मार्ग में मुझे युद्ध करने वाले शत्रु को भी मुझे परास्त करना पड़ा है। उसमें भी मेरी शक्ति का पर्याप्त अपव्यय हो गया है। यह अच्छी मुलायम जगह है- मैं आराम चाहता हूँ। वह सोचने लगा कि इस भवन का मालिक कितना अच्छा है। अवश्य ही उसे मेरे आगमन का पता चल गया होगा, तभी तो उसने मेरे स्वागत में इतना कोमल, इतना मुलायम आसन बिछा रखा है। मेरे स्वागत की उसने पूरी व्यवस्था की है। मालिक वास्तव में अतिथि प्रेमी मालूम पड़ता है। मैं कोई मामूली पत्थर भी नहीं हूँ। मैं तो आकाश की दिशा में उड़ने वाला एक महान, एक ठोस पत्थर हूँ। साधारण पत्थर तो मात्र पृथ्वी की गोद में पड़े-पड़े ही सुख मानते रहते है। आकाश में उड़ने की उनमें महत्वाकांक्षा कभी जागृत भी नहीं होती। मुझ जैसे महान ही यदा-कदा आकाश में उड़ने का साहस कर पाते है। इसीलिए तो मेरे स्वागत में इतना शानदार इन्तजाम किया गया है।

जब भी कोई टूटता है, करूणा पूर्ण स्वर में, आक्रोश करता ही है। कांच ने भी अकस्मात टूटने की, चूर-चूर हो उठने की स्थिति में झंकृति से सम्पूर्ण वायु मण्डल में तीव्र लहरियाँ उत्पन्न कर दीं। महल के नौकर ने जब कांच टूटने की आवाज सुनी, दौड़कर वह वहाँ जा पहुंचा। कालीन पर पड़े पत्थर को देखते ही रहस्य स्पष्ट हो गया। उसने उस पत्थर को उठा लिया। पत्थर मन ही मन प्रसन्न हो सोचने लगा। कितना भला है इस भवन का मालिक। आते देर नहीं कि स्वागत करने के लिये उसने स्वयं मुझे अपने हाथों में उठा लिया है। कितना ख्याल रखते हैं वे अपने अतिथियों का! अत्यन्त सज्जन है वे!

वह यह सब सोच ही रहा था कि नौकर ने उस पत्थर को खिड़की की राह नीचे फेंक दिया। खुली मुक्त हवा एवं अपनी तीव्र अधोगामी गति प्राप्त करके पृथ्वी की ओर वापसी की यात्रा करते समय पत्थर सोचने लगा-

"अब उचित है कि अपने घर लौट चलूं। बहुत समय हो चुका है घर से चले। मेरे मित्र भी याद कर रहें होंगे। रो रहे होंगे बेचारे मेरी याद मैं। उन्हें मेरी याद रह-रह कर सता रही होगी। अकस्मात ही तो अपनी अतीत यात्रा पर निकल आया था मैं। किसी से ठीक से मिल भी नहीं पाया था। वह पुनः नीचे उसी ढ़ेरी में 'धपाक' से गिर पड़ा। नीचे गिरने में वेग अधिक होता है।

गिरते ही पत्थर की ढ़ेरी में हलचल सी मच गई। सब पत्थर नेत्र विस्तारित कर अपनी गोल-मटोल आँखों से उसकी ओर देखने लगे। उसने कहा- 'मित्रों'! अपनी सम्पूर्ण यात्रा में मुझे आप सबकी याद सताती रही। वियोग का अत्यन्त दुख हुआ मुझें! मैं प्रतिक्षण यहीं सोचता रहा कि मैं तो ऊपर आकाश मार्ग से जा रहा हूं, परन्तु मेरे मित्र यहाँ मेरी याद कर रहे होंगे। रो रहे होंगे बेचारे! मुझे यह तनिक भी नहीं रूचा, कि मैं महलों में, कालीनों पर पड़ा-पड़ा सुख भोगू और मेरे मित्र, मात्र नीचे पड़े रहे। अतः मैने महलों के उन सुखों को लात मार दी और चुपके से खिड़की की राह चला आया। प्रत्येक द्वार पर पहरेदार जो थे। इसलिये मुझे खिड़की राह आना पड़ा। अब मैं आपसे क्या निवेदन करूं। बस यही समझ लीजिये कि "अपना घर, अपना ही घर होता है।" अपने सुख-दुःख का साथी बनकर जीना चाहता हूं! बस इसीलिये मैं वापस चला आया हूं।

अंतरिक्ष की ऊँचाई पर एक अत्यन्त सुन्दर भवन है। उस भवन का मालिक अत्यन्त अतिथि-प्रेमी है। उसने अपने सुकोमल हाथों में मुझे उठा लिया और बेहद प्यार करने लगा। परन्तु मैं उसके मोह-जाल में नहीं फँसा। मैने उससे स्पष्ट शब्दों में कह दिया कि मैं तो अपने घर ही लौटना चाहूँगा......यहाँ मुझे वास्तविक शांति प्राप्त नहीं होगी। बस वह रोने लगा। मुझे नाना भाँति के प्रलोभन देकर मनाने लगा। परन्तु अपने प्रिय साथियों की खातिर मैने उसके स्वागत को, उसके प्यार को ठुकरा दिया। अब मैं हमेशा यहीं, अपने प्रिय साथियों के साथ ही रहूँगा। आप लोगों को छोड़कर कहीं नहीं जाऊंगा।"

उसके सब साथी अत्यन्त ध्यान पूर्वक उसकी बातें सुन रहे थे जिस प्रकार आप मेरी बाते सुन रहे हैं -।

यह तो मात्र एक रूपक है। संभव है इसे सुनकर अनेंको को मन ही मन हँसी भी आ रही हो! कुछ सोच रहे होंगे कि कैसा मूर्ख था पत्थर, महलों के सुखों को छोड़कर नीचे आ गया।

मैं भी आप लोगों की भाँति सोचता रहता हूँ। मैं सोचता हूँ कि हम लोग भी पत्थर है। प्रभुता के आनन्द को छोड़कर पशुता को स्वीकार करके इस निम्न स्तर की जिन्दगी व्यतीत करने में सुख मान रहे हैं। क्या उस पत्थर की जिन्दगी में और हमारी

जिन्दगी में कोई मूलभूत अंतर है।

जहां पर भी हम "मैं" का प्रयोग करते हैं हमारी बुद्धि पत्थर की बुद्धि होती है, हम पशुता का ही अनुभव कर पाते है। यदि हमें अपनी इस बुद्धि की अनुभूति हो सके, तो हमारा जीवन अत्यन्त सरल, निष्कपट जीवन हो जाएगा। हम विनम्र हो सकेंगे! हमें ज्ञात हो जाएगा कि हम मात्र बालू की नींव पर खड़े है। हमारे स्वप्न-महलों की नींव ठोस, मजबूत नहीं है। मात्र अपने अहं का ही पोषण कर रहे हैं। परन्तु यह वास्तविक अनुभूति कम भाग्यशाली ही कर पाते है। हमारा सब संचित पुण्य, अहंकार क्षण मात्र में छीन लेता है। हमारे समस्त प्रयसों को एकदम निष्फल कर देता है! हमें शक्तिहीन बना देता है। ऊँचाइयों को छूने के उपरान्त भी, हमें नीचे आने को बाध्य होना पड़ता है। धन्य है वे जो ऊँचे उठने पर कभी नीचे नहीं आते, नित्य ऊँचे उठते रहकर परम पद प्राप्त कर लेते है। **"मैं" का ताला संयम के हथोड़े से एवं प्रज्ञा की छेनी से ही टूटता है। अन्यथा यह हमें उस ऊँचाई तक पहुँचने ही नहीं देता।**

आप स्वयं आत्म निरीक्षण एवं परीक्षण करके देखें, तो पायेंगे कि सिद्धालय की ऊँचाइयों को छूने की अद्‌भुत क्षमता रखने वाला जीव आज अहंकार के कारण, पतन के कगार पर खड़ा एक धक्के की प्रतीक्षा कर रहा है। क्या यही मानव का स्वभाव है। अहंकार में मानव के ज्ञान की धज्जियाँ उड़ाकर उसे अधोगति की किस चरम सीमा तक पहुँचा दिया है। ज्ञान को हमने खुली हाट में बेच दिया है। शांति की निर्मल धारा को हमने मलिन बना डाला है। अहंकार की गोद में अनन्त दुःखों को ही जन्म मिलता है। वज्र की काया को यह निमित्त मात्र में मृत्यु की गोदी में सुला देता है। नैपोलियन, हिटलर, बिस्मार्क की विश्व विजय की अहंमान्यता पल में धूलिधूसरित हो गई। किसी समय जिनका सितारा सूर्य की प्रभा को भी मात करता प्रतीत होता था। आज उसका कोई स्मरण भी नहीं करता। **अहंकार एक ऐसा अनोखा जादूगर है जो आपको मोह की निद्रा में चिरकाल के लिये सुला देता है। धर्म मार्ग की ओर बढ़ने ही नहीं देता। शाश्वत अमृत की खोज नहीं करने देता!**

अहंकार एक ऐसी मोह निद्रा है कि जिसके प्रभाव में मानव सब कुछ भूल जाता है। अपने सम्पूर्ण होश-हवास खो बैठता है। अतः

अहंकार का पूर्ण विसर्जन ही यथार्थ में वास्तविक जागरण है। संत कवि तुलसीदासजी ने एक पद में लिखा है कि- "जागै पुनि न ड़से हौं- जो एक बार इस मोह निद्रा से जग जाता है, वह पुनः नहीं सोता। ऐसा प्राणी ही आत्म प्राप्ति की दिशा से सचेत होता है। इस प्रकार हम सब ब्राह्मतः जागते हुए भी यथार्थ में सोये हुए है।

आप सब यहां शांततापूर्वक बैठकर मुझे सुन रहे हैं। ब्राह्म रूप से देखने पर जागते हुए ही प्रतीत हो रहे हैं किंतु यदि आप क्षण भर के लिये अपने अन्दर झाँककर देखने का प्रयास करेंगे, तो पायेंगे कि आपके भीतर अनन्त स्वप्न साकार हो रहे हैं, मिट रहे है। मन कहीं भी स्थिर शांति नहीं पा रहा है। वह अत्यन्त उद्विग्न है, व्यग्र है। आप अपने इस मन को टटोल कर देखिये, यह आपको वहाँ कदापि नहीं मिलेगा। यह कहाँ कहाँ भटक रहा होगा, आपको भी खबर नहीं होगी। जब मन भटकता है तब आप पर एक अद्भूत मूर्छा छायी होती है। आप भटक रहे है, इसका आपको कोई बोध नहीं होता। ब्राह्मतः होश में रहते हुए भी आन्तरिक दृष्टि से आप बेहोश ही रहते है। इस प्रकार हमारे जीवन का अधिकांश अंधकार में ही गुजर जाता है। दीपक पास में होकर भी उसे प्रज्वलित कर उसके प्रकाश का हम लाभ नहीं प्राप्त कर पाते। यह हमारा अज्ञान ही नहीं तो और क्या है? कभी किसी ने हमें जगाने की कोशिश भी की, तो हमने उसे नकार दिया। उस ओर ध्यान ही नहीं दिया।

एक समय एक शास्त्र-सभा-मंडप में एक विद्वान पंडित प्रवचन कर रहे थे। गाँव के सन्मानित एवं प्रतिष्ठित सेठ साहूकार भी उस प्रवचन को सुनने के लिये वहाँ आये हुये थे। दिन भर जो व्यक्ति धन की पिपासा शान्त करने के लिये भटकता हो, वह भला शान्त चित्त से प्रवचन कैसे सुन सकता है? धन और धर्म का तो जरा भी मेल नहीं जमता। मण्डप में ठण्डी-ठण्डी हवा लगते ही वह धनिक व्यक्ति आराम से सो गया। प्रायः होता भी है कि धर्म सभा में नींद अधिक आती है। पंडित जी का हठात उनकी और ध्यान आकृष्ट हुआ। उन्होंने पूछा क्यों- सेठ जी, तबियत ठीक नहीं है आपकी? नींद आ रही है?

सेठ जी ने चट से आँखें खोली, और तपाक से बोले-"जी नहीं, पंडित जी ! मैं जरा भी नहीं सो रहा हूँ दर असल बात यह है कि आँखें बंद करके ही तो प्रवचन का वास्तविक आनन्द प्राप्त होता है।

तभी ध्यान विषय की ओर केन्द्रित होता है और मन को एकाग्रता प्राप्त होकर, वास्तविक आनन्द प्राप्त होता है। मेरा अभ्यास है कि जब भी मैं प्रवचन सुनता हूँ, आँखें बन्द करके ही सुनता हूँ।

पंड़ित जी पुनः अपना प्रवचन सुनाने लगे। थोड़ी देर के बाद पंडितजी का ध्यान पुनः सेठजी की ओर आकृष्ट हुआ। पंड़ित जी को इस बार भी वही शंका हुई। उन्होंने पुनः सेठजी से पूछा - "सेठजी, मालूम होता है, आप सो रहे हैं।"

सेठजी को एकाएक उन पर क्रोध हो आया। उनका अहंकार चुटीले फणीधर के समान फुफकार कर एकाएक जागृत हो गया। बोले-

'नहीं पंड़ित जी! मैं जरा भी नहीं सो रहा हूं। आपसे मैं पहिले भी निवेदन कर चुका हूँ कि मैं आँखे मूंदकर ही प्रवचन सुनता हूँ। प्रवचन का आनन्द लेता हूँ, परन्तु आप इसे न जाने क्यों समझना ही नहीं चाहते? क्या आप इस विशाल जनसमुदाय के समक्ष मुझे लज्जित तो नहीं करना चाहते! अब कृपया मेरी चिंता छोड़कर आप अपना प्रवचन चालू रखिये। मैं आँखे बन्द करके बैठूं या आंखें खुली रखूँ इससे आपको कोई मतलब नहीं।"

प्रवचन चालू हो गया और सेठजी ने पुनः पूर्ववत् आंखें बंद कर ली।

पंड़ितजी तो थोड़ी देर देखते रहे। जब उनसे नहीं रहा गया, तो उन्होंने पुनः पूछ लिया- "सेठजी जाग रहे है क्या? इस बार सो रहे हैं क्या"- यह नहीं पूछा था।

सेठजी ने स्वाभावश पुराना उत्तर पुनः दोहरा दिया। बोले- "नहीं-नहीं कौन कहता है?"

और इस बार वे पकड़ में आ गए। सभा में समस्त श्रोताओं ने भी उनका उत्तर सुना और वे सब भी बिना हँसे न रह सके।

बस यही हाल हम और आप सबका है। हम सब सोये हुए हैं और जब कोई ज्ञानी स्नेहवश हमें जगाने का प्रयत्न करता है तो हमें

तुरन्त क्रोध आ जाता है। हम उसकी चेतावनी की ओर ध्यान नहीं देते। **हमारा अहंकार हमें सदा भ्रम में ही रखना चाहता है; आत्म-कल्याण की बातें सुनने ही नहीं देता। इसी मोह निद्रा ने ही हमें- वास्तविक तत्व की प्राप्ति से वंचित रखा है। हमें आँख उठाकर देखने का अवसर भी नहीं देती।**

जो अपने अहंकार की रक्षा का प्रयत्न करता है वह स्वयं को नष्ट कर देता है। जो स्वयं को बचाना चाहतें है, उन्हें अहंकार को नष्ट करना ही होगा। यह अत्यन्त अपरिहार्य है! सरल, निष्कपट अहंकार शून्य मन में ही मार्दव धर्म का उदय होता है।

अभी-अभी कुछ दिन हुए जब मैं छत्तीसगढ़ प्रान्त में ही, अकलतरा गया था। मार्ग में मुझें एक विशाल नदी दिखाई दी। मैं, जहाँ तक दृष्टि जा सकती थी, नदी के किनारे के जल को देखता रहा। हरे-हरे पौधों ने दूर-दूर तक नदी के निर्मल जल को मानों घेर सा लिया था। दूर-दूर तक पौधे विस्मृत हो चुके थे। उन्होंने मानो नदी को पूर्ण रूप से ढक लिया था। बाह्यतः यह पता नहीं चलता था कि नदी में पानी है। उस दृश्य को देखकर हठात् मेरे मन में यह विचार कौंध गया कि, मानव का मन बिल्कुल ऐसा ही है। मानव के निर्मल, शुद्ध मन में इन हरे पौधों की ही भाँति सर्वत्र अहंकार फैला हुआ है। उसने शुद्ध मन को पूर्णतया ढक लिया है। पता भी नहीं चलता कि उसके मन है भी या नही! कितनी अद्भुत बात है। जब मन का ही पता न हो, तब शुद्धता की, निर्मल होने की बात ही उपस्थित नहीं होती।

पौधों को हटाने भर की देर है, उनके नीचे शुद्ध-निर्मल जल अवश्य ही मिल जायेगा, इसमें कोई सन्देह नहीं! बस इसी प्रकार अहंकार के परदे को हटा दीजिये, और देखिये आप का मन कितना शुद्ध, शान्त और निर्मल है। उस मन में सत्य कितनी मधुर आभा से युक्त हो आपकी ओर मुस्कराता हुआ देख रहा है। आपके स्वागत के लिये कितनी आतुरता से प्रस्तुत है।

बस इस अहंकार की जड़ता को आत्म पटल से दूर कर दीजिये, संपूर्णता से हटा दीजिये, इसे पुनः प्रवेश न करने दीजिये, आप देखेंगे कि आप पूर्ण चैतन्य से युक्त है। आपका यह महिमामय मुख मण्डल

अपूर्व दीप्ति से जगमगा उठेगा। वह आत्म ज्योति की प्रभा हैं। अहंकार की जड़ता, आत्मा को भी जड़ बना देती है। जड़ता "सत्य" की सुखद अनुभूति से हमें सर्वदा वंचित रखती है। भला अहंकार के रहते हुए हमें पूर्ण सत्य की प्राप्ति किस प्रकार हो सकती है?

अहंकार उस अग्नि के समान है जो बिना ईंधन के प्रज्ज्वलित होती है। यह अग्नि आत्मा के समस्त गुणों को जलाकर भस्म कर देती है। मार्दव धर्म उस शीतल जल के समान है जो संतप्त आत्मा को क्षण में संतृप्त कर देता है।

इस संदर्भ में मुझे एक कथा याद आ रही है......आपको सुनाता हूँ- सुनिये-

कैलाश पर्वत पर स्वर्ण-कलश युक्त एक अप्रतिम, अत्यन्त सुन्दर स्वर्ण मंदिर था मंदिर की दीवालों में बहुमूल्य हीरे-जवाहरात जड़े हुए थे। उस मंदिर के पास अपार संपत्ति भी थी? उस मंदिर का वृद्ध पुजारी मरणासन्न स्थिति में था। उसे इस बात की अत्यन्त चिन्ता थी कि उसकी मृत्यु के उपरान्त एक योग्य पुजारी उसे मिल जाता, तो वह शांतता पूर्वक इस देह को त्याग देता।

अतः अत्यन्त विचार पूर्वक उसने नीचे के गांव में खबर पहुंचाई कि उसे मंदिर के लिये एक योग्य पुजारी का चुनाव करना है। जो व्यक्ति अत्यन्त शक्तिशाली होगा उसे मंदिर का पुजारी चुना जायेगा। कौन सर्वाधिक शक्तिशाली है, पुजारी पद के योग्य है इसका सब के समक्ष वह चुनाव करेगा। एक तिथि निश्चित कर दी गई। पुजारी ने ऐलान करवाया कि जो स्वयं को अत्यन्त शक्तिशाली समझते हैं, वे सूर्योदय के पूर्व इस तिथि को पर्वत की चढ़ाई प्रारम्भ कर दे। जो व्यक्ति सर्वप्रथम शिखर पर पहुँचेगा, उसेही मंदिर का पुजारी पद प्राप्त होगा।

सम्पूर्ण राज्य में दूर-दूर तक यह खबर फैल गई। अनेक व्यक्तियों के मन में तीव्र उत्कंठा जागृत हुई कि क्यों न प्रयत्न पूर्वक भाग्य को आजमाया जावे! सुन्दर मन्दिर है.....अटूट सम्पदा है। मंदिर की जगमगाती रत्न जटित दीवालें उनकी आंखों के सामने नाचने लगी। हर शक्ति सम्पन्न व्यक्ति स्वयं को उसका एकमेव अधिकारी समझने लगा। मधुर स्वप्नों में लीन रहने लगा। भला इस संसार में ऐसा कौन व्यक्ति है जो सम्पत्ति

प्राप्त करने के लिए उत्सुक न हो? उस समस्त क्षेत्र में जिसने भी शक्तिशाली लोग थे वे सब वहां पर एकत्रित हो गये। सम्पत्ति प्राप्ति की अदमनीय-लालसा से दीप्त चार सौ युवक निश्चित तिथि को सूर्योदय के पूर्व उस स्थान पर एकत्रित हो गये। शक्ति का प्रदर्शन भी अद्‌भुत था जो स्वयं को जितना अधिक शक्ति सम्पन्न समझता था। उसने उतना ही अधिक वजनदार अपने कंधों पर, सिर पर रख लिया था। पर्वत की अगम चढ़ाई, पत्थरों का भारी बोझ, प्रतिपल उन्हें ऐसा प्रतीत होने लगा कि बस अब उनके प्राण छूट जाएँगे। वे शिखर तक नहीं पहुंच पायेंगें। वे उस अपार सम्पत्ति के स्वामी कदापि नहीं बन पाएंगें। उनका अहंकार उन्हें कष्ट सहनेकी प्रेरणा प्रदान कर रहा था कि पीड़ा। कष्ट ही तो उसका भोजनहै। सेवा करने में भी कष्ट सहना पड़ता है। परन्तु इस कष्ट में पीड़ा नहीं होती। एक प्रकार का सुखद आनन्द होता है जो संतोष प्रदान करता है, परन्तु अहंकार को कष्ट एवं उससे उत्पन्न पीड़ा स्वीकार्य थी।

सम्पत्ति प्राप्ति की लालसा में किसी को भी विश्रान्ति के लिए भोजन के लिए अवकाश नहीं था। बस एक ही धुन सवार थी कि कौन सबसे पहिले शिखर पर पहुँचता है। कौन उस अटूट सम्पत्ति का मालिक बनता है।

कुछ तो पत्थरों के बोझ से पिस गये, दबकर मर गये। इसका उत्तर दायित्व उन्हीं पर था। परन्तु आश्चर्य है कि मृत्यु के अंतिम क्षणों तक उन्होंने वह बोझ अपने सिर से नहीं उतारने दिया। बोझ से मुक्त होने के लिये कोई प्रयत्न नहीं किया। क्योंकि अधिकतर बोझ ही तो उनके पौरूष का प्रतीक का, उनके अहंकार का पोषक था। कुछ लोग खड्डे में गिर पड़े, बोझ से लडखड़ा गए, स्थिर न रह सके। कुछ बेचारे मार्ग में अस्वस्थ हो गये। कुछ लोगों के हाथ पांव बोझ के कारण, गिरने से चोट लगने के कारण टूट गये परन्तु आश्चर्य था कि बोझ कम करने को, उसे सिर से उतार फेकने को कोई भी राजी नहीं था। शक्ति प्रदर्शन का कितना अद्‌भुत तरीका था।

व अपनी धुन में आगे बढ़े जा रहे थे। किसी को भी किसी की ओर देखने तक कोई फुरसत नहीं थी। सब को बस एक ही धुन थी कि सबसे पहले पहुँचे और अपार सम्पत्ति का मालिक बने!

आज हम भी इन यात्रियों की भाँति अहंकार के बोझ से दबे हुए धन प्राप्ति की अन्धी दौड़ में आगे बढ़ने में प्रयत्नशील है। हम टूट रहे

है......आत्मा टूटकर बिखर रही है- किन्तु सत्य की ओर से हमारी आंखे बंद है। दुःख और अपार पीड़ा तथा कष्ट सहते जा रहे है किन्तु बोझ कम अथवा हल्का करने का भी प्रयास हम नहीं करते, छोड़ने की तो बात ही दूर है।

परीक्षा की अन्तिम घड़ी समीप आ रही है। शाम का धुंधलका भी गहन होता जा रहा है। लोग पर्वत शिखर पर पहुँचने के करीब है। तभी सबने देखा कि अभी-अभी जो सबसे पीछे था, वही सबसे आगे निकल गया है। सब अत्यन्त हैरानी से उसकी ओर देख रहे हैं। और वह है कि अपार भीड़-बाढ़ से बस एकदम आगे बढ़ा जा रहा है। दुबला-पतला-कमजोर है किन्तु फिर भी आगे बढ़ा चला जा रहा है।

उसकी गति, उसकी अद्भुत चाल, उसका प्रयास एवं अदम्य उत्साह देखकर कुछ लोग बरबस ही हँसने लगे- कहने लगे। यह तो कोई पागल मालूम होता है। भला इसके शिखर पर पहुँचने का क्या प्रयोजन है? इसमें क्या तुक है। यह तो कोई शक्तिशाली व्यक्ति नहीं है। यह तो अत्यन्त दुर्बल, कमजोर प्राणी है- उसने तो बोझ फेंक दिया है और तेजी से आगे बढ़ता जा रहा है।

लोगों ने उसकी ना समझी पर उसे टोका। उसे रोकने का प्रयास किया, बोले- "तुम कहां चले जा रहे हो? तुम्हारे शिखर पर पहुँचने से क्या लाभ होगा? परन्तु उसने लोगों की बातों की ओर कोई ध्यान नहीं दिया। वह केवल तटस्थ भाव से आगे बढ़ता ही चला गया। लोग उसे मूर्ख समझ कर हँसते रहे, वह मौन चुपचाप आगे बढ़ता चला गया।"

"और शाम के धुंधलके में सबने सुना कि प्रमुख पुजारी ने उसे मंदिर का पुजारी नियुक्त करने की घोषणा कर दी है।" यह सुनते ही, सब बोझिल प्राणी अवाक रह गये। किन्तु वस्तुस्थिति समझते ही एक साथ चिल्ला उठे कि- यह तो अंधेर हो गया। हम सबके साथ घोर अन्याय हुआ है।

पुजारी ने विनम्रतापूर्वक स्पष्टीकरण किया-

"किसी के साथ कोई अन्याय नहीं हुआ है। और न ही कोई अंधेर ही हुआ है। परमात्मा का पुजारी बनने का अधिकारी वास्तव में

वही प्राणी है जो अहंकार से मुक्त हो गया हो। इस युवक ने अहंकार के बोझ से मुक्त होने के अद्भुत साहस का, अपार शक्ति का आप सबके समक्ष परिचय दिया है। बाकी के सभी परीक्षार्थी अहंकार के बोझ से दबे हुए हैं। अहंकार के बोझ से मुक्त होने पर ही तो जीवन पथ में आगे बढ़ने की शक्ति प्राप्त हो सकती है। उसे ही आनन्द स्वरूप परमात्मा की प्राप्ति हो सकती है।

अतः हम सब इस बात को हमेशा याद रखने का प्रयत्न करें कि यदि हम अहंकार के बोझ से दबे रहेंगे तो यह हमें सत्य-पथ से हमेशा विचलित करता रहेगा। हमारे मस्तिष्क में हमेशा एक तनाव बना रहेगा। परमात्म पद की यात्रा में यह एक अवरोधक रोड़ा है, पत्थर है। इसका भार मानव-जीवन में सबसे गुरूत्तर भार है। यही भार आपको, हम सबको, ईश्वर की ओर उन्मुखा करने से रोक रहा है। अतः सब दृष्टि से निर्भर होने में ही हम सबका हित है, कल्याण है।

यदि हम सब अहंकार से रहित हों, अत्यन्त स्वच्छ हलके मन से अपना सिर ऊँचा उठाकर जीवन के उच्च हिमाच्छादित धवल शिखरों की ओर देखे जो सूर्य (धर्म) के प्रकाश से आज भी चमक रहे है और अत्यन्त प्रेम पूर्वक हमें अपनी ओर बुला रहे है- तो हम पायेंगे कि वह हमसे दूर नहीं है, हमारे बिल्कुल समीप है। मात्र अहंकार के बोझ से हमें खाली होने की आवश्यकता है।

अहंकार उस पथरीली भूमि के समान है जिस पर आत्मतत्व रूपी बीज कभी भी उगना संभव नहीं है। यह वह अद्भुत बीज है जो निर्मल भूमि में समता के जल से सिंचन करने से ऊगता है, अंकुरित होता है, करूणा की हवा में प्रेम के स्निग्न प्रकाश में विकसित होता है।

इस प्रकार आप देखेंगे कि मानव के अद्भुत मन को पूर्व रूप से संतुष्ट करने में उत्तम मार्दव धर्म अत्यन्त पुष्टता से सक्षम है। इसके अतिरिक्त किसी तत्व में इतनी क्षमता नहीं है जो मानव को पूर्ण संतोष, पूर्ण शान्ति, पूर्ण तृप्ति प्रदान कर सके। अतः जो प्राणी इस प्रकार पूर्ण तृप्ति चाहते हैं उन्हें सच्चे मन से इसे अपनाना चाहिये। चाहे इसे आप अभी से अपना ले चाहे कल, मात्र अपनाएँ अवंश्य ही। मेरी स्वयं की भी यही आंतरिक इच्छा है- इस परम पनीत मार्दव धर्म के अतिरिक्त इस क्षण

मुझे ओर किसी तत्व की इच्छा नहीं है। यही तत्व हमारे जड़-जीवन में हमें ऊँचा उठाने में परम सहायक है। यह हमारा परम सुख है, परम प्रिय साथी है।

बीती जीवन की रातें, लौट कभी न आतीं,
मार्दव धर्म धारण जो करता, उसकी निशा दिवस बन जाती।
जन्म मरण के दुष्ट चक्र से, क्या कोई कभी बच पाया है?
कर्मरत हो धारो मार्दव, आतम अजर अमर बन जाती।

जीवन की ये सांसे लौटकर कभी नहीं आतीं। यह सम्भव नहीं है। किन्तु इन सासों के माध्यम से ऊपर अवश्य ही उठा जा सकता है। इनकी सहायता से जीवन में भार मुक्त दशा अवश्य ही प्राप्त की जा सकती है। सघन अंधकारपूर्ण निशा को धवल प्रकाश से युक्त दिवस में परिवर्तित किया जा सकता है। जनम और मरण के चक्र से आज तक कोई भी प्राणी बचकर नहीं निकल सका है किन्तु प्रकाश के सदृश्य ही, उतना ही सत्य है कि अजर-अमर पद अवश्य ही प्राप्त किया जा सकता है। निरअहंकार के सद्भाव में ही जो भी उपलब्धि होती है। जीवन में वही वास्तविक उपलब्धि है। वहीं जीवन का सदुपयोग है। ऐसा जीना ही सार्थक है।

जो भी अहंकार के साथ जीते है, वे व्यर्थ ही जीते हैं; वे व्यर्थ ही जीवन मरण का ताना-बाना बुनते रहतें है। इस भार को वहन करते रहतें हैं। वे नित्य जीवन में प्राप्त बहुमूल्य अवसर को नष्ट करते रहतें है। जीवन के जिन उत्तम क्षणों में कुछ पाया जा सकता था, उसे वे खो देते हैं। **इस प्रकार अहंकार की स्थिति में मानव मात्र मिटता ही है, बनता कभी नहीं। सब कुछ खोता है, उसे प्राप्त कुछ भी नहीं होता।**

एक शहर था। शहर से कुछ दूर एक व्यक्ति चार कुत्तों के साथ खेल रहा था। अकस्मात उसका एक मित्र वहाँ पहुँच गया। दोनों मित्र आपस में मिलकर बहुत खुश हुए। बहुत दिनों के बाद जो मिले थे। मित्र वहाँ पर अकेला ही था। उसके परिवार का कोई भी व्यक्ति वहाँ नहीं था। मित्र से उसने पूछा कि उसके परिवार के अन्य लोग कहाँ है? कोई भी दिखाई नहीं दे रहा है।

इस पर मित्र मुस्करा दिया - उसने चुपचाप कुत्तों की ओर इशारा किया और बोला, कि ये ही मेरे परिवार के प्रिय सदस्य हैं। इनकी संगति में ही मेरा जीवन व्यतीत हो रहा है। मित्र सोचने लगा कि क्या मानव प्राणी इतना अधिक गिर गया है कि अब कुत्ते उसके साथी बनने लगे! क्या मानव का मानव प्राणियों के प्रति प्रेम नहीं रह गया है?

उसने पूछा- 'क्या मानव प्राणियों के साथ रहना तुमने छोड़ दिया है?

मित्र ने कहा 'बंधु कुत्तों की मानव से तुलना मत करों कुत्ते, कुत्ते हैं। मानव, मानव हैं। इस प्रकार तुलना करना अभद्रता है। मैंने मानव प्राणियों के साथ रहना त्याग दिया इसलिये इन मूक प्राणियों के साथ रहने लगा। आज का मानव पशु तुल्य हो गया है.....वह अब पूर्ण नहीं रहा, अधूरा हो गया है। पशुओं को कोई अधूरा नहीं कहता। कुत्तों पर सभी विश्वास करते हैं। ये प्राणी अत्यन्त प्रामाणिक होतें है। परन्तु कितने दुःख की बात है कि मानव प्राणियों पर कोई भी विश्वास नहीं करता! मानव प्राणी ही विश्वास नहीं करता।

ये कुत्ते अत्यन्त बुद्धिमान प्राणी है; उतने ही ईमानदार है। इन पर सहजता से विश्वास किया जा सकता है। यह सुनकर अवश्य ही अजीब सा लगता होगा; और है भी दरअसल में यह अजीब बात। आज आदमी आदमी के साथ रहना उतना पसन्द नहीं करता, जितना पशुओं के साथ रहना पसन्द करता है। वह पशु से भी बदतर हो गया है।

कुत्ते मित्र की बात को अत्यन्त ध्यानपूर्वक सुन रहे थे। वे हँसने लगे।

यह सब नाटक देखकर मित्र हैरान हो गया। उसके आश्चर्य की कोई सीमा न रही! उसकी कल्पना थी कि मानव ही एक मात्र ऐसा प्राणी है जो कि हँस सकता है। यह बात किसी पशु के लिये संभव नहीं है। फिर इन कुत्तों को हंसता हुआ देखकर उसका आश्चर्यचकित होना स्वाभाविक ही था।

उस मित्र को इस प्रकार आश्चर्य करता हुआ देखकर कुत्ते ने कहा- कि हम कुत्तों में परिवर्तन मानव की संगति से आया। हम चारों भाई बोलते है मित्र अब अवाक् हो उस कुत्ते की ओर देख रहा था।

वह सोच रहा था, कि हंसने के साथ ही यह तो बोल भी रहा है..... मानव प्राणियों की भाँति बोल रहा है। उसने आज तक किसी कुत्ते को मानव प्राणी की तरह बोलते हुए न कभी देखा न ही कभी सुना ही था।

अभी उस मित्र का आश्चर्य का दौर समाप्त भी नहीं हो पाया था कि अचानक दूसरा कुत्ता बोल उठा-

"यह बिगाड़ हमारे अन्दर आदमियों के साथ रहने से ही आ गया है। हमारी जाति में इस प्रकार पहिले न कभी कोई कुत्ता बोलता ही था और न ही कभी हसँता था। यह दोष मानव की संगति में रहने से ही हममें आ गया है। और अब तो हम समझते है कि हमारी प्रामाणिकता के कारण मानव हम लोगों के साथ रहना ही अधिक पसंद करेगा। अपेक्षाकृत मनुष्यों के साथ रहने के।"

कुत्तों को भी मानव की कमजोरी का ज्ञान हो गया है? वे भी जान गये हैं कि मानव की कमजोरी क्या है? है न आश्चर्य की बात! पशु तो मानव की कमजोरी को समझ गए है। किन्तु मानव प्राणी है जो कि स्वयं की ही कमजोरी को नहीं समझ पाया है।

अहंकार मानव की सबसे बड़ी कमजोरी है। हम मात्र पूँछ हिलाते हैं और उसका अहंकार दूर हो जाता है। वह हम पर प्रसन्न हो जाता है।

अहंकारी मानव सुन्दर महलों के सपने देखता है: झोपड़ियाँ एवं झोपड़ियों में रहने वाले दीन-दरिद्र प्राणी उसे दिखाई नहीं देते। यहीं तो उसके जीवन की पराजय है। वह इसीलिये तो आलौकिक आनन्द की प्राप्ति से, अनुपम सौन्दर्य की सुखद अनुभूति से वंचित है। वह अहंकार का नीरस बोझ उठाए जिन्दगी को बोझिल बनाये घूम रहा है। सपनों में महलों को सजाता है, स्वप्न जब साकार नहीं हो पाते, तो वह क्रोध में बिखर जाता है, टूट जाता है, निराश होकर विवेक खो देता है। और अपने जीवन में पागलपन का प्रदर्शन शुरू कर देता है। जिस वस्तु को वह स्वयं बनाता है, उसका निर्माण करता है, उसी को स्वयं मिटा भी सकता है। जिससे प्रेम करता है, उसी से घृणा भी करने लगता है। शांति के अमूल्य क्षणों में जिस महल की नींव रखता है, अशांति के क्षणों में उसके नेत्र दीपक शिखर को धूलि-धुसरित करने में भी किसी संकोच का अनुभव नहीं करते। एक हाथ तो उसका बहुमूल्य दान देता

है। किन्तु दूसरा हाथ चुपचाप इस दान को समेट लेता है। एक ओर तो वह हमें प्रेम, करूणा, वात्सल्य का प्रतिरूप दिखाई देता है, किन्तु दूसरे ही क्षण उसकी घृणा, द्वेष, निन्दा से युक्त दानव स्वरूप देखकर हम हत् बुद्धि हो दिग्मूढ़ से हो उठते हैं।

इस देश में भरत नाम के एक चक्रवर्ती सम्राट हो चुके हैं। उन्हीं के नाम से इस देश का नाम भारतवर्ष पड़ा। चक्रवर्ती सम्राट पुरानें दिनों में हुआ करते थे.......अब नहीं होते, ऐसा जिनागम में लिखा है। उसने सम्पूर्ण जगत को जीत लिया था। छियान्नवे हजार रानियों से युक्त उसकी अतुलनीय भोग सम्पदा होती है। ऐसी मान्यता है कि जो भी चक्रवर्ती होता है उसे वृषभाचल पर्वत पर अपनी विजय पताका फहरानी होती है। विजय का झण्ड़ा गाड़ना होता है। चक्रवर्ती के लिये यह एक अत्यन्त गौरवपूर्ण क्षण होता है। भला इससे बढ़कर अहंकार का और क्या स्वरूप हो सकता है कि मैं चक्रवर्ती राजा हूँ.......समस्त राजा मेरे मनाहत हैं, गुलाम हैं।

चक्रवर्ती भरत के आयुष्य में भी विशाल वृषभाचल पर्वत की सुदृढ़, अड़िग चट्टान पर अपने स्वर्णक्षर अंकित करने का अवसर प्राप्त हुआ। कितने प्रसन्न हुए होंगे वे उस क्षण की कल्पना कीजिये। अपनी समस्त सेना को लेकर वे वृषभाचल पर्वत की दिशा में चल पड़े। गर्व से मस्तक ऊँचा था, सीना तना हुआ था, पैर जमीन पर नहीं पड़ रहे थे। आँखे आकाश में भी किसी उच्च बिन्दु पर नहीं टिक पा रही थी। गौरव से अभिभूत प्राणी के लिये वह क्षण उतना ही महत्वपूर्ण था। समस्त राजाओं को पराजित करके वे लौटे थे। विरली आत्माओं को ही वृषभाचल के उत्तुंग शिखर पर पहुँचने का सौभाग्य प्राप्त होता है। हजारों लाखों वर्षों में कहीं कोई विरला सम्राट ही चक्रवर्ती पद प्राप्त कर पाता है। जब वे वृषभाचल मेरू की तलहटी में पहुँचे, द्वारपाल ने उनसे कहा कि समस्त लोग यहीं विश्राम करें, मात्र चक्रवर्ती ही शिखर पर जाएँ। सामान्य जन तो वृषभाचल के दर्शन भी नहीं कर सकते अतः आप सब का प्रवेश असंभव है।

चक्रवर्ती भरत उस प्रहरी के साथ अकेले ही पर्वत पर गये! बाकी सब लोग नीचे रह गये। प्रहरी के हाथ में छेनी-हथोड़ा था। वह हमेशा उसे साथ लेकर ही चलता था। पर्वत अत्यन्त विशाल था। उसके एक छोर से दूसरे छोर तक जाना अत्यन्त कठिन काम था। वे चलते गये चलते गये। दिन पर दिन व्यतित होते गये। परन्तु इतने विशाल पर्वत

पर चक्रवर्ती भरत को स्वर्णाक्षर अंकित करने के लिये कोई समुचित स्थान नहीं दिखाई दे रहा था। वह समस्त पर्वत हस्ताक्षरों से भरा पड़ा था। उन्हें कोई भी समुचित स्थान रिक्त नहीं दिखाई दे रहा था। दिन पर दिन, मास पर मास भी व्यतीत होते गये। उचित स्थान की खोज करते-करते सम्राट भी थक गये। उनकी आंखें विस्मय से विस्फारित होती गई। अहंकार विगलित होने लगा, दंभ टूटने लगा। परन्तु फिर भी चक्रवर्ती सोच रहा था- मैं इस पर्वत पर हस्ताक्षर अंकित करने जा रहाँ हूँ। मेरा स्वर्ण रचित नाम, इस सुदृढ़ पर्वत पर, इस ऊँचाई पर, युगों तक स्थिर रहेगा। परन्तु आश्चर्य है यहां पर पहिले जैसे ही अनेको सम्राट अपने नाम अंकित कर चुके है मेरे लिये कोई भी स्थान शेष नहीं दिखाई दे रहा है। पहरेदार ने चक्रवर्ती की यह स्थिति देखी और उनसे निवेदन किया कि- महाराज पिताजी कहा करते थे कि, इस वृषभाचल पर्वत पर किसी को भी अपने हस्ताक्षर करने के लिये कोई गुंजाइश नहीं है। उसे पुराने हस्ताक्षर मिटाकर ही अपने हस्ताक्षर करने होंगे। रिक्त स्थान मिलना किसी के लिये भी संभव नहीं है।

सम्राट मौन रहकर यह सब सुनते रहे फिर बोले-

"फिर इस स्थिति में तो यहाँ हस्ताक्षर करना नितान्त व्यर्थ है। मैं नाहक परेशान हो रहा हूँ। ऐसी स्थिति में हस्ताक्षर अपना कोई महत्व नहीं रखते। इस विशाल पर्वत पर कौन पहिचानेगा इन हस्ताक्षरों को? जब मैं स्वयं ही इन्हें नहीं पहचान पा रहा हूँ? प्रहरी ने कहा- यदि आपकी आज्ञा हो, तो मैं पुराने हस्ताक्षरों में किसी एक को मिटा देता हूँ, फिर आप उस पर अपने हस्ताक्षर कर दीजियेगा"-

चक्रवर्ती भरत ने कहा- "क्षमा करें! अब हस्ताक्षर की कोई आवश्यकता नहीं है? कभी न कभी कोई तो मेरे इन हस्ताक्षरों को मिटाने आयेगा ही। इससे तो यही अच्छा है कि जो कभी, न कभी मिटने वाले ही हों, उन्हें बनने ही न दिया जाए।" चक्रवर्ती भरत जब पहाड़ पर गये थे, तब कितने अहंकार से भरे हुए थे। परन्तु अब उनका सम्पूर्ण अहंकार पूर्ण रूप से विगलित हो गया था। लौटकर उन्होंने अत्यन्त विनम्र भाव से सब को विदा करते हुए कहा- अब आप सब लोग जाइये। अब मैं कोई सम्राट नहीं हूँ। मैं तो अनुभव कर रहा हूँ कि भीतर से मैं एकदम ही दरिद्र हूँ। मेरे पास कोई भी आत्मिक पूंजी नहीं है। बिना आत्मिक पूंजी के सम्राट होना वृथा है। परन्तु अब आज से

मैं वास्तविक रूप से सम्राट बनने का प्रयत्न करूँगा।

किसी समय उनका हृदय जो अत्यन्त कठोर था, वह आज पूर्ण रूप से पिघल कर अत्यन्त मृदु, अत्यन्त कोमल, अत्यन्त करूण हो गया था! वे भली भाँति जान गये थे कि इस पर्वत पर अंकित, समस्त हस्ताक्षर अहंकार के ही द्योतक थे। अहंकार मेरा अपना मूल स्वभाव नहीं है। यह तो मात्र कठोरता का ही प्रतीक है। कठोर हृदय मे करूणा के मृदु बीज उत्पन्न नहीं हो सकते। परमतत्व का सहस्त्रदल कमल कदापि खिल नहीं सकता।

हृदय की करूण कोमल भूमि पर पवित्र धर्म का बीज बोने पर एक दिन वह अंकुरित हो अवश्य ही फलेगा, फूलेगा। इसे अहंकार से कठोर नहीं बनने देना चाहिये। हमें जीवन में वास्तविकता को समझते हुए चित्त को अत्यन्त कोमल, सरल बनाना है, इसी में जीवन की सार्थकता है। क्या फल प्राप्ति होती है इस अहंकार से? हमारी उन्नति में यह पग-पग पर रोड़े अटकाता हैं।

हमारा अहंकार हमें हमेशा पतन के गर्त में ही ले जाता है, इसमें केवल दुःख, पीड़ा और अशान्ति ही प्राप्त होती है। मानव का अहंकार जितना ऊंचा होगा, मानव उतना ही नीचा होगा। अहंकार हमेशा मांग प्रस्तुत करता रहता है। यह कभी भी तृप्ति का अनुभव नहीं कर सकता। मृदुता। इसके विपरीत उस साहूकार के समान है, जो देता ही रहता है; लोगों को ऊँचा उठाता ही रहता है।

मार्दव धर्म इह लोक एवं परलोक दोनों की दृष्टि से सहायक है। इसके अभाव में आत्मा के परिणाम कभी निर्मल नहीं हो पाते। मार्दव की स्थिति में मुख से सदैव हितकारी वचन ही निकलते है। मार्दव धर्म के अभाव में ही तो, समस्त प्राणी दुःख उठाते हैं। अहंकार अज्ञानियों की सम्पदा हैं और 'मार्दव' ज्ञानियो की! इस धर्म के सद्भाव में विनय का विकास होता है। विवेकपूर्वक सोचने-समझने की शक्ति प्राप्त होती है। मन के समस्त दोष सूर होते हैं। आत्मा में छिपी हुई अनन्त निधि का, भण्डार का ज्ञान प्राप्त होता है।

एक व्यक्ति श्मशान से गुजर रहा था! हठात् उसके पैरों से कोई

गोल वस्तु टकरा गई। उसने उस वस्तु की ओर ध्यानपूर्वक देखा वह किसी मृत मनुष्य की खोपड़ी थी। उसने उस खोपड़ी को उठाकर अपने सिर पर रख लिया। मार्ग में उसके मित्र उसे मिले। उन्होंने यह अद्भुत नजारा देखा। उससे पूछा कि भाई, यह क्या है? खोपड़ी को सिर पर रख कर क्यों जा रहे हो? जान बूझ कर क्यों संकट को निमन्त्रण दे रहे हो! उस व्यक्ति ने उत्तर दिया।

मैं इस मार्ग से जा रहा था। यह खोपड़ी मेरे पैरों से टकरा गई। न जाने यह किस महा भाग की है। इससे मेरे पैर छू गये और अब मैं इससे क्षमा याचना कर रहा हूँ। जिस स्थान से मैं जा रहा था, मुझे स्मरण है, वह बड़े आदमियों का श्मशान घाट था। अतः अवश्य ही यह खोपड़ी भी किसी बड़े आदमी की ही होगी। आज तो मैं बच गया कि यह खोपड़ी किसी मरे हुए व्यक्ति की थी; किन्तु सोचिये कि यदि यह खोपड़ी किसी जीवित व्यक्ति की, किसी जीवित बड़े व्यक्ति की होती, और उसे कहीं मेरे पैर लग जाते, तो आज मेरी क्या दशा होती। अतः अब मैने निश्चय कर लिया है कि मैं इसे अपने घर ले जाकर रखूंगा और इससे बार-बार क्षमा मांगता। और मुझसे कितना बड़ा अपराध हो गया है मुझसे! मेरे पैर इस, किसी बड़े आदमी की खोपड़ि में लग गये हैं। आप ही बताइये कि, क्या यह अपराध नहीं है?

लोगों ने उसकी भावानओं को सुना और वे उसके पागलपन पर हँसने लगे। सोचने लगे अजीब 'अहमक' है।

उस व्यक्ति ने कहा कि-

मैं इस खोपड़ी को घर में ले जाकर सुरक्षित रखना चाहता हूँ..... ताकि मैं इससे अनेकों बार क्षमा याचना कर सकूँ। मैं चाहता हूँ कि मुझे इस बात की याद बनी रहे कि आज नहीं तो कल मेरा यह सिर भी किसी श्मशान भूमि में इसी प्रकार पड़ा रहेगा और लोगों की लाते इस सिर को भी इसी प्रकार सहनी पड़ेगीं। यह सिर धूल में, मिट्टी में मिल जाएगा।

इसी प्रकार, जीवन पर्यन्त जिस अहंकार का पोषण करते हैं, वह भी एक न एक दिन किसी के चरणों में झुक जाता है, लोग उसे अत्यन्त निर्ममता पूर्वक रौंद ड़ालते है और हमारा वहीं अहंकार श्मशान में राख

बनकर उड़ रहा है; अहंकार करने वाले जीव मिट्टी में मिलकर उससे एक रूप हो गये हैं!

विश्व का इतिहास इस बात का साक्षी है विश्व विजय का मोहक स्वपन देखने वाले अहंकारी नेपोलियन की विजय ने सम्पूर्ण यूरोप को थर्रा दिया था। चारों ओर विजय की पताकाएँ फहराने वाला पराक्रमी नेपोलियन अंतिम दिनों में एक समुद्री टापू में, जेल में सड़कर मर गया।

इसी प्रकार मदान्ध मुसोलिनी भी किसी दानव से कम नहीं था। अपनी वायु सेना पर उसे अपार गर्व था। छोटे से देश अबीसीनिया पर विषैली वायु छोड़कर मनुष्यों को तड़फा-तड़फा कर मारने में या उसे आसुरी आनन्द प्राप्त होता था। अन्त में वह स्वयं भी फांसी के तख्ते पर लटका दिया गया।

एक हाथ में हथकड़ी और दूसरे हाथ में बम लेकर सम्पूर्ण विश्व को एक अभूतपूर्व चुनौती देने वाला हिटलर कहता था कि मेरी अधीनता स्वीकार कर लो अन्यथा बम वर्षा करके तुम्हें भसमीभूत बना डालूंगा; **विश्व को भय से थार्र देने वाला आतंक का प्रतीक हिटलर भी दुनियां से ऐसा गायब हुआ कि उसके शव का भी आज तक किसी को पता नहीं चला।**

भारत के इतिहास में भी स्वर्ण नगरियों का रोचक उल्लेख है-
लंका और द्वारिका। समूचे भारत में केवल इन दो सोने की नगरियों का
उल्लेख मिलता है और इन दो नगरियों का अंतिम परिणाम भी हम सब
के समक्ष है। सोने की लंका राख की ढ़ेरी में परिवर्तित हो गई। समस्त
वैभव मिट्टी में मिल गया और आज तक जो घृणा और तिरस्कार की
भावना रावण एवं उसके कारण समस्त राक्षस जाति के प्रति व्यक्त की
जा रही है, उसकी मिसाल अन्यत्र मिलना असंभव है। इतने समर्थ, शक्ति
सम्पन्न, वैभवशाली सम्राट को कहीं भी, प्रतिष्ठा नहीं मिल पाई।

दूसरी स्वर्ण की नगरी द्वारिका थी। कहते हैं कि यह नगरी अत्यन्त
विशाल और रम्य नगरी थी। इसमें अत्यन्त शक्तिशाली, सम्पन्न योद्धा
निवास करते थे। परन्तु अन्त में उसका भी क्या परिणाम हुआ। आज
उसका भी कहीं कोई नामों निशान भी नहीं है।

संसार का असाधारण, अतुलनीय वैभव प्राप्त करके भी राक्षस जाति एवं वीर यादव जाति क्यों विनष्ट प्रायः हो गई? उनका अहंकार उन्हें ले डूबा। लोगों के मन में रावण के प्रति इतनी घृणा और तिरस्कार भरा हुआ है कि वे आज भी रावण के पुतले बनाकर जलाते हैं। न जाने उसके प्रति लोगों के मन की तिरस्कार की भावना कब समाप्त होगी?

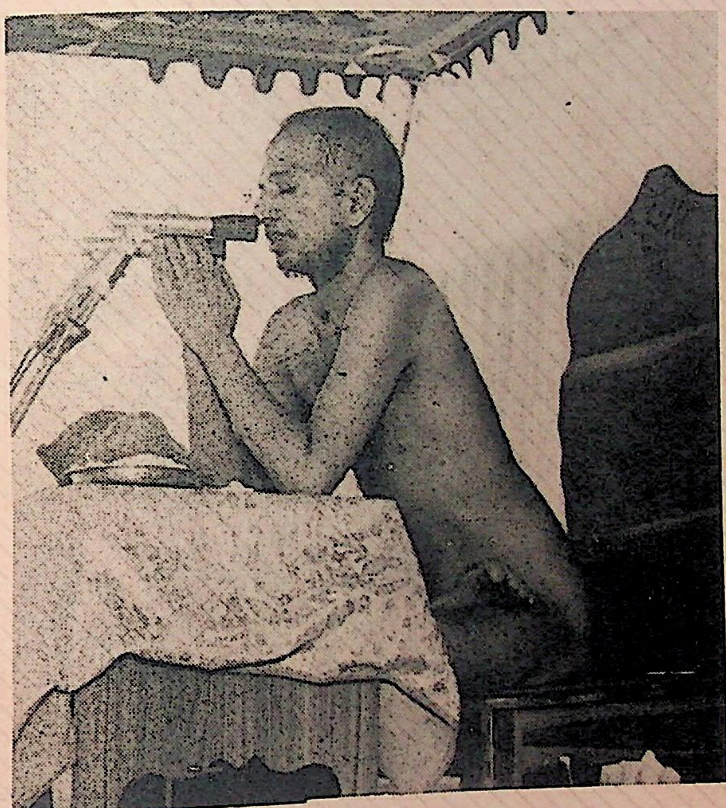
अहंकार के मद में रावण ने अपने को सब कुछ समझ लिया था। अहंकार में ही उसने समस्त आयुष्य बिता दिया। जीवन में कभी भी वास्तविक सत्य के दर्शन नहीं कर सका। अतः हमें, सबको अहंकार के विषाक्त परिणामकारी प्रभाव से सर्वदा सतर्क रहना चाहिए। जीवन में इसका त्याग नितान्त आवश्यक है।

यदि हम ज्योति के दर्शन प्राप्त करना चाहते हैं तो हमें रावण की अहंकारपूर्ण दुष्ट प्रवृत्तियों का त्याग करके राम के आदर्शों को अपनाना चाहिए। अहंकार के अभाव में ही पवित्र ज्योति के दर्शन संभव है। सिकन्दर ने विश्व विजय के स्वप्न देखे थे किन्तु वह स्वयं को न जीत सका। अन्त तक वह स्वयं से पराजित ही रहा। अहंकार के अपार बोझ से सदा हवा खाता रहा है। अहंकार जिस पर भी सवार होता है, उसे समूल नष्ट करके ही दम लेता है। यह एक सूखा घाव है जो तनिक भी मान-सम्मान की हवा लगते ही हरा-भरा हो जाता है। ऐसे प्राणियों को खुशी और आनन्द प्रदान करना अत्यन्त कठिन है।

अहंकार एकन एक दिन टूट जाता है, समाप्त हो जाता है। इससे मुक्त होना ही यथार्थ में मार्दव धर्म की प्राप्ति करना है। मार्दव धर्म का बोध हो, जीवन में इसकी प्राप्ति हो, हमारा लक्ष्य, हमारा एक मात्र उद्देश्य होना चाहिए।

उत्तम मार्दव धर्म की जय

उत्तम आर्जव



आचार्य पुष्पदन्त सागरजी महाराज



★ उत्तम आर्जव धर्म ★

धर्म प्रेमी बन्धुओं,

इस युग में, आज जैसी मनुष्य की दशा हैं, जितनी जड़ता है, मनुष्य सब कुछ उपलब्ध होते हुए भी इतना मरा हुआ-सा दिखता है, ऐसी दशा, ऐसी स्थिति किसी अन्य प्राणी की नहीं है। इसका क्या कारण है? **क्या जीवन में इतनी जड़ता को समेटे हुए मानव का सम्बन्ध उस परम चैतन्यमय परमात्मा से होना कभी संभव है? कभी नहीं.....त्रिकाल में भी नहीं।**

परमात्मा से सम्बन्ध स्थापित करने की प्रथम शर्त है,- अपने भीतर से समस्त जड़ता को, मन की सारी कुटिलता को, वक्रता को हम हटा दें, हमेशा-हमेशा के लिये दूर कर दें, उससे एकदम मुक्त हो जावें। साथ ही यह भी प्रयास करें कि जो भी तत्व हमें जड़ता प्रदान करने वाले हो, इसमें सहायक हो, उन समस्त तत्वों को भी हमेशा के लिये त्याग दें। उनसे हम एकदम मुक्त हो जाएं और उन समस्त अनुभूतियों से संलग्न हो जाएं जो हमें चैतन्य बनाती है, चैतन्य से संयुक्त करती हैं।

जड़ता पीड़ा है, दुःख है, सकुंल संताप है, निरा, निबिड़ गहन अंधकार है। इसके विपरीत सरलता आनन्द का सरोवर है, ऋजुता सावन की बहार है, चैतन्यता परम श्रेष्ठ सुरभि का अमित भंडार है- मुक्त आकाश की उन्मुक्त यात्रा है।

चैतन्य कभी भी अंधकार में नहीं प्राप्त होता। अंधकार से उस पार प्रकाश की सीमा रेखा में पहुँचना ही उसका एक मात्र कर्तव्य है मन में किसी प्रकार की वक्रता न होने पर ही सफलता के इन शिखरो को छुआ जा सकता है। इसके लिये यह परम आवश्यक है कि हम सरल परिणामी बनें, भोले-भाले बच्चों के समान एकदम निष्कपट नितान्त सरल बनें।

मानव का सरल, ऋजुता से युक्त मन उसका उतुंग गौरव शिखर है एवं साथ ही वह समस्त यातनाओं का प्रवेश द्वार भी.

है। गौरव-शिखर इसलिये है कि सरल मन सम्यक् विचारों में अनन्त संभावनाओं के, सदियों से, अनन्त युगों से बन्द समस्त द्वार खुल जाते हैं, वह अनन्त मुक्त आकाश का विहारी बन जाता है। वह जहाँ भी कहीं जाता है। समस्त अस्तित्व उसका अपना, अपनी प्रभुता से युक्त होता है। उसके अन्दर सन्निहित मुक्त आकाश को समेटे वह उसका आलिंगन कर 'यह उसकी अपनी गौरव की बात है और-

यही मन समस्त यातनाओं का द्वार भी इसलिये है कि इसी मन में वक्रता है मिथ्या विचारों का, अनिष्टकारी दुष्ट विचारों का एक अति अद्भूत अजायबघर भी बना हआ है वह जहाँ कहींभी जायेगा। कुटिलता का ही प्रसारण करेगा। वह न स्वयं चैन पाएगा, न चैन से रहेगा। न अपने सम्पर्क में आने वालों को, भी सुख-चैन पूर्वक आनन्द से रहने ही देगा। निरन्तर विकल बैचेनी उत्पन्न करता रहेगा, उसी के ताने-बाने बुनता रहेगा। यातनाओं को गले लगाने में ही सुख की अनुभूति प्राप्त करेगा। अन्तर्मन में उसकें निरन्तर एक अति दुर्गम तनाव की सी स्थिति बनी रहेगी। इसीलिये उसे समस्त यातनाओं का एक द्वार कहा है। समस्त यातनाएँ इसी मन के द्वार से ही तो प्रवेश करतीं हैं।

मानव का यह जन्म-सिद्ध अधिकार है कि वह अपने इस जीवन में अनन्त ऊंचाई को छू सके, उसे प्राप्त करें; परन्तु जड़ता के कारण, इस वक्रता के कारण वह अपने जन्म-सिध्द अधिकार की प्राप्ति से वंछित हो गया है। इस वक्रता के कारण ही आज उसका अपने परमात्मा पर श्रद्धान भी तो नहीं रहा है। बात-बात में शंकाकुल हृदय से वह पूछता है कि परमात्मा कहा है? वह कभी था या नहीं या यह सब निरी बकवास है, ढ़ोंग है? क्या 'सत्य' नाम की भी कोई वस्तु इस दुनिया में है? दिखता तो सर्वत्र मिथ्या ही मिथ्या है! क्या हम भी परमात्मा बन सकते है? इस जीव को किसने बनाया है? यह विशाल सृष्टि, किसने की है इसकी रचना? क्या यह जीव वास्तव में पहिले शुद्ध था? तब इसे अशुद्ध किसने बनाया? यदि परमात्मा कभी था, और जिस प्रकार शास्त्र कहते हैं कि अब भी है, तब इतनी अशुद्धता कहाँ से व्याप्त हो गई? क्या 'वह' है और सो रहा है? हमें तो इन सब कथनों पर, जाने क्यों, विश्वास नहीं होता विश्वास करने को मन नहीं चाहता। कोई ठोस प्रमाण, कोई आधार तो हो, जिसके सहारे हम विश्वास कर सकें।

इस कुंठित मन में इस प्रकार एक नहीं अनेकों प्रश्न उठा करते हैं- परन्तु श्रद्धान का जागरण नहीं हो पाता।

वास्तव में यह बात तो ठीक उस प्रकार हैं जैसे-

एक व्यक्ति को किसी ने पाँव में गोली मार दी। वह पीड़ा से तड़पने लगा, छटपटाने लगा। उसकी वह असह्य पीड़ा देखकर लोगों ने कहा, चलो, हम तुम्हें अस्पताल पहुँचा देते है। इस पाँव से विषाक्त गोली निकाल देते हैं।' इस पर वह आदमी कहता है कि -

पहले यह तो पता करो कि गोली मारी किसने है। कहीं मेरे किसी मित्र ने ही तो नहीं मार दी है। किसी शत्रु ने ही यदि मारी है, तब तो बात अवश्य ही विचारणीय है। फिर यह भी तो पता चले की गोली किस फैक्टरी में बनाकर तैयार की गई है। वास्तव में गोली अपने ही देश में बनी है या विदेश की है-

तब वहाँ उपस्थित लोगों में से किसी ने कहा-

आपके प्रश्न वास्तव में दुरूस्त है परन्तु इन समस्त प्रश्नों का हल खोजते तक क्या आप जीवित रह सकते हैं? और मान लीजिये कि गोली के विषय में इतनी समस्त बातों का पता चल भी गया, तो क्या उससे आपकी पीड़ा समाप्त हो जाएगी? अतः हितकर तो यही है कि पहिले आपका यथोचित उपचार करवा दें, पाँव से, यदि उसमें गोली अथवा उसका विष है तो उसे निकलावा दें, फिर इन समस्त बातों की खोज होती रहेगी।

गोली यर्थाथ में किसने मारी? वह विषाक्त है या नहीं, किस फैक्टरी में बनी है, अपने ही देश की है या विदेशी है- इन सब बातों का पता बाद में लगा लेना, परन्तु पहिले जो अत्यन्त आवश्यक है वह तो कर लो।

इसी प्रकार हम सब इस घायल मन को लेकर असंख्य जिज्ञासाओं को, भ्रान्तियों को पाले हुए जी रहे हैं। कुटिलता की गोली से मन बुरी तरह घायल हो चुका है, मायाचारी का विष उसमें पूर्ण रूप से घुल

चुका है और फिर भी हम अनेकों प्रश्न किये जा रहे हैं! प्रश्न के मूल में तत्व को जानने की कोई यथार्थ जिज्ञासा भी नहीं है- मात्र प्रश्न पूछना है, सो पूछे जा रहे हैं- भटक रहे हैं।

जो प्रश्न बुनियादी है, उसे छोड़कर अनेकों प्रश्न किये जा रहे हैं- जो गोली लगी है, वह किस उपाय से निकलेगी?

मुख्य प्रश्न है, मन की वक्रता किस प्रकार दूर हो!

"व्यक्ति परमात्मा बन सकता है या नहीं? महावीर वास्तव में हुए है या नहीं, इन प्रश्नों के पूछने से कोई समस्या हल नहीं होने वाली है। महावीर के मात्र होने से तो मन की वक्रता दूर नहीं होगी। उसे तो प्रयास पूर्वक ही दूर करना होगा। भलेही थाली परोसी हुई क्यों न हो, व्यंजनों को मुख में ड़ालने काप्रयास तो करना ही होगा, तभी तो पेट की क्षुधा शान्त होगी। अतः मन की वक्रता को निकालने के लिये, **इन तमाम व्यर्थ के उठने वाले प्रश्नों को छोड़ना होगा। तभी उत्तम आर्जव धर्म स्वीकार कर सकेंगे एवं तदरूप आचरण संभव होगा। तभी मन में सरलता एवं ऋजृता उत्पन्न होगी।**

जीवन में जो पीड़ा है, जो भी संकट है, संताप है, वह सब मन की इस वक्रता के रहते हैं, प्रश्नों के ऊहापोह करने से कभी भी सामप्त नहीं होगा। इसके लिये जीवन में आर्जव धर्म अपनाना नितान्त आवश्यक है। अब आपके मन में स्वाभाविक ही यह प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि महाराज आखिर यह आर्जव धर्म क्या है?

'ऋजोर्भावः इति आर्जवम्'

निष्कपट हृदय, सरल परिणाम का होना ही तो आर्जव भाव है। मन, वचन और काय इन तीनों के स्वरों में सामंजस्य स्थापित करना, इन्हें एक लय और एक छन्द में बांध लेना, भीतर और बाहर से एक रूपता रखना। जिस प्रकार का मनन, चिन्तन और ध्यान- उसी रूप में वचन कहना और तद्रूप ही क्रिया करना कथनी और करनी में साम्य रखना, यही आर्जव धर्म का पालन करना है।

अब आपका चिन्तन बहके नहीं, आप छल-कपट न करें, इसकी कल्पना भी आपके मन में उत्पन्न न होवें, तथा आपके मन वचन एवं काय नीनों में सरलता एवं मृदुता आ जावे। अब आपको न तड़पन से कोई वास्ता हो इसी प्रकार की वक्रता से आपको सदा के लिये मुक्त हो जाता है। यह काम इतना सरल यद्यपि नही है परन्तु फिर भी आपको प्रामाणिक प्रयत्न तो करना ही है। अब मात्र आत्म-चिन्तन में तल्लीन रहने का प्रयत्न करना है....... परम शुद्धता का अनुभव करवा है। दर्पण के समान बनना, परम आनन्द प्रदायक चिन्मय तत्व की प्राप्ति एवं उससे विमुक्ति भी मन, वचन और काय की चेष्टाओं पर ही अवलंबित है। मन, वचन और काय की वक्रता यदि पापास्रव का कारण है, तो इसकी ऋजुता, सरलता उसी भाँति पुण्यास्रव का कारण भी है। इनकी अवांछनीय क्रियाओं से हम यदि संसार सागर में आकंठ डूब सकते है तो इन्हीं की श्रेष्ठ प्रक्रियाओं से विशाल भवसागर से पार भी हो सकते हैं। इन्हीं से यदि जन्म-मरण की अक्षुण्ण श्रृंखला को चिरंतन अक्षुण्ण स्वरूप प्राप्त हो सकता है, तो दूसरी और अजर-अमर पद भी प्राप्त किया जा सकता है।

हम भव सागर में कितने भी क्यों न भटक गये हों, आर्जव धर्म हमें अपनी आत्मा के पास लौटने में निश्चित ही सहायता प्रदान करता है। यह त्रैकालिक सत्य है कि मन, वचन और काय के टेढ़ेपन से आत्मा के पास लौट आना कदापि संभव नहीं हैं।

मन आत्मा की एक अत्यन्त अपूर्व शक्ति है; आत्मा ने ही इसे जन्म दिया है। फिर भी यह आत्मा का स्वभाव नहीं है, अपितु विभाव परिणति का एक दृश्य फल है। विभाव परिणति होते हुए भी स्वभाव तक पहुंचने में 'मन' परम सहायक कारण भी है। जिसने इस मन को जन्म दिया है उसके पास इसे वश में रखने की कला भी अवश्य ही रहनी चाहिए अन्यथा मन जैसा नचाएँगा उसे नाचना ही होगा।

मन ने आप को पकड़ लिया है, पूर्ण रूप से जकड़ लिया है- उससे आपका पिण्ड नहीं छूटता। वह नित कितने उनगन करता है। हमें कितना नाँच नँचाता है। हमारा अपना ही मन हमें वरदान प्रदान करने की बजाय हमारें लिये अभिशाप का कारण बन जाता है। अनन्त-अनन्त युग समाप्त हो गये, होते जा रहे हैं- परन्तु यह 'मन' कपट करना नहीं छोड़ता, मायाचारी का परित्याग नहीं करता, अपनी अन्तर्मन की वक्रता।

को नहीं छोड़ता। वासनाओं के पीछे अब भी उतनी ही ललक के साथ, द्रुतता के साथ दौड़ता ही जा रहा है। वह कभी भी तृप्त नहीं होता। वास्तव में इस चंचल मन पर हमें, सवार होना चाहिए था, इसकी बागड़ोर हमारें हाथों में होनी चाहिए थी, परन्तु दुर्भाग्य से आज वह हम पर सवारी कर रहा है।

कुछ दिन पूर्व मैंने किसी दार्शनिक की एक कहानी पढ़ी थी। मुझे वह पर्याप्त रोचक और बोध पूर्ण प्रतीत हुई - आपको भी प्रतीत होगी।

किसी नगर में एक राजा रहता था। उसके यहाँ पाँच घोड़े थे। वह उनकी तन, मन, धन से खूब सेवा करता था। इतनी सेवा के बाद भी वे घोड़े उसके वश में नहीं थे। उन्हें अपने वश में लाने का राजा ने बहुत प्रयत्न किया परन्तु उसके सभी प्रयत्न विफल हुए। हठात् एक दिन राजा के मन में यह विचार आया कि, मैं अकेला, घोड़े पाँच हैं। संभवतः इसी कारण ये मेरे वश में नहीं हो पा रहे हैं। संभव है यदि पाँच भिन्न-भिन्न व्यक्ति यदि प्रयत्न करें, तो वे इन पर प्रभुत्ता प्राप्त करने में सफल हो सकें। और उसने अपने इन विचारों की घोषणा करवा दी। उन्होंने ऐलान करवाया कि जो व्यक्ति इन घोड़ों को अपने वश में करके दिखाने में सफलता प्राप्त करेंगे उन्हें प्रत्येक को राज्य की ओर से सम्मानित किया जायेगा और प्रत्येक को उसकी योग्यतानुसार उच्च पद पर नियुक्त किया जावेगा। जो साहसी सवार सबमें अपनी श्रेष्ठता सिद्ध कर देगा, उस प्रथम सवार को मैं अपना प्रधान मंत्री नियुक्त करूँगा।

राजा की यह घोषणा राज्य के आस-पास, दूर-दूर तक गाँवों में प्रसारित हो गई। अपना भाग्य आजमाने के लिये राज्य में दूर-दूर से दुःसाहसी, वीर घुड़सवार आने लगे। अनेकों सवार तो घोड़े की चपलता देखकर बाहर के बाहर ही लौट गए। उन्होंने सोचा क्यों नाहक अपनी जान को धोखे में ड़ाला जाए। अच्छी भली आराम की इस जिंदगी में क्यों निमन्त्रण दिया जाये। घोड़े क्या है? जलती हुई आग की लपलपाती ज्वालाऐ है। किसी भी क्षण कुछ भी हो सकता है। इन्हें वश में करके ही हम कौनसा तीर मारने वाले हैं।

घोड़े भी जो थे, सो किसी को अपनी पीठ पर हाथ भी नहीं रखने दे रहे थे। अति स्वच्छन्दता के कारण वे सीमा से अधिक खतरनाक भी बन गये थे। उन पर सवारी करना तो दूर की बात थी, अस्तबल

से बाहर निकालना ही अत्यन्त असम्भव प्रतीत हो रहा था! उनके समीप जाना ही मानों साक्षात मौत को निमंत्रण देने के सदृश प्रतीत हो रहा था।

इस भयंकर परिस्थिति में भी पाँच चुनंदे घुड़सवार अपने प्राणों की बाजी लगाने के लिए कृत संकल्प दिखाई दिये। वे सभी परिस्थितियों में किसी भी खतरे का सामना करने के लिए सहर्ष तैयार थे। शर्त के अनुसार इन सवारों को घोड़ों पर बैठकर सौ मिल की यात्रा करनी थी। इस यात्रा के लिये प्रत्येक को पाँच-पाँच दिन का समय प्रदान किया गया था।

निर्धारित समय पर घोड़े अपने-अपने सवारों सहित अस्तबल से बाहर निकले। इन सवारों को, घोड़ों को देखने के लिये जनता की अपार भीड़ मार्ग के दोनों ओर एकत्रित हो गई थी। था न आश्चर्य ...... घोड़ों को देखने के लिये आदमियों की अपार भीड़ थी। क्या इसी प्रकार विचित्र मानव प्राणियों को देखने के लिये कभी भी घोड़ों की भीड़ एकत्रित हुई देखी है?

ये घोड़े शुरू से ही स्वच्छन्द तो थे ही, अवसर पाते ही वे सवारों सहित जंगल की दिशा से पूरी रफ्तार से पलायन करने लगे। उन्हें अब वश में रखना उन सवारों के लिये मुश्किल प्रतीत होने लगा। सवार घोड़ों पर सवार होकर भी मनों सवार नहीं थे। उन्हें अपने घोड़ों पर कोई काबू नहीं था। घोड़े मनचाही दिशा से उन्हें अपनी रफ्तार से लिये चले जा रहे थे। घोड़ों पर से कहीं गिर न पड़े इसलिये मात्र लगाम हाथों में थामे वे उनकी पीठ से चिपके हुई विवश स्थिति में चले जा रहे थे। सवार उनका संचालन नहीं कर रहे थे; वे सवारों को अपनी पीठ पर लिये हुए चले जा रहे थे।

इसी प्रकार हम सबकी मनोदशा है। हम अपने मन पर कहाँ सवारी कर रहे है? मन की लगाम कहाँ हमारे हाथों में है? मन ही हम पर सवारी कर रहा है- वह हमारा मालिक है।

वे घोड़े अब हवा से बातें करते हुए मानों उड़े चले जा रहे थे।

इस प्रकार एक दिन व्यतीत हो गया। दो दिन भी बीत गये। सवार एवं घोड़ा कहीं कोई पता नहीं था। चार सम्पूर्ण दिन व्यतीत हो

गये और स्थिति यथावत थी। पाँचवे दिन सुबह एक-एक करके चार सवार अपने-अपने घोड़ा सहित किसी तरह लौट आये। सभी सवारों की हालत अत्यन्त चिंताजनक रूप से गंभीर थी। घोड़ों सहित वे सभी लुहलुहान हो चुके थे। प्रायः सभी को चौटें आई थीं। चोटें भी पर्याप्त गहरी थीं। किसी के बचने की कोई उम्मीद प्रतीत नहीं हो रही थी।

राजा ने जब प्रत्यक्ष स्वयं उन सबकी हालत देखी तो वह बेहद घबरा गया। वह सोचने लगा कि पाँचवा सवार अब तक क्यों नहीं लौटा। जब इन चारों की यह हालत है, तब पता नहीं उस पाँचवे सवार की क्या दुर्गति हुई होगी? कहीं वह सघन वन में न भटक गया हो। इसी प्रकार चिंता में राजा का सम्पूर्ण दिन व्यतीत हो गया। सूर्यास्त होने में अब कुछ घंटे ही मात्र शेष है। अब यदि उसे तलाश भी करना चाहे तो कहाँ तलाश करे, और समय भी कहाँ से लाये। राजा इसी प्रकार की चिंता में खोया हुआ था कि क्षितिज की रेखा को स्पर्श करती हुई सूर्य की अंतिम किरणों में पाँचवा सवार भी उसे आता हुआ दिखाई दिया।

अन्य चारों सवारों की अपेक्षा वह अधिक स्वस्थ, शान्त, प्रकृतिस्थ एवं प्रसन्न दिखाई दे रहा था। उमंग में भरा हुआ वह अलमस्ती में गीत गुनगुनाता चला आ रहा था। उसे किसी प्रकार की कोई हड़बड़ी नहीं थी। राजा ने उसकी ओर देखा और प्रसन्नता से मुस्करा दिया। राजा हठात् गद्गद हो उठा। उसने आगे बढ़कर उस वीर का स्वागत किया और हर्षातिरेक से उसे अपनी छाती से लगा लिया।

कुछ क्षणोपरान्त प्रकृतिस्थ होते ही, आवेश का प्रथम दौर समाप्त होते ही, राजा ने उससे पूछा कि उस चपल घोड़े पर उसने किस युक्ति से काबू पाया? उसकी इस अभूतपूर्व सफलता का क्या रहस्य है? सवार ने अत्यन्त विनम्रतापूर्वक उत्तर दिया, इसमें भला क्या मुश्किल थी, स्वामी! अश्व की वल्गा पर मेरा पूर्ण नियन्त्रण था। परिणाम स्वरूप अश्व आसानी से मेरे पूर्ण नियन्त्रण में रहा।"

जिनके हाथों में वल्गा होती है और उस पर उनका पूर्ण नियन्त्रण होता है, उनके घोड़े कदापि स्वच्छन्द नहीं हो पाते। घोड़ों को वश में रखने के लिये उन्हें लगाम लगाना और उस पर काबू रखना नितान्त आवश्यक है। बस ठीक इसी प्रकार चं[illegible] "मन-रूपी घोडों पर लगाम

लगाना भी नितान्त आवश्यक है। यदि आपका मन आपके वश में है, आप सफलतापूर्वक उस पर लगाम लगा सके है, तब तो समस्त इन्द्रियाँ आपके वश में होगी, और जिसकी इन्द्रियों पर उसका काबू है, वहीं वास्तव में मुक्तता का सही, सही अनुभव कर पाने का अधिकारी है।

आज समस्त विश्व की लगभग पाँच अरब जनसंख्या होगी। कल्पना कीजिये इतने अरब घुडसवार, अपने चंचल अश्वों की वल्गा थामे, भूमण्डल पर इतस्ततः विचरण कर रहे हैं। इनमें से गिने चुने ही सवार हैं, जो अपने अपने घोड़ों पर वास्तव में सवारी कर रहे हैं। बाकी समस्त लोगों पर ये घोड़े ही यथार्थ में सवारी कर रहे है। अन्य सब मानव उन चार सवारों के समान ही लहुलुहान हो रहे हैं।

मनुष्य को सर्वप्रथम स्वयं पर, स्वयं के मन पर विजय प्राप्त करने का प्रामाणिक प्रयत्न करना चाहिये। मन में वासनाओं की जो आंधियाँ चल रही हैं, उन पर नियन्त्रण रखने के उपरान्त ही हम कह सकेंगे कि अब हम कुशल सवार है।

उन्नतं मानसं यस्य, भाग्यं तस्य समुन्नतं।

जिसका मन उन्नत हो गया, सरल-शांत-सुदृढ़ हो गया- उसका जीवन, उसका भाग्य भी श्रेष्ठ हो गया। श्रेष्ठ मन ही समस्त पापों का क्षय करने में समर्थ है। जन्म, जरा, मृत्यु पर विजय प्राप्त करने के लिये मन का सरल होना नितान्त आवश्यक है।

वक्र मन, कुटिल मन, मायाचारी से परिपूरित मन, इस भव में मात्र विपत्तियों को ही जन्म देता है। मायाचारी करने वाला, स्वयं अपने मन को ही निरन्तर ठगता रहता है। वह सोचता है कि मैं तो दूसरों को ही ठग रहा हूँ किन्तु वास्तव में वह स्वयं को ही, अपने आप को ही ठगता है। कलुष भावों के कारण समता का नितान्त अभाव होकर, तामस वृत्ति का उद्भव हो जाता है। मायाचारी मन दुःखों के अपरम्पार, अत्यन्त दुर्गम, दुर्लध्य पहाड़ निर्मित करता रहता है। यह हमें संसार-सागर में डुबोने का कार्य भी अच्छी तरह से करता है। अतः बन्धुओं, मायाचारी से बढ़कर इस जगत में अन्य कोई पाप नहीं है। यह मायाचारी

मन विषय-वासनाओं की दुर्गन्धि का अपूर्व भंडार है।

मायाचारी करने वाला बाहर से तो जी हुजूरी करने वाला, अत्यन्त सरल-विनम्र प्राणी प्रतीत होता है, परन्तु भीतर से वह कुछ और ही होता है। अपने खजूर तो देखा होगा, खाया भी होगा। ऊपर से मुलायम और मीठा परन्तु अन्दर से अत्यन्त कडा। मायाचारी मानव भी अन्दर से इतने कठोर, निर्मम होते हैं। अपनी स्वार्थ-पूर्ति के लिये वे गधे के भी पैर छू सकते हैं। अतः मायावी को पहिचानना अत्यन्त कठिन होता है।

आज राष्ट्रों के मध्य जितने भी हिंसात्मक भीषण युद्ध होते है, जितनी भी रक्त-रंजित क्रान्तियाँ होती हैं उन सबका मूल कारण मायाचारिता ही होता है। मायाचारी व्यक्ति सर्वाधिक हिंसक होता है......हिंसा करता है।

वह हिंसा की ही प्रवृत्ति को निरन्तर प्रोत्साहन देता है। वह भावात्मक हिंसा एवं "द्रव्य-हिंसा"- दोनों प्रकार की हिंसा करता है। वह संसार की समस्त बुराइयों की जड़, उनका मूल कारण, उनका जनक होता है।

कौरवों की मायाचारी के कारण ही गीता का उपदेश देना पड़ा, दुष्ट कौरवों ने लाक्षा-गृह बनाकर अपने ही भाइयों को जलाकर भस्म करने का मायाजाल रचाया था। मायाचारी का घर में अद्भुत बँटवारा होता है; घर में मायाचारी एवं मंदिर में भजन-पूजन और उसका धर्मात्मा स्वरूप। परन्तु इससे तो कभी कोई लाभ नहीं होता, हानि ही होती है।

बीमारी में भी उन्हें अद्भुत रस प्राप्त होता है। बीमारी को प्रायः सभी लोग अत्यन्त बढ़ा-चढ़ाकर बताने में ही संतोष प्राप्त करते हैं। स्वास्थ्य को कभी कोई बढ़ा चढ़ाकर नहीं बताता। यदि आपका सिर दुःख रहा हो और आपकी पत्नी आपके पास बैठी हो, तो निश्चित जानिये आपका सिर दर्द बढ़ जावेगा। आपकी इच्छा या अपेक्षा होगी कि आपके दुःख के प्रति सहानुभूति, चिंता, फिक्र व्यक्त करें। स्वयं अपने हाथों से आपका सिर दबावे और आपके सिरहाने बैठी रहे।

कर्म-संयोग से यदि आप अस्पताल में भर्ती हो जाते है। उस समय आपकी मायाचारी अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाती है। लोगों को देखकर आप आह, ऊह करना, कराहना शुरू कर देतें हैं, उद्देश्य

यही होता है कि लोगों का ध्यान आपकी ओर आकर्षित होवे। वे अधिक से अधिक समय तक आपके पास बैठे रहें- आपके प्रति सहानुभूति व्यक्त करें, स्वास्थ्य के प्रति चिन्ता व्यक्त करे, और इस प्रकार उनके मधुर शब्द आपके कानों में घुलते रहे।

श्रृंगार करना भी मायाचारी का एक अत्यन्त आकर्षक स्वरूप है। श्रृंगार के पीछे स्वयं आकर्षक दिखें यह भाव तो निश्चित रूप से होता ही है, इसमें कोई दो मत या सन्देह नहीं है; परन्तु यह भाव भी अवश्य ही होता है कि इसके माध्यम से हम किसी को अपनी ओर आकर्षित करें। कोई हमें सुन्दर कहे......हमारे रूप की, शरीर के सुन्दर अवयवों की नाक को, आँखों की प्रशंसा करे, सुन्दर बालों की प्रशंसा करे। यह प्रशंसा हमारे मन को अन्दर ही अन्दर खूब सुन्दर ढंग से गुदगुदाती है .. हमें अत्यन्त सुखद प्रतीत होती है। इसके अभाव में जीवन नीरस-सा प्रतीत होता है। अतः यदि यह कहें कि श्रृंगार दूसरों को लुभाने के लिये ही किया जाता है, तो अतिशयोक्ति नहीं होगी।

जंगल में, एकान्त में जाकर किसी को भी श्रृंगार करते कभी नहीं देखा। कभी सुना भी नहीं। कारणस्पष्ट रूप से यही होता है। कि वहाँ आपके रूप सौन्दर्य की प्रशंसा करने वाला कोई नहीं होता। वैवाहिक अवसरों पर, सामाजिक उत्सवों में तो, लड़कियों में यह स्वरूप अपने उफान पर होता है। श्रृंगार में उन्हें अत्यधिक रस प्राप्त होता है।

किसी के हृदय-कपाट में छिपे मायाचारी भावों को समझना वास्तव में अत्यन्त कठिन है। अपने स्वार्थ की परिपूर्ति के लिये हम प्रत्येक समय, हर पल कह लीजिये, मायाचारी में ही रत रहते है। हमारा मन आठों प्रहर स्वार्थ की परिपूर्ति में रत रहता है। प्रत्येक प्राणी यही कहता है कि वह मायाचारी नहीं करता, और उसका यह कहना, भला क्या सिद्ध करता है?

जीवन में प्रायः यह देखते ही रहते हैं कि-

हमारे घर जब कोई मेहमान आता है तो हम बहुत प्रसन्नता जाहिर करते है। परन्तु कुछ दिनों में ही हमारे मन में ये विचार कुल बुलाने लगते हैं कि पता नहीं ये कब यहाँ से जाएँगे। इसी बीच यदि मेहमान

जाने की बात करता है, तो आप अभिनय करते हैं कि उसके "जाने" की बात सुनकर आप अत्यन्त दुःखी है। और कहते हैं कि-

भाई, एक तो बहुत दिनों बाद, इस ईद के चाँद "के हमे दर्शन का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। आपके आने पर कितनी खुशी हुई है, हम सबको, और आप है कि आते ही," जाने की रट लगा रहे हैं। अतः आपसे प्रार्थन है कि कुछ दिन और रूक जाइये, प्लीज। हमारी प्रार्थना है कि कुछ दिन और रूक जाइये, प्लीज। हमारी प्रार्थना पर थोड़ा तो गौर कीजिये। आप आये अपनी मर्जी से हैं, जाएंगे हमारी मर्जी से। हम आपकी, इस बार, कोई दलील नहीं सुनेंगे। और मन ही मन सोचते है कि-

कहीं यह इस प्रार्थना को सच मान कर रुक न जाए। अतः अपने विचारों की दिशा को कितना सुन्दर मोड़ देते है।

'पप्पू' देखों तो घड़ी में कितना बज रहा है। और हाँ, अंकल ने नाश्ता और भोजन तो कर लिया है न? कितने बजे की गाड़ी सविधाजनक होगी। आजकल "सुपर फास्ट" एक्सप्रेस चलने लगी है। लम्बी यात्रा में, मैं सोचता हूँ काफी आरामदायक रहती हैं। संभव हो सके तो फोन करके उसका 'रिजर्वेशन' करवा लो। अब जब वे मान ही नहीं रहे हैं, तो हमारा भी तो कुछ फर्ज है या नहीं। नहीं वे कहेंगे कि देखों, फलाने के यहां गया, तो लौटने में कितनी मुसीबत हुई। और सुनों, अंकल जी को पहुँचाने तुम स्वयं चले जाना।

अब आप ही देखिये कि मन में कितनी मायाचारी चलती रहती है। यह तो अपने वालों के साथ, परिचित, मित्रों के साथ होता है- अपरिचित एवं गरीबों के साथ तो इसकी मात्र कल्पना ही की जाय तो पर्याप्त होगा।

इस युग में पुरुषों का वह वर्ग जो स्त्रियों को मात्र खिलौना समझता है, उनके अन्तर्मन की दशा अत्यन्त निराली होती है।

उनकी मायाचारी को समझना नितान्त मुश्किल है। वे हजारों लोगों के सामने तो नारी के समक्ष उसके सम्मान में सिर झुकाने का अत्यन्त सफल अभिनय करते हैं। उसे सबके समक्ष श्रेष्ठ आसन प्रदान करते हैं। किन्तु शीघ्र ही पशु भावना से ग्रसित होकर उसके नख-शिख तक, सौंदर्य की प्रशंसा करके वासना की आंधी में बहकर उसे पतित बना देते हैं। अंधकार से भरी हुई खाइयों में गिरकर सदा के लिये उसके चरणों की गुलामी ही कर सकते हैं।

स्त्री की सबसे बड़ी कमजोरी है उसका रूप-सौंदर्य एवं उसकी प्रशंसा। जो भी उसके रूप सौंदर्य की, लावण्य की, यौवन की प्रशंसा

करेगा, वह सहज ही उसके चरणों में झुक जाती है, आत्मसमर्पण के लिये समुत्सुक हो उठती है, किन्तु वासना की शिकार बनने के उपरान्त पश्चाताप करती है। इसके पूर्व उसका विवेक जागृत नहीं होता, उसकी आंखे नहीं खुलती। शील का, मूल्य तब तक उसकी दृष्टि में नगण्य ही रहता है। इस संसार में मायाचारी अनेक रंगों में, अनेक गुणों में व्यक्त होती रहती है। इसमें अपूर्व आकर्षण भी होता है। इससे हमें, सबको सत्यन्त सतर्कतापूर्वक बचना ही होता है।

विवाह, जन्म-दिन, डिनर पार्टियों के अवसरों पर, सुस्वादु मिष्ठान्नों के सेवन के अवसरों पर भी हम स्वाभाविक नहीं रहते-सहज नहीं हो पाते। बड़ी लालच भरी ललक जागृत हो उठती है। हममें मानों वे सब पदार्थ हम सबने अपने जीवन में इसके पूर्व कभी देखे ही न हो। आज प्रथम बार ही वे मानों हमारे समक्ष प्रस्तुत किये गये हो और किस आतुरता से हम टूट पड़ते हैं, उन पर यह भी एक अनोखा रुप है मायाचारी का। हम नहीं चाहते कि इस रुप में कोई हमारी ओर देंखे और हमारे दोष सबके समक्ष उजागर हो। गरीबों, भिखमंगों को भला हम क्या दोष दें, हम क्या उनसे कम निकृष्ट होते हैं। जिनको जीवन में अभाव है, उनकी बात तो एक सीमा तक समझी जा सकती है, परन्तु जहां किसी प्रकार का कोई अभाव न हो और वह ऐसा अजीब, अविश्वसनीय, आचरण करे, करने को समुत्सुक हो, तब उसकी मायाचारी के उस स्वरुप को नमस्कार ही करने को जी चाहता है।

तिर्यच गति के प्राणियों में मायाचारी की मात्रा अधिक होती है। कौआ सबसे अधिक मायावी होता है। बाह्यतः वह जितना काला होता है, उसका अन्तस् भी उतना ही प्रगाढ़ काला होता है। इसी प्रकार उल्लू पक्षी को सूर्य-प्रकाश में स्पष्ट दिखाई नहीं देता। सूर्योदय होते ही कौआ उसे कष्ट पहुँचाने हेतु उसके स्थान पहुँच जाता है। कोयल भी रंग-रुप आकार में कौए के समान होने के कारण, अपने अण्डे कौअे के घोसले में रख देती है और धूर्त समझा जाने वाला, चतुर कौआ भी चुपचाप उन्हें सेता है।

अपने वनवास के दिनों में राम और लक्ष्मण किसी नदी के किनारे से जा रहे थे। नदी के किनारे एक बगुला एक पैर से ध्यानस्थ खड़ा था। राम ने लक्ष्मण का ध्यान उसकी ओर आकर्षित करते हुए कहा, "देखो लक्ष्मण, यह बगुला किस प्रकार एक टाँग पर आंखे मूंदे हुए ध्यानस्थ खड़ा है। मालूम होता है कि यह कोई तपस्वी है।

रामचन्द्र जी की यह बात सुनकर लक्ष्मण हंस दिये। बोले-"भैया आप अत्यन्त भोले हैं। यह बगुला तो मछलियों को पकड़ने के लिए इतनी एकाग्रता से यहां खड़ा है। यदि आप थोड़ी देर यहां खड़े रहेंगे

तो इसकी एकाग्रता का, इसकी तपस्या के रहस्य का आपको पता चल जायेगा। और

थोड़ी देर बाद ही बगुले की चोंच में एक मंछली थी, और वह वहां से उड़ चुका था। तब अत्यन्त विस्मय चकित हो राम ने कहा यह तो भयंकर "मायावी है।"

लंका का अत्यन्त शक्तिशाली , वैभव सम्पन्न, राजा रावण की मायाचारी से ठगकर ही, एक नकली साधु का वेष बनाकर सीता का हरण कर ले गया था। युद्ध के अवसर पर भी उसने राम के समक्ष सीता का सिर काटकर दिखाया था, तब विभीषण ने तत्काल ही राम को सचेत किया था कि वे रावण की मायाचारी पर विश्वास न करें। वह सीता का सिर नहीं है। वह रावण की मायाचारी है। अपनी छल विद्या से वह यह कपट कर रहा है। वह इस विद्या में अत्यन्त कुशल हैं। विभीषण ने रावण की मायाचारी का पर्दाफाश कर दिया था। उसने युद्ध भूमि में राम को साहस बंधाया था। रावण की मायाचारी के कारण ही उसका पतन हुआ था।

मायाचारी पुरुष बिल्ली के समान होता है। अत्यन्त कृतघ्नः बिल्ली जिस मालिक का दूध पीती है, उस मालिक की आंखें फूटने की माला जपती है। जब वह दूध पीती है, तब आंखें मूंद लेती है। और मन में सोचती है कि मुझे कोई नहीं देख रहा, पर जब पीछे से डंडा पड़ता है तब समझ में आता है।

ठीक इसी प्रकार मायावी पुरूष भी नित्य सोचता रहता है कि उसकी मायाचारी है कि उसकी मायाचरी को कोई नहीं देख रहा है परन्तु जब कर्मों की मार का उसे डंडा पड़ता है, तब वह अत्यंत दुःखित हो उठता है।

राजनीति में तो मायाचारी सबसे अधिक होती है। जो मायाचारी करने में जितना अधिक निपुण होगा, लोग उसे उतना ही अधिक सफल राजनीतिज्ञ मानेंगे। दूसरों पर तनिक भी विश्वास नहीं करता। 'विश्वास' यह शब्द ही उसके कोष में नहीं होता। परन्तु इतना सफल अभिनय करतें है कि उन्होंने विश्वास कर लिया है अथवा पूर्ण विश्वास कर रहें हैं। नाटक के इस अभिनय में वे अत्यन्त सफलता पूर्वक अपनी भूमिका निभाते हैं। उनकी गुप्तचर संस्था अत्यन्त सक्रिय रहती है।

मायाचारी सीखने के लिये किसी को किसी विद्यालय में नहीं जाना पड़ता वह स्वयं ही इस कला में क्रमशः निपुण हो जाता है। स्त्रियों में तो मायाचारिता स्वभावतः कूट-कूट कर भरी होती है - कहा भी है कि "देवो न जानाति, कुतः मनुष्यः" उनकी मायाचारी को समझना

अत्यन्त मुश्किल का काम है। **उनमें मान और क्रोध का अपूर्व सम्मिश्रण होता हैं। जहाँ मान होगा, वहाँ क्रोध भी अवश्य ही होगा।**

एक बार गांव के जमींदार ने गाँव के समस्त लोगों को अपने यहाँ पर भोजन के लिये आमंत्रित किया। भोजन की अत्यन्त सुन्दर प्रशंसनीय ढ़ंग से व्यवस्था की गई! गाँव का जमींदार था वह! यदि व्यवस्था में कोई त्रुटि रह जाती, तो जमींदार के नाम में धब्बा लग जाता। उसकी प्रशंसा फीकी हो जाती! अतः उसने अत्यन्त सावधानी पूर्वक उत्तमोत्तम, पाकशास्त्र में निपुण, प्रवीण रसोइयों द्वारा भोजन पकवाने का व्यवस्था की।

ऐसी-ऐसी मिठाइयाँ बनवाई, जिनका वहाँ के लोगों ने नाम भी नहीं सुना था, देखना तो दूर की बात थी। जब लोगों को मिठाइयाँ परोसी गई, उन्हें देखकर वे सब आश्चर्य करने लगे।

इस भोज में एक नव-विवाहित दम्पत्ति भी सादर आमंत्रित थे। दोनों अत्यन्त गरीब थे। जिन्होंने स्वप्न में भी घी-दूध के दर्शन नहीं किये थे। इस भोज की समग्र सामग्री घी और दूध की ही बनी हुई थी। पत्नी को भोजन परोसने का काम सौंपा गया। उसने सोचा; इनको कभी शायद ही घी-दूध के दर्शन हुए होंगें- यह अच्छा अवसर है। आज उन्हें खूब डटकर खिला दूँ। स्वास्थ्य में भी अवश्य ही लाभ होगा। घी और दूध अत्यन्त शुद्ध जो है। शुद्ध घी-दूध से विकार नहीं होगा। चेहरे पर लालिमा चमकने लगेगी।

अभी जो चेहरा सोंठ के समान शुष्क दिखाई दे रहा है, घी और दूध के प्रभाव से अवश्य ही टमाटर के समान गुलाबी हो जाएगा। गौरे हैं ही, सो बहुत खूबसूरत दिखाई देंगे। यहाँ घी और दूध तो पानी के समान बहाया जा रहा है......कोई रोकने-टोकने वाला भी नहीं हैं। अतः यह सब सोच विचार कर पति को घी परोसने का कार्य उसने स्वेच्छा से अपने ऊपर ले लिया।

उसने सबको तो थोड़ा-थोड़ा ही घी परोसा, परन्तु जब वह अपने पति के सामने पहुँची, तब मायाचारी से घी का बर्तन ही उनकी थाली में गिरा दिया- पति को आँख के इशारे से बता दिया कि वे "पूरा घी खा ले" एवं पंचों मेंऐंसा अभिनय किया कि घी का बर्तन उसके हाथों से, धोखे से गिर गया है।

पति से कहा कि शुद्ध घी है। धोखे से बर्तन गिर गया है। जितना उनसे खाते बने, वे खा लें! ध्यान रहे, घी बरबाद न होने पावे।

बेचारा पति अत्यन्त मुश्किल में पड़ गया। पत्नी की चेतावनी कि "घी खा लो"; एवं पंचों का भय कि लोग क्या समझेंगे 'अच्छा भुख मर्रा है।" परन्तु पत्नी के उस बन्दे ने बिना आगा-पीछा सोचे, वह पूरा घी पी लिया। परिणाम स्वरूप, उसे शीघ्र ही अस्पताल में भर्ती होना पड़ा। पड़े-पड़े सोचने लगा कि कहाँ घी खाने की मूर्खता की। पत्नी भी बहुत हैरान हुई। पति की जान के लाले पड़ गये।

बंधुओं! हराम का घी कभी नहीं पचता है। मगर हैरान अवश्य करता हैं। प्रकृति किसी की भी सगी नहीं हैं। वह ज़रा भी दया नहीं करती। पतिदेव अस्पताल से ही कूच कर गए। पत्नी भी उनका वियोग न सह सकी। वह भी इहलोक से परलोक चली गई। उसकी भी जीवन लीला समाप्त हो गई। इस प्रकार हमें अपने कर्मों के फल भोगने ही पड़ते हैं।

अब एक मजेदार बात सुनिये, उस जमीदार के यहाँ ही उन दोनों का जन्म होता है। पति को बैल की योनी एवं पत्नी को गाय की योनी प्राप्त हुई।

मायाचारी करने से तिर्यञ्च पर्याय में जन्म लेना होता है। रसना की लोलुपता का इतना भयंकर परिणाम भुगतना होगा, यह उन्होंने कभी नहीं सोचा था।

यह तो मात्र एक छोटा सा दृष्टान्त मैंने आपको सुनाया। मन की इस गति के कारण हम इस संसार में दुःख एवं पीड़ा के साथ भ्रमण कर रहे हैं। आचार्यों ने कहा है कि जब किसी वृक्ष की शाखाएँ टेढ़ी-मेढ़ी हो जाती हैं, तब उन्हें काट दिया जाता हैं। जिससे कि वृक्ष ऊपर सीधा बढ़ सके। इसी प्रकार आप सब अपनी कषाय के कारण मन की तिरछी आड़ी शाखाओं को आर्जव धर्म के माध्यम से सीधा, सरल, सुन्दर रूप प्रदान कर सकतें हैं।

आर्जव धर्म जीवन का वास्तविक सौन्दर्य है। जीवन का यथार्थ श्रृंगार है। यह श्रृंगार बाह्य-स्वरूप का आंखों का मात्र चकाचौंध भर उत्पन्न करने वाला थोथा श्रृंगार नहीं हैं। यह हमारे अन्तर्मन का यथार्थ शान्ति प्रदायक श्रृंगार है। सरल मन के माध्यम से ही इसे उत्पन्न किया जा सकता है। आर्जव धर्म के माध्यम से ही यह जीवन कृत कृत्य होता है।

अनन्तानुबंधी कषाय का टेढ़ापन बाँस की जड़ के सदृश होता है। तथा उसे धारण करने वाला स्वयं भी उतना ही टेढ़ा हो जाता है। परन्तु आर्जव धर्म का पालन करने वाला व्यक्ति मन के इस टेढ़ेपन से बहुत दूर रहता है। वह अप्रत्याख्यान कषाय का टेढ़ापन गोमूत्रिका के समान होता है। तथा सज्वलन कषाय का टेढ़ापन खुरपा के समान होता है। ऐसा व्यक्ति समस्त कषाय एवं उनके दोषों से सर्वथा मुक्त होता है। कृत कृत्य होने के लिये मन वचन एवं काय का सीधा, सरल होना नितान्त आवश्यक होता है।

हमारा मन अनादिकाल से अत्यन्त टेढ़ा है; वचन एवं काय भी टेढ़ें ही हैं। जब तीनों प्रकार का टेढ़ापन समाप्त हो जाता है, तब ही इस जीव का ऊर्ध्वगमन संभव है, अन्यथा नहीं। किंचित मात्र भी टेढ़ापन लक्ष्य प्राप्ति में अवश्यमेव बाधक ही होगा। बाण सीधा होता है, प्रत्यंचा से मुक्त होते ही वह लक्ष्य की दिशा से सीधा गमन करता है; वह कभी भी आड़ा-टेढ़ा नहीं जाता। अतः गन्तव्य पर पहुँचने के लिये बाण का सीधा होना नितान्त आवश्यक है। बाह्यतः हम बाण के समान सीधे तो बन जाते हैं प्रनतु हमारे मन में भीतर टेढ़ापन बना ही रहता है। जब तक अन्दर का टेढ़ापन हमारा समापत नहीं हो जाता, तब तक हम कृत कृत्य नहीं हो सकते।

हम लोग अपने जीवन में प्रायः सभी प्रकार के भले बुरे कार्य करते हैं, किन्तु मन, वचन और काय के इस टेढ़ेपन को दूर करने का भूलकर भी प्रयत्न नहीं करत। हमारे मन का यह टेढ़ापन हमारे लिये अनादिकाल से पाप-आस्रव का कारण बना हुआ है। इस पाप-आस्रव के कारण आत्मा के अनुरूप हमारी गति नहीं हो पाती। हमारी गति विग्रह-गति होती है, यह कर्म के अनुरूप होती है।

यह त्रेकालिक सत्य है कि आत्मा के अनुरूप गमन करने के लिये इस टेढ़ेपन को समाप्त करना अवश्यभावी है। इसके बिना पुण्य् का आस्रव नहीं होगा। पुण्य के आस्रव के बिना कैवल्य की प्राप्ति भी संभव नहीं है। अतः टेढ़ेपन को समाप्त करने के लिए आर्जव धर्म के प्रति अनुराग अत्यन्त आवश्यक है।

इस संसार में रहने वाला प्राणी टेढ़ा तो अत्यन्त आसानी से बन जाता हहै किन्तु सीधा, सरल, निष्पाप चित्तवृत्ति वाला होना, यह उसके लिये अत्यन्त दुष्कर कार्य होता है।

किसी वस्तु को अनगढ़, आड़ा-टेढ़ा स्वरूप प्रदान करने के लिये किसी कुशल कारीगर की आवश्यकता नहीं होती परन्तु उसे सीधा, सच्चा बानने के लिये कुशल परिश्रम की, योग्य जानकार व्यक्ति की आवश्यकता पड़ती है।

एक दिवस पप्पू लौहार के पास कुछ लोहा लेकर गया। उसने लौहार से प्रार्थना की कि वह उस लोहे की कुछ कीलें बना दे। लोहार ने उसे लोहे को, सलाखों का काटकर तुरन्त उसकी इच्छानुसार कीलें बना दियें। इस प्रयास में लौहार को किसी विशेष सामग्री उपकरण अथवा विशेष परिश्रम की आवश्यकता नहीं पड़ी अत्यन्त अल्प समय में, कम पारिश्रमिक लेकर लौहार ने कीलें बना दीं।

पप्पू वह सब देखकर मन ही मन अत्यन्त प्रसन्न हुआ। वह सोचने लगा कि "मेरा काम बहुत सस्ते में हो गया" उसने सोचा कि मैं इस ल्यौहार से कुछ और कीले बनवा लूं।

इस बार उसने अपने घर के कवाड़खाने से लोहे की छड़ें निकाली। वे छड़ें आड़ी-टेढ़ी थी। एकी छड़ सीधी नहीं थी। वह उन छड़ों को लेकर पुनः उसी लौहार के घर पहुंचा और बोला- "इसकी भी कीलें बना दो।"

लौहार ने सलाखें देखी और बोला- इनकी कीलें बनाने में समय लगेगा; यदि आप कल इसी समय आकर अपनी कीलें ले जावें, तो कैसा हो?

"कोई बात नहीं"। मैं कल आ जाऊँगा।

दूसरे दिन वह पप्पू निश्चित समय पर उस लौहार के पास पहुँच गया। कीले बनकर तैयार थी। उस पप्पू ने लौहार को पुनः उतने ही पैसे दिये, जितने इसके पूर्व दिये थे। लौहार ने पैसे गिने और कहा इतने पैसों से काम नहीं चलेगा। ये तो बहुत कम हैं।

पप्पू बोला- भैया, कम कैसे? कल भी तो मैंने इतने ही पैसे दिये थे! मुझें अच्छी तरह याद है। फिर आज इतने में काम क्यों नहीं चलेगा?

"कीलें टेढ़ी थीं, उन्हें भट्टी में तपाने में एक घण्टे से अधिक लग गया। आज कल की अपेक्षा, कोयला भी बहुत अधिक लगा। पहिले प्रत्येक छड़ को ठोक-पीटकर सीधा करना पड़ा, तब कीलें बनी है। कल की छड़े सीधी थी। इसमें मेहनत भी अधिक लगी है। अब आप स्वयं सोचिये।"

ठीक यही बात टेढ़े मन के लिये भी लागू होती है। लौहार रूपी गुरू उसे तपस्या रूपी अग्नि में तपाकर सीधा करता है। तप, संयम, ध्यान- ये धन है। इनकी चोटें सहनी ही पड़ती है। तभी तो टेढ़ापन दूर होता है।

हम सब चर्चाएं वहुत लम्बी चौड़ी करते हैं। "आर्जव धर्म" पर उत्तमोत्तम पुस्तकें पढ़ते हैं। अनेकों को बहुत सी बातें कंठस्थ भी होती हैं। फिर भी अन्दर की ग्रन्थियाँ नहीं खुल पाती। इसका तात्पर्य यह हुआ कि हमारी समस्त चेष्टाएँ केवल ऊपर-ऊपर भर होतीं हैं- दिखावा मात्र होती है। दूसरों का टेढ़ापन, उनके मन की वक्र गति को हम जल्दी देख लेते है। हमारा टेढ़ापन हमें दिखाई नहीं देता आप अत्यन्त भोले बनकर यह कह सकते हैं कि "महाराज, हम अपना टेढ़ापन तो दर्पण में देख सकते हैं।" परन्तु याद रखिये। इतने भोले मत बनिये। मन का टेढ़ापन दर्पण में तीन-काल में भी दिखाई नहीं देगा। दर्पण में मात्र शरीर का, बाह्य-टेढ़ापन ही दिखाई देगा।

मन की इस वक्रता के साथ मंदिरजी में जाकर वीतरागी भगवान की प्रतिमा के दर्शन करने से कोई लाभ नहीं होगा।

भगवान के दर्शन के उपरान्त यदि हमें अपने स्वरूप का, आत्म-स्वरूप का बोध होता है, तब हमें अत्यन्त शान्त चित्त से यह विचार करना चाहिए कि हमारा नित्य स्वरूप भी ठीक इसी प्रकार का है। सीधा, सच्चा, सरल, शान्त। टेढ़ापन मेरा स्वभाव नहीं है।

एक बुझा हुआ दीपक है। दूसरा बुझा हुआ दीप यदि उसके समीप रख दिया जावे तो उसे अपने बुझेपन का तनिक भी अहसास नहीं होता। कारण यह है कि दोनों दीपक बुझे हुए हैं। परन्तु वही बुझा हुआ दीपक दूसरे प्रज्वलित दीपक के पास चला जाता है, तो निश्चित ही उसे अपने बुझेपन का, प्रकाशहीनता का तीव्रता से अहसास होता है।

उसे एक दर्द सा महसूस होता है......एक अद्भुत पीड़ा होती है। वह अपूर्व व्याकुलता से छटपटाने लगता है।

वह सोचता है कि मैं भी एक दीपक हूँ। मुझमें ऐसी कौनसी कमी है कि मैं ज्योति और प्रकाश से विहीन हूँ। अतः वह ज्योति की तलाश शुरू कर देता है। प्रज्ज्वलित दीपक प्रेमपूर्वक उसे गले लगा लेता है। वह उस प्रज्ज्वलित प्रकाश पुंज देदीप्यमान ज्योति के समक्ष समर्पण कर देता है। उसके संपर्क में वह भी प्रज्ज्वलित हो उठता है। **जो समर्पण को तैयार होतें हैं, वे ही ज्योति एवं प्रकाश प्राप्ति के अधिकारी होते है जो समर्पण के लिए समुत्सुक नहीं, वे ही सर्वदा श्मशान की खाक बनकर उतस्ततः उड़ते रहते है।**

प्रज्ज्वलित दीपक के समीप पहुँचकर भी अपने बुझेपन का अहसास तीव्रता से जागृत नहीं हो पाता, तब तो दीपक के पास जाना भी निरर्थक ही है। यदि जिनेन्द्र भगवान की अनुपम प्रतिमा के दर्शन करने के उपरान्त भी यदि अपने टेढ़ेपन का हमें भाव न हो, तब तो पवित्र प्रतिमा के दर्शन निरर्थक है।

आर्जव धर्म की अनुभूति प्राप्त करने के लिये हमारें पावन धर्म ने हमारे लिए वर्ष में दस दिन सुरक्षित रखे हैं। इन दस दिनों में आर्जव धर्म के लिए मात्र एक ही दिन है। अतः इस एक दिन का हमें पूर्ण रूपेण सदुपयोग करना चाहिये। इस प्रकार इसके माध्यम से धर्म के यथार्थ मर्म को अपनी अन्तरात्मा में उतरने का अवश्य ही प्रयास करना चाहिए।

आप सबमें, जिन्होंने सर्प को वक्रगति से चलते हुए देखा है। यह जानते है कि वह सीधा चल ही नहीं सकता।आड़ा-टेढ़ा चलने पर ही उसे गति प्राप्त होती है। परन्तु जब वह अपनी बाँमी में परवेश करता है तब उसकी चाल टेढ़ी नहीं होती। गृह प्रवेश के समय उसे अपनी चाल बदलनी होती है। अतः बन्धुओंः आत्म प्रवेश के लिये सीधी चाल नितान्त आवश्यक है।

अतः आप सबसे अत्यन्त प्रेम पूर्वक निवेदन है कि आप अपने मन, वचन एवं काय को, अपनी समस्त चेष्टाओं को अत्यन्त निर्मल बनाएँ। आगम के अनुसार आचरण को ढ़ाले। उसी के अनुरूप आपका

मनन, चिन्तन ध्यान आदि हो, तभी जीवन में मनोवांछित उपलब्धि प्राप्त हो सकती है एवं आत्मा का परम कल्याण हो सकता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उत्तम आर्जव धर्म मानव मात्र के लिए एक अत्यन्त श्रेष्ठ वरदान है। अतः हमारा परम कर्तव्य है कि हम इस धर्म की उपासना करें, इसके उपासक बनें। जिन श्रेष्ठ पुरूषों ने इस धर्म की प्राप्ति कर ली है एवं अपनी मंजिल की ओर क्रमशः आगे बढ़ रहे है- उन सबको हमारा शत्-शत् नमस्कार हैं।

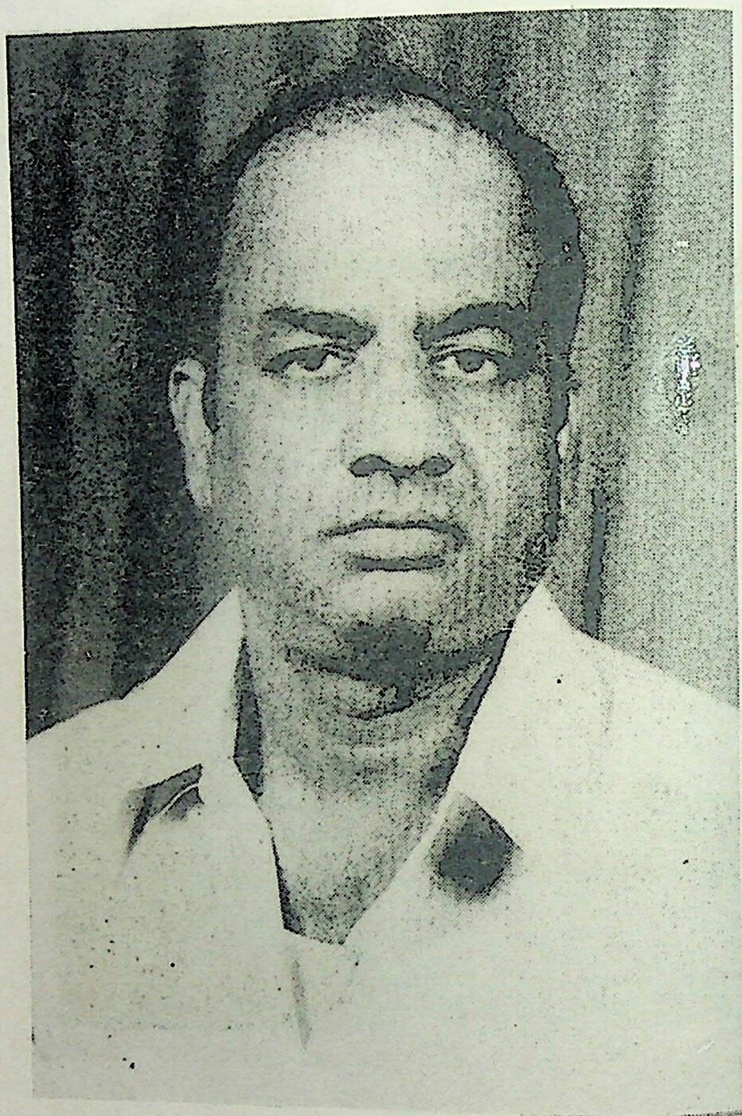
उत्तम आर्जव धर्म हम सब को परम श्रेष्ठ ज्ञान प्रदान करें, अपूर्व आत्मिक शक्ति देवे। अपने अन्दर के विकारी भावों को हृदय से निकालने का सामर्थ्य प्रदान करे एवं हमारा जीवन उत्तम आर्जव धर्म से संलग्न हो सफलीभूत होवें - इस शुभ मनोकामना के साथ-

उत्तम आजर्व धर्म की जय

उत्तम शौच



आचार्य पुष्पदन्त सागरजी महाराज



चेतनलाल जी, पंचोरी
परतापुर (बांसवाड़ा)

उत्तम शौच धर्म

शोभे प्रभो! परम पावन पा पदों को,
योगी करे नमन ये जिनके पदों को।
सौभाग्य मान उनको उर में बिठा लूँ,
साफल्य पूर्ण निज जीवन को बना लूँ।।

धर्म प्रेमी बन्धुओं,

आर्जव धर्म के बाद ही शौच धर्म आता है। व्यक्ति क्षमाशील हो, परिणामों में ऋजुता का भाव हो, आत्मा में मृदुता का आविर्भाव हो चुका हो, तभी आत्मा की शुचिता होना सम्भव है। शौच के पूर्व क्षमा, मार्दव वा आर्जव धर्म को अंगीकार कर लेने के उपरान्त ही, आत्म-शुद्धि सार्थक है, अन्यथा विना नींव के मकान कितना भी सुन्दर हो, विशाल हो, स्थायी नहीं बन सकता।

अतिथि आगमन के पूर्व घर की सफाई, मित्रों के आगमन के पूर्व ड्राइंग रूम की साज-सज्जा आवश्यक होती है, अतः सत्य के प्रवेश के पूर्व आत्म शुद्धि अनिवार्य हैं। बीजारोपण के पूर्व भूमि साफ उर्वरा एवं मृदु हो, बीज ठोस एवं निर्दोष हो तभी पौधे का अंकुरण एवं अच्छी फसल सम्भव है इसीलिए सत्यागमन के पूर्व आत्म शुद्धि हेतु शौच का होना सत्य को ग्रहण करने की क्षमता उत्पन्न करता है।

एक साधु अपनी ज्ञान, साधना में लीन थे। उसकी ख्याति सर्वत्र फैली थी। अपनी साधना, ज्ञान, तपस्या व आत्मानुशासन के कारण दूर-दूर तक विख्यात थे। राज्य के शासक ने सुना। अतीत में खोजा तो वे महात्मा उनके पुराने मित्र निकले। अवसर का लाभ उठाया, आग्रह करने पहूँचा। "महात्माजी! हमारे नगर पधारियें! प्रजा को दर्शनवा वचनामृत से उपकृत कीजिये।" महात्माजी अनिकेतन जो ठहरे। धर्म प्रभावना हो, लोगों का कल्याण हो, कुमार्ग से निवृति वा सन्मार्ग में प्रवृत्ति हो, इससे अच्छा उद्देश्य साधु का और क्या हो सकता था। अतः उन्होंने सोचा लोगों को

दर्शन देने से, महल को पवित्र करने से क्या उपलब्धि होगी? जड़ को, चेतन को पवित्र करना सार्थक है। आत्मा की शुद्धि से ही परमात्मा की प्राप्ति होगी। आत्मा नदी संयम तोयपूर्णः, सत्यावह शील तटादयोंपि। तत्रावगाहं कुरू पाण्डुपुत्रः, न वरिणा शुद्धयति चान्तरात्मा।। 'गीता'

जड़ के प्रति ममत्व ने ही हमें 'स्व' से दूर कर दिया है। पर से मोह ने ही हमें मृग तृष्णा में भ्रमित कर दिया है।

राजा प्रसन्न थे। महात्मा जी ने स्वीकृति दे दी थी। महात्मा जी पहुँचे। स्वागत, सत्कार हुआ। राजा ने भोजन का आग्रह किया। मेवा मिष्ठान्न से युक्त स्वादिष्ट खीर बनवाई। साधु महाराज ने भोजनशाला में प्रवेश किया, कटोरा आगे बढ़ा दिया। परन्तु राजा ने कटोरे में खीर नहीं परोसी। देखते है कि कटोरी में कंकड है। उन्हें अलग करें तो खीर परोसें। अतः खीर नहीं दी गई। निश्छल वा निष्काम महात्माजी ने कटोरा बगल में दबाया वा बाहर जाने लगे। राजा ने निराहर जाने का कारण पूछा तो सरल स्वभावी साधु ने उत्तर दिया कि तुमने कटोरे में खीर डाली ही नहीं।

कटोरे में कंकड़ थे अतः मैंने खीर नहीं दी क्योंकि खीर का स्वाद बिगड़ जाता। मेवा, मिष्ठान, दूध, मिश्री से जो बनी थी। कंकड़ हटे तो खीर का आनन्द आये। महात्माजी मौन रहे। जाने लगे तो राजा ने उपदेशामृत से उपकृत करने का निवेदन किया। राजा ने बार-बार मौन का कारण पूछा वा वचनामृत का आग्रह किया। महाराज ने उत्तर दिया कि आप कटोरे में कंकड़ देखकर, खीर नहीं परोस रहे तो फिर मैं आप को वचनामृत कैसे दूँ। कंकड की सफाई होगी, तो खीर का आनन्द है। विषय, कषाय की सफाई हो तो उपदेशामृत का आनन्द आयेगा। आत्मा की शुद्धि में ही सत्य का प्रवेश होगा।

अतः आत्मा को सत्य के प्रवेश से पूर्व राग, द्वेष, कषाय से रहित करना होगा। बर्तन साफ न हो तो दूध भी फट जाता है आत्मा में शुचिता न हो तो सत्य का प्रवेश भी सम्भव नहीं है। कंकड़ मिश्रित खीर में आनन्द नहीं है। फटे दूध में असली दूध का स्वाद नहीं है फिर घृणा, स्वार्थ, राग, द्वेष वा कषायों से ओत-प्रोत आत्मा में सत्य का प्रवेश तो क्या सत्याभास भी कैसे

सम्भव है।

अतः सत्य धर्म को अंगीकार करने से पूर्व शौच धर्म आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है। आपने विषय कषायों वा वासनाओं से स्वयं को पराश्रित कर दिया है। स्व से भ्रमित 'पर' में ही लीन हो गये हैं। जीवन कैद पक्षी के समान हो गया है। माया, मोह, अहंकार, अज्ञान परिग्रह रूपी बड़े-बड़े ताले उसमें लटक रहे हैं। इन तालों को तोड़ना होगा, आत्मा का द्वारा खोलना होगा। आत्मा को उन्मुक्त स्व में विचरण करना होगा तभी सच्चे परमात्मा के दर्शन होंगे, सत्य का प्रवेश होगा। सच्चिदानन्द आत्मा से परिचय होगा।

हमें आज इन तालों को तोड़ने का संकल्प लेना है। शुद्ध, बुद्ध परमात्मा को स्वतन्त्र करने का प्रयास करना हैं। सत्य से परिचित होने हेतु अग्रसर होना है। अनादिकाल से माया, मोह, अहंकारादि तालों ने हमें पराश्रित बना रखा है। हम 'पर' को ही 'स्व' मान बैठे हैं। पात्र में गंदगी की परत-दर-परत जमती जा रही हैं उसे ही वास्तविक मानकर अज्ञानान्धकार में ही प्रकाश की किरण खोज रहे है।

हम आज "स्व" से विस्मृत 'पर' में ही जी रहे हैं। आतमा से पराङ्गमुख हो गये हैं। हम स्वान्तः सुखाय की मात्र कल्पना करते हैं। वास्तव में परार्थी ही हैं पर के लिये जी रहे है। पिता अपने पुत्रों के लिए, पत्नी अपने पति के लिए, माता-पिता अपनी सन्तान के लिए, कोई किसी के लिए तो, कोई किसी के लिए वास्तव में "स्व" में कोई नहीं जी रहा है। मकान निर्माण, ऐश्वर्य सामग्री, जमीन जायदाद जिनके लिये हम जीवन पर्यन्त उपक्रम करके इस मानव पर्याय को व्यतीत कर देते हैं वह भी अपने बच्चों के लिये, आने वाली पीढ़ी के लिए होता है। हम अपना मकान बनाने के लिये सोचते भी नहीं।

अगर स्वयं के लिये मकान निर्मित करने का प्रयास करे, उपक्रम करे तो ही आत्मा का उत्थान करने में सक्षम है तो ही सच्चे शौच धर्म के पालन में अग्रसर है। "स्व" में जीवित 'पर' से उदासीन है। वह, सन्यासी है। 'पर' के नियन्त्रण से मुक्त अपने आप में विचरण कर रहा है, भौतिक सुख, विषय, कषाय, वासनाएँ उसके लिये जड़ हैं, वास्तव में वहीं जीवित है जो स्वयं में स्वयं के लिए जीने का उपक्रम कर रहा हैं।

भगवान महावीर ने "जियो और जीने दो" का सन्देश विश्व को दिया। जिसने स्वयं जीना सीख लिया है वही तो दूसरे को जीने का रहस्य समझा सकता है। स्वयं की बसौती ही दूसरे की ज्योति का प्रज्ज्वलन संभव हैं, स्वावलम्बी ही दूसरों को सहारा दे सकता है, प्रकाश की किरण ही अन्धकार में भटके लोगों को मार्गदर्शन कर सकती है। अर्थात् जो "स्व" की ज्ञान ज्योति से परिचित है वही, अज्ञानान्धकर में भटके लोगों को दिशा निर्देश दे सकता है। अन्यथा अन्धा, अन्धे को, बुझा दीपक दूसरे दीये को, रोगी रोगियों को सही प्रकाश, ज्ञान, ज्योति वा सन्मार्ग में प्रवृत कैसे कर सकता है? स्वयं में जीना सीखों, तभी तुम दूसरों को जीना सिखा सकते हो।

भगवान महावीर स्वयं राजकुमार थे। संसार से विरक्त हुए, गृह त्याग कर तपस्या की। केवल ज्ञान की प्राप्ति हुई। तभी उन्होंने मानव कल्याण हेतु, जीवन का रहस्य मोक्षमार्ग का प्रतिपादन किया।

"स्व" में रमण हेतु सहिष्णुता, मृदुता, ऋजुता, विषय कषायों से निवृत्ति, शरीर से अनासक्ति, ब्रह्मचर्य वा दिगम्बरत्व में लीन होना आवश्यक हैं। इन्हीं गुणों से आत्म-शुद्धि का उपक्रम सार्थक है। शौच धर्म की उपादेयता इसीलिए सर्वाधिक है।

"शुचेः भावः इति शौचः" यही शौच धर्म की शाब्दिक व्याख्या है। आन्तरिक शुद्धि वा बाह्य शुद्धि का भाव या उपक्रम होना क्या शौच है? भगवान महावीर ने कहा कि बाह्य शरीर का चर्म का स्नान तो तूने अनन्तानंत बार किया परन्तु "अंतस्" के स्नान का प्रयास भी नहीं किया, विचार भी नहीं किया। अंतस् का स्नान ही आत्म शुद्धि है। जिससे हिंसा, वैमनस्य, घृणा, वासना आदि दोषों का प्रक्षालन होगा। "बहिरंग शुचिता साधन है वा अन्तरंग शुचिता साध्य-"

किसी दार्शनिक ने ठीक ही कहा है:-

"Wealth is lost, nothing is lost,
Health is lost, Something is lost,
But if character is lost, everything is lost."

चरित्र भ्रष्ट का सब कुछ खो जाता है वा चरित्रवान बनने के लिए अन्तरंग शुद्धि अनिवार्य है।

आप प्रतिदिन मन्दिर जाते है, नित्य नियम से क्रियायें करते हैं। स्नान कर स्वच्छ वस्त्र धारण करते हैं। अंतरंग शुचिता हेतु बहिरंग शुचिता भी चाहिए।

बहिरंग शुचिता के अभाव में शरीर अस्वस्थ होगा, रोगी होगा, जिसका परिणाम मनुष्य को भोगना पड़ेगा। बहिरंग रोगों से रहित ही अंतस् की शुद्धि या प्रवेश सम्भव है। शरीर विकृत है तो मन का विकृत होना अन्योन्याश्रित है। "Sound mind lives in sound health." स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मस्तिष्क का वास होता है।

ब्रह्म शुचिता हमने सदा की है अन्तरंग शौच को जाना भी नहीं। एक बार भीं रेचन हो जाय तो सारें रोगों का अवसान होकर आत्मा और शरीर में भेद ज्ञान जागृत हो जाएगा, वासनाओं पर नियन्त्रण वा कर्मों के आस्त्रव में सुधार होगा।

अंतस् शुचिता में मन, वचन, वा कर्म की शुद्धि समाविष्ट है। "मनस्येंक वचस्येंक कर्मण्येंक तु महात्मनाम्" मन में, वचन में या कार्यो में एक रूपता की अतरंग शुद्धि हेतु माहत्मा के लक्षण हैं। इस एकता में बाधक तत्वों से ही आत्मा को मुक्त कराने का आचार्यों ने उपदेश दिया है। क्रोध, मान, माया, लोभ, कषाय, परिग्रह आदि का त्याग ही शौच धर्म में निहित है। "लोभः पापस्य कारणम्"

लोभ मूलानि पापानि,. रस मूलानि व्याधयः।
स्नेह मूलानि शोकानि, त्रीणी व्यत्क्वा सुखी भवेत्।।

कहकर समस्त दुराचारों के लिये लोभ को ही उत्तरदायी ठहराया। लोभ की प्रवृत्ति ही उसें दान देने से विमुख करती है।

दान के लिए देने के भाव अनिवार्य है। देने का भाव हो तो देना स्वतः ही हो जाएगा। भोजन कराने के भाव में पानी पिलाना स्वतः निहित है। दान नहीं हुआ तो निश्चित मानिये मन में भाव उत्पन्न हुए ही नहीं। उपकार के पीछे प्रत्युपकार का भाव धुपाहै। दान देने से पहले पुण्य लब्धि, स्वर्ग प्राप्ति, ख्याति लाभ, यशोगान के भाव हों, देने से

पहले लेने की शर्त हो, तो वह दान नहीं अहंकार का परिचायक है। गीता में सात्विक दान की व्याख्या इस प्रकार की गई है:-

दातव्यमिति यद्धानं, दीयते अनुपकारिणे।
देशे कालेच पात्रेच, तद्दानं सात्विकं स्मृतम् ।।१।।

प्रत्युपकार की भावना से रहित, देश वा काल के अनुकूल उपर्युक्त पात्र को दिया गया दान ही सात्विक है।

ऐसा सात्विक, निष्काम, निर्लोभ वा कभी वापिस न मिलने के भाव से दिये दान की एक बूंद भी सागर के अथाह जल के सदृश्य फल देती है। शुद्ध मन से दत्त दान में उदारता, शील, प्रेम वा आनन्द का समावेश होता है।

एक ब्राह्मण था। काफी बीमार था। अनेक उपचार किये, रुग्णावस्था से राहत नहीं मिली। ईश्वर की शरण में मन्दिर पहुँचे, पुजारी से बोले- "मेरे लिए प्रार्थना करों, मुझे रोग मुक्त कर दों। स्वस्थ होने पर तुम्हें दस रुपये दूँगा, मन्दिर को भी पाँच रुपये दूँगा।" पुजारी करुणावान था, प्रार्थना की, निष्काम प्रार्थना का फल तत्काल मिला ब्राह्मण स्वस्थ हो गया। पुजारी के भाव निर्मल थे परन्तु ब्राह्मण चालाक था। वह वचन से मुकर गया, रुपये देने से जी चुराने लगा। पत्नी वा बच्चों से कह दिया कि यदि पुजारी रुपये माँगने आये तो कह देना कि मैं घर में नहीं हूँ। पुजारी जब जब घर पैसे के लिये जाता उसे वही उत्तर मिलता। एक दिन ब्राह्मण उसे राह में मिल गया। दान के रुपये माँगे तो ब्राह्मण ने कहा- "मैं इतना बिमार तो नहीं था जो भगवान को दान में रुपये देता यदि देने का वचन भी दिया होगा तो बेहोशी की अवस्था में कह दिया होगा।"

बेहोशी में दिया गया दान निरर्थक है। जो होश पूर्वक दान देता, तो मुक्ति का, धर्म का कारण बनता। सशर्त दान, दान होकर भी सार्थक नहीं होता। दान का अर्थ है "लोभ पर विजय" परन्तु ब्राह्मण लोभी था"मनस्यन्यद् वचस्यन्यद् कर्मण्यन्यद् दुरात्मनाम्" "मन में और वचन में और करे कछु और" की भावना से दिया दान व्यर्थ है। क्षणभंगुर धन सम्पदा के लिए हम मन, वचन वा कार्यों में विरोधाभास करते है। "स्व"

के साथ विश्वासघात कर जी रहे हैं। "पर" को सब कुछ मान बैठे हैं।

हम रेत में महल बना रहे हैं। यदि "स्व" को जान लें, तो स्थाई महल का निर्माण हो, निश्चल निष्काम जीवन व्यतीत हो, सात्विक वा निष्कपट भाव हों। क्षण भंगुर जीवन से मुक्ति अविनृश्वर आत्मा से साक्षात्कार या परिचय हो, यही तो शौच धर्म है, इसीलिए शौच धर्म की महत्ता है।

विश्व विजेता सिकन्दर से किसी महात्माजी ने प्रश्न किया "आपने अनेक राज्यों पर विजय प्राप्त कर ली, विपुल धन सम्पदा प्राप्त कर ली, विशाल राज्य पर प्रभुता भी प्राप्त कर ली। आपका सर्वत्र आधिपत्य है। अब यदि किसी रेगिस्तान में आपको प्यास लगे। दूर दूर तक पानी न मिले, तृषार्त हो जल के अभाव में तुम दम तोड़ने लगो तब तुम क्या करोगे?" सिकन्दर का उत्तर था- "मैं जीवन् रक्षा हेतु पानी प्राप्ति हेतु सारा साम्राज्य भी दे दूंगा।"

जिस राज्य की कीमत एक चूल्लु भर पानी हो उसे प्राप्त करने हेतु सिकन्दर ने विश्व विजय का उपक्रम किया, सारा जीवन नष्ट कर दिया, निर्दोष प्राणीयों का भीषण नर संहार किया, जीवन की अमूल्य साँसों को यों ही गवां दिया, हीरो को देकर मिट्टी का सौदा किया।

सिकन्दर विश्व विजय की महत्वाकांक्षा में जी रहा था। हम सब विषम् वासनाओं की तृप्ति हेतु जी रहे हैं जो कभी पूर्ण नहीं होगी मनु का कथन है" न जातु कामः कामानाम् उपभोगेन शाम्यते।" सम्पूर्ण जीवन में अर्जित सम्पत्ति हमारी एक साँस का मूल्यांकन नहीं कर सकती।

हम सब बेहोशी में जी रहे है। 'स्व' से भ्रमित पर पदार्थों की लिप्सा में अपने आपको भूल गये हैं। सारा संसार कोई रूप के कारण, सौन्दर्य, पद, अहंकार, तुष्टि या कोई न कोई जिह्वा के वशीभूत जी रहे हैं। हम पानी में लकीर खींच रहें हैं जो अस्थाई है, मृग तृष्णा का परिचायक है।

जो आज, रूप-लावर्ण्य से युक्त है, कल कुरूप हो जायेगा। युवा वृद्ध हो जायेगा, राजा, रंक, धनवान, दरिद्र एवं सुख साधनों से सम्पन्न व्यक्ति श्मशान की राह पकड़ता है, सारे उपक्रम छोड़कर, लौकिक सुखों

से मुक्त, धन सम्पत्ति परिवार कोई भी साथ देने तैयार नहीं रहते। जिनके लिए उसने जीवन के पल-पल को पापाश्रव कर एकत्रित किया, परिग्रहित किया। वे सब सहगामी नहीं हैं। यदि उसने "स्व" में एक श्वास भी व्यतीत की होती, आत्मचिन्तन, विषय वासनाओं से मुक्त जीवन जिया होता तो सार्थक होता।

आत्म कल्याण में बीता एक-एक पल सार्थक है, शाश्वत है। चेतानावस्था या अचेतनावस्था में, सुप्त, स्वप्न, मरण समाधि प्रवेश या निर्वाण किसी भी अवस्था में सदैव आपके साथ है। शौच धर्म की यहीं महत्ता है।

दान मुक्ति का द्वार है। अतः हमें निष्काम भाव से दान करना चाहिए। आज, दान प्रलोभन वश होता है। हम दान नहीं मानों उधार देते है लेने वाला अनुग्रहित हो, दान राशि के भार से दबा रहे दाता का नाम ले, दूसरों के सामने बड़ाई हो। इसे गीता में भी तामस दान कहा है। वास्तव में दान एक अनुपम प्रासाद है जो प्रेम, करुणा, दया, आनन्द की निर्मित होता है। दान असांसारिक वा अलौकिक है।

मैं दान को असांसारिक वा अलौकिक इसलिए कहता हूँ क्योकि लेने का भाव सांसारिक है वा देने का भाव असांसारिक। 'सृजन', लेने के भाव पर, तो 'मुक्ति' देने के भाव पर आधारित हैं।

संसारी प्रेम, प्रेम पाने की इच्छा से करता है, मित्रता, मित्र बनाने हेतु करता है। दान प्रत्युपकार की वांछा से करता है। हमारा दान व्यावसायिक है।

'लाभ' ही संसारी का प्रत्युपकार के भाव से दान देने की प्रेरणा देता है। यश, रूप, नाम काय वा पंचेन्द्रिय की विषय सामग्री का लोभ सब लोभ के ही अन्तर्गत आते हैं। लोभ मनुष्य गति की देन है।

नारकियों में क्रोध, मनुष्यों में मान, तिर्यचों में माया वा देवों, में लोभ गुण जन्म जात हैं। मनुष्यों में मान, लोभ की ही

पर्याय है। लोभ रुपये पैसे तक ही सीमित नहीं है। विषय कषाय की संतुष्टि, पंचेन्द्रिय सुखों की पूर्ति के समस्त साधन, लोभ की परिधि में आते है। जिन रुपये के पीछे मनुष्य मान मर्यादा का त्याग कर देतें है उन रुपयों को जानवर सूंघते भी नहीं। वे तो घास पर टूटते है। वह भी पेट भरने तक। पेट भरने के बाद वे निर्लोभी हो जाते हैं। मनुष्य तो संग्रह में ही जीवन गवाँ देता है। सदा असंतुष्ट वा निन्यानवे के चक्कर में लगा रहता है।

लोभ में रूप का लोभ भी एक प्रकार है जिसके वशीभूत हो, मानव अपनी मर्यादा का उल्लंघन भी कर देता है। पवनंजय, अंजना के रूप पर मोहित था। पृथ्वीराज चौहान, संयोगिता पर, जिसे पाने के लिए उसे क्या नहीं करना पड़ा? 'क्या' नहीं बनना पड़ा? रूप के लोभी आत्मा के प्रति उदासीन परन्तु शरीर के प्रति सजग दिखाई देंगे।

अतः जब तक आत्मा में लोभ कषाय विद्यमान है आत्मा से साक्षात्कार सम्भव नहीं है। इसीलिये लोभ कषाय पर विजय पाने हेतु दान का महत्व है। दान देते समय यदि दाता के मन में प्रतिफल के भाव है तो पुण्योदय से स्वर्ग प्राप्ति तो संभव हो, परन्तु मुक्ति का कारण तो ऐसा दान असम्भव ही है। कदापि नहीं बन सकता।

दान ही सांसारिक विरक्ति का कारण है। परिग्रह कम होना ही आत्मिक आनन्द है, वास्तविक शान्ति है। दान से दाता को हल्कापन महसूस हो, परिणामों में मलिनता दूर हो, वा पवित्रता का प्रादुर्भाव हो यही दान का स्वरूप, और सच्चे दान का लक्षण है जो शौच धर्म का स्वभाव है।

हम संसारी मानव की आदत लेने की पड़ गई है। जितना अधिक हम लेते हैं उतना ही अधिक दुःखी होते जाते है। महत्वाकांक्षाए बढ़ती जाती है जिसे पूर्ण करने का उपक्रम ही इस पयार्य को समाप्त कर देता है।

एक राजा को पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई। बहुत प्रसन्न हुआ। घोषणा की कि जो राज दरबार में सबसे पहले ब्रह्म मुहुर्त में आकर मुझे बधाई देगा उसे मुँह मांगा इनाम मिलेगा। राजा क्या देखता है सुबह एक लम्बी कतार लगी है। घोषणा जो कर दी थी। प्रथम व्यक्ति को बुलाया। उसने

अपना कटोरा राजा के समक्ष रख दिया और कहा महाराज इसे सुवर्ण मुद्राओं से भर दीजिये।

पात्र बहुत छोटा सा था। राजा ने सोचा वा मन्त्री को मुद्राओं से पात्र भरने का आदेश दिया। मन्त्री ने आदेश का पालन किया परन्तु आश्चर्य कि ज्यों ज्यों पात्र में सुवर्ण मुद्राएँ डाली गई ज्यों त्यों पात्र खाली का खाली बना रहा। राजा ने यह दृश्य देखा तो दुःखी हो गया। राजकोष खाली हो गया। सारी सुवर्ण मुद्रायें डाल दी गईं परन्तु पात्र भरने का नाम नहीं लेता था। राजा असहाय था, पात्र मुद्राओं से भरने में असमर्थ था।

भिखारी ने राजा की मनोदशा पहचान ली अतः बोला कि यदि आप पात्र नहीं भर सकते तो कह दीजिये मैं खाली पात्र लेकर चला जाऊंगा। राजा शर्मिंदा था कि लोग क्या कहेंगे? राजा ने भिखारी के वचन को ठुकरा दिया।

खजाना खाली हो गया, राजा लाचार। पात्र के जादुई चमत्कार को देखकर राजा ने निवेदन किया " हे मित्र राज! मैं तुम्हारे अद्भुत पात्र को देखकर चकित हूँ। खजाना खाली हो गया पर तुम्हारा पात्र रिक्त का रिक्त रहा। कृपया इस पात्र का रहस्य बताइये।

भिक्षुक सामान्य स्वर में बोला, "महाराज यह पात्र मानव हृदय ही है। महत्वकांक्षी है, सदा असन्तुष्ट खाली का खाली। मनुष्य का हृदय इन क्षुद्र एवं सांसारिक पदार्थों से संतुष्ट होने वाला नहीं है। उसे भरने की सामर्थ्य मात्र सत्य में हैं।

मानव सदा असन्तुष्ट हैं। दिगभ्रमित भौतिक सुख सम्पदा के प्राप्त करने हेतु बैचेन है, स्व को भूल कर संग्रह में व्यस्त हैं। स्थाई सुख पाने हेतु लौकिक पदार्थों का त्याग करना होगा। पर से रहित स्व में दृष्टिपात करना होगा। मानव हृदय क्षुद्र पदार्थों से नहीं आत्मानुभूति से सन्तुष्ट किया जा सकता है।

संचय ही मानव को दरिद्र, भिखारी और अशांत बनाता है, तो त्याग उसे सम्पन्न, सन्तुष्ट एवं शान्त बनाता है।

राजा हो या रंक दोनों दुःखी है। राजा के असीमित महत्वकाँक्षाओं के क्रम से जो कभी अन्त नहीं होती उसे बैचेने बनाती है तो रंक को अभाव, अशान्ति एवं अतृप्त इच्छाओं के कारण दुःखी या पराश्रित।

क्या आपने कभी दिगम्बर सन्त को देखा है? उसके बाह्य मुख मण्डल पर सदा शान्ति वा सन्तोष प्रगट होता है। वे सर्वस्व त्याग के बाद भी अजेय है। वे जिनेन्द्रिय है। इन्द्रियों पर विजय पाने वाले है, दीन नहीं मालिक है। माया, मोह, लौकिक सुख को हेय समझ त्यागने वाला मालिक है। तो ग्राहय समझ कर उनके पीछे दौड़ने वाला दास है।

. लौकिक दृष्टि से भी जो सुख आपको प्राप्त है, जो सांसारिक वस्तुऐं आपको उपलब्ध है उन पर आपका अधिकार होना चाहिए उनका उपयोग करने, आदान-प्रदान का आपको अधिकार होना चाहिए। यदि उसके त्याग करने पर आपको दुःख हो, अभाव अनुभव हो तो, निश्चित मानिये कि आप उनके अधिकारी नहीं दास हैं। वस्तु को त्यागने से हम मलिक बनते है संग्रह करने से नहीं।

आप हिंसा का त्याग कर अहिंसा पालन करते हैं, जीवों पर दया करते हैं तो आप अहिंसा के मालिक बन जाते है। धन का त्याग और संयमित जीवन व्यतीत कीजिये तो निश्चित मानिये आत्मा से आपका साक्षात्कार होगा। आप जन्म मरण के कष्टों से रहित अमरत्व को प्राप्त कर सकेंगे।

आत्मा का आत्मिक आनन्द भोग में नहीं, त्याग में है। धन, सम्पत्ति, मान-सम्मान के पीछे दौड़नेवाला अशान्त, संसारी, लोभी कषायी सदा रिक्त ही रहेगा। ममत्व से रहित, आड़म्बर विहीन, निर्मोही सदा संतुष्ट रहेगा, स्थाई शान्ति और आनन्द को प्राप्त करेगा।

यह विचित्र किन्तु सत्य है, प्रत्येक घर एवं देश में महिलाओं को धार्मिक कार्यों में अधिक रूचि एवं सक्रियता से तन्मय देखा जा सकता है। वे न सिर्फ धार्मिक क्रियाएँ करती हैं तन, मन, धन से भी समर्पित रहती हैं, वरन् परिवार में अन्यों को वैसा ही करने की प्रेरणा देती है। परन्तु स्वार्थी पुरुष की महिमा भी अपरम्पार है कि वह अर्थोपार्जन मान, कषाय और वैभव ये, वह 'स्व' से भ्रमित पर के उपार्जन में व्यस्त रहता

है और उसमें ही जीवन की सार्थकता समझता है। महिलाओं की प्रेरणा का उनकी इस निकृष्ट साधना पर कोई विचलन नहीं होता।

एक राजा था। अपने राज-पाट वैभव से मस्त था। दिग्विजय और निरंकुशता की संतुष्टि को सुख मान सदा अनुचित साधनों का आलम्बन कर रहा था। उसकी रानी बड़ी धर्मात्मा थी। राजा को भी धर्म की महिमा समझाते-समझाते थक गई परन्तु राजा तो अपने अभियान में तत्पर थे, जिसमें पूर्ण सफलता उनको कभी प्राप्त न होने वाली थी परन्तु मृगमरीचिका में फँसा मानव सत्य का आभास भी नहीं कर पाया। राजा साहब पर भी रानी साहिबा की धर्म साधना की प्रेरणा पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। परन्तु स्त्री स्वभाव भी अप्रगट नहीं है। रानी ने राजा से एक वचन तो ले ही लिया कि उनकी मृत्यु के बाद उनकी कब्र पर राजा साहब एक निर्देश अवश्य लिखवा देंगे कि "इस कब्र में विपुल धनराशि छिपी हुई है जिसका अधिकारी वही होगा जो सर्वाधिक दरिद्र हो और वहीं उसे खोदकर पा सकेगा।

रानी की कब्र के सामने से गुजरने वाले असंख्य लोगों ने उस निर्देश को पढ़ा परन्तु मुर्दे के धन को प्राप्त करना सभी को अनुचित लगा। परन्तु जिज्ञासा सभी को थी कि आखिर उस धन को प्राप्त कौन करता है। अतः एक वृद्ध ने उस कब्र के निकट अपना बसेरा बनाकर रहने का ही निश्चय कर लिया।

कब्र में मुर्दा उखाड़कर धन प्राप्त करने की कल्पना मात्र से ही असंख्य लोगों को साहस ही नहीं हुआ। वे दरिद्र थे, अभाव ग्रस्त थे और धन लोलुप भी थे परन्तु किसी में साहस नहीं था कि मुर्दा खोलकर धन प्राप्त कर ले। परन्तु अपवाद तो सर्वत्र होते ही है अतः वह बहुप्रतीक्षित दिन आ ही अगया। एक विलक्षण दरद्रि ने निर्देश पड़कर कब्र खोदना शुरू कर दिया।

आप आश्चर्य मत कीजिये, विश्वास कीजिये। कब्र खोदकर धन पाने की लालसा करने वाला वह दरिद्र नहीं एक भूखण्ड का अधिपति सम्राट था। जिसने नगराधिपति को पराजित कर इस नगर में प्रवेश किया था, नगर की चल अचल सम्पत्ति हस्तगत हो जाने के बाद भी संतुष्ट नहीं था वह लोभाभिभूत हो कब्र खोद धन पाने हेतु उद्यत था।

कब्र के निकट बसेरा बनाये बूढ़ा भिखारी मन्द मुस्कान बिखेरते हुए सोच रहा था कि लक्षाधिपति यह राजा भी बहिरंग में विजय का अहंकार लिये है परन्तु अन्तरंग तो "दरिद्रता या खलु दरिद्रता" ही है जिसने उसकी धन लोलुप प्रवृत्ति को प्रभावित कर ऐसे उपहासास्पद कार्य करने हेतु प्रेरित किया। राजा महोदय को कब्र के नीचे धन का कोई संकेत भी नहीं मिला। एक पत्थर अवश्य मिला जिस पर खुदा हुआ था, "क्या तुम मनुष्य हो?"

राजा लज्जित हुआ, शर्म से नतमस्तक पराजित सा वापिस लौट रहा था और बूढा भिखारी हँस रहा है। ऐसे दरिद्र को देखकर जिसका बहिरंग कितना भी सम्पन्न क्यों न हो अन्तरंग तो खोखला है, अभावग्रस्त, असफल और असन्तुष्ट है।

धर्मानुरागी बन्धुओं! मानव की बुद्धि ऐसी ही हत प्रभ हैं। भिक्षा पात्र लेकर उदर पोषण करने वाला भिक्षुक भिखारी नहीं हैं। जीवित को मृत बनाने वाला, तिजोड़ियों में बन्द धन में आसक्त रहने वाले परिग्रही ही वास्तविक भिखारी है। आसक्ति ही अभाव की परिचायक है। अनासक्ति सम्पन्नता की तिजोरी में करोड़ों रुपये संग्रह करने वाले कोई नहीं जानता परन्तु लाख ही नहीं हजार रुपये दान करने वाले को बहुजन समाज जानता है। जीवन का सुख संग्रह में नहीं त्याग में हैं। अज्ञानान्धकार में नहीं ज्ञानालोक में है, कलुषित नहीं निर्मल परिणामों में है और आत्मा की मान कषायभिभूत कलुषिता में नहीं निर्दोष शुचिता में है। अतः जिसका हृदय मान, कषाय से, परिग्रह से, आड़म्बर और थोथे दिखावे से ओतप्रोत है।

वह अंतरंग में खाली होगा, अशुद्ध और कलुषित होगा। शौचरहित होगा अतः सत्य का, ईश्वर का या सच्चे धर्म का प्रवेश असम्भव है।

अतः शौच धर्म के प्रवेश हेतु परिग्रह से अनासक्ति, अन्तरंग मूर्च्छा का त्याग में ही सम्भव है। ममत्वभाव का त्याग ही शौच के प्रवेश में साधक है। शौच धर्म लोभ का निषेध करता है।

दीपक प्रज्ज्वलित करने से पूर्व बाती की शुद्धि आवश्यक है। दीपक का पात्र और तैल शुद्धि आवश्यक है तदनुसार आत्मा से लोभ, ममत्व, परिग्रह का निवारण और 'इन्द्रिय निग्रह नितान्त आवश्यक है।

मनसा वाचा कर्मणा एक रूपता आवश्यक है। बाह्य और अन्तरंग शुद्धि में ही सत्य का प्रवेश होगा, परमात्मा से साक्षात्कार होगा।

"मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मानाम्।।"

मन वचन और कर्म की शुद्धि से आत्मा निर्मल एवं महान होता है। और ईश्वर से साक्षात्कार निर्मल आत्मा में ही सम्भव है। अन्यथा हृदयस्थ ईश्वर भी दूरस्थ प्रतीत होगा।

आत्मा की शुचिता लोभ के अभाव में होगी जो चरित्र या व्यवहार में अंगीकार अनिवार्य शर्त है। थोथे ज्ञान से कुछ नहीं है। चरित्र और व्यवहार को हेय मानने से भी संभव नहीं है। जिनवाणी का प्रवेश मान कषाय रहित आत्मा में ही है। सयंम को, त्याग को उपवास को जड़ की क्रिया मानकर आत्मा को मात्र ज्ञान से शुद्ध समझना मृगमरीचिका है।

येषां न विद्या न तपो न दानं,
ज्ञानं न शीलं न गुणों न धर्मः।
ते मर्त्यलोके भुवि भार भूताः
मनुष्य रूपेण मृगाश्चरन्ति ।।१।।

द्रव्य शुद्ध है, पर्याय अशुद्ध है अतः पर्याय को शुद्ध बनाना है। ऐसा कुछ लोगों का कथन है परन्तु मेरी दृष्टि में अभी इन्होंने जैन आगम के मर्म को नहीं जाना है। इसीलिये उन्हें ऐसा मिथ्याभास होने लगा है।

एक बार एक पण्डितजी एक विशाल सभा में व्याख्यान देने पहुँचे। पयूर्षण पर्व का प्रसंग था। शैली में मधुरता का ज्ञान भी बाकी था। पण्डितजी सपरिवार पर्यूषण पर्व में पहुँचे थे। उत्तम- आंकिचन धर्म पर भाषण देना था। उन्होंने भाषण प्रारम्भ किया। शरीर को आत्मा से भिन्न बताया। धन, सम्पत्ति, परिवार, बीबी, बच्चे हेय है। एक मात्र आत्मा ही उपादेय है। आत्मा त्रैकालिक शुद्ध परन्तु कर्म वर्गणा से पराधींन है। आत्मा व्यवहार से अशुद्ध है। हम जो कुछ करते है वह कर्म की देन है। आत्मा अस्पष्ट और असंपृक्त है एवं अनन्य है। प्रत्येक के क्षेत्र, काल वा भाव भी भिन्न है। बाह्य पदार्थ के सम्पर्क से आत्मा दिग्भ्रमित हो गई है। चतुर्गति भ्रमण ही इसका

परिणाम है। शरीर ने, भौतिक सम्बन्धों ने ही आत्मा को विभूत कर दिया है। कबीर का दोहा भी उन्होंने सुनाकर इसकी पुष्टि की-

नारी की छाया पड़त, अंधा होत भुजगं।
कहो कबीर हाल क्या, जोनित नारी के संग?

भाषण का प्रभाव श्रावकों पर क्या पड़ा होगा? परन्तु उनकी पत्नी तो प्रेशर कुकर में दाल के समान उबलने लगी। मन ही मन सोचने लगी कि पंड़ित जी को उन्होंने ही बरबाद किया है। व्याख्यान पूरा हुआ पंडितजी घर पहुँचे और उनकी पत्नी निराहर पलंग पर लेट गई। पंडितजी ने उन्हें अस्वस्थ मान, कुछ नहीं कहा। काफी समय बीत गया। पत्नी न कुछ बोली, न भोजन किया। पंडितजी अब चिंतित हुए। पास पहुँचकर आग्रह किया कि भोजन कर लो। बार-बार कहने पर जब कुछ परिणाम नहीं निकला तो उन्होंने हाथ पकड़ कर उन्हें भोजन करने के लिए कहा। अब पत्नी का क्रोध चरम सीमा को लांघ गया। हाथ झटककर बोली- मैं विष्टा हूँ, अपवित्र हूँ, मेरे कारण तुम बरबाद हो गये हो अतः अब आप मुझसे दूर ही रहिये। बारात लेकर आप मेरे दरवाजे पर आये थे। यदि आप पवित्र थे तो मुझ अपवित्र के साथ विवाह कर अपने घर क्या खुद अपवित्र होने ले गये थे? अतः अब आप मुझसे दूर ही रहिये और स्वयं पवित्र रहिये। मैं आपको बरबाद नहीं करना चाहती।

पंडितजी परेशान हो गये और समझाते हुए बोले कि मैने जो कुछ व्याख्यान में कहा वह मात्र प्रवचन था। अर्थोपार्जन हेतु ही वह उपक्रम था। तुम उसे सत्य मत समझो। हमने जो कुछ कहा है उसे स्वयं अंगीकार करना आवश्यक नहीं है। वैसा कथन तो मात्र आजीविका उपार्जन हेतु ही था। पंडितजी के इस स्पष्टीकरण ने पत्नी को आग में घी का काम किया वह और अधिक रूष्ट होकर बोली तुम मायाचारी हो। सर्वज्ञ की वाणी बेचकर प्राप्त धन से मेरा भरण पोषण करते हो। मुझे भूखा रहना स्वीकार है परन्तु मायाचारी से उपार्जित धन का उपभोग स्वीकार नहीं। इस प्रकार आरोप लगाते हुए वह चम्मच से खाना परोसने लगी। पंडितजी ने कारण पूछा तो जवाब में बोली- कि हाथ के स्पर्श से आप अपवित्र भोजन ग्रहण करेंगे क्योंकि मेरा हाथ, शरीर सब विष्य है।

वास्तव में विवाह पूर्व मैं पूर्ण शुद्ध और पवित्र थी। पर पुरूष

के स्पर्श से भी रहित थी। शील और ऐश्वर्य की रक्षा करती थी। अर्थात जब आत्मा इस पार्थिव शरीर में नहीं थी अन्य गति में थी तब शरीर के परमाणु शुद्ध अवस्था में थे अतः किसी भी प्रकार की अशुद्धता नहीं थी। विवाहोपरान्त मैं अशुद्ध हो गयी। अर्थात् आत्मा ने राग-द्वेष परिणामों के कारण शरीर में प्रवेश कर परमाणु को स्कन्ध रूप बना अशुद्ध बना दिया। शादी करके संतानोत्पत्ति कर आपने मुझे संसारी बनाया अर्थात् आहारवर्गणा को ग्रहण कर रूधिरादि रूप बनाया है तब पुद्गल अशुद्ध हुआ है। आपने ही मुझे अशुद्ध बनाया है। आपस्व को शुद्ध और पर को अशुद्ध कहते हैं।

यदि पुद्गल कर्म का ही मात्र दबाव प्रभावकारी है तो सिद्धालय में विराजमान आत्माएँ भी क्यों दूषित नहीं है? तुम मात्र द्रव्य से चारित्र ग्रहण करने की बात करते हो तो पवित्रता दिव्य कौन बनता है? स्वर्गों में दिव्य शरीर बना रहता है और आत्मा अशुद्ध रहती है। तुम तो अनादिकाल से अशुद्ध हो। मुझे अर्थात् नारी को विष्टा और अशुद्ध होने का व्याख्यान देते हो। पत्नी ने पंडितजी को सलाह दी कि यदि वास्तव में आत्मा को शुद्ध और मल रहित करना चाहते हो तो शौच धर्म को अंगीकार करो। दिगम्बर मुनि बन जाओ मैं स्वयं तुम्हारा अनुसरण करूंगी।

वास्तव में जिनवाणी को मायाचारी ने ही दूषित किया है। मायावी आत्मघाती तो है ही पर को भी भ्रमित करते है। बाह्य पदार्थों में तृप्त रहने वाला व्यक्ति यथार्थ में अतृप्त है। अंतरंग की ओर देखने का प्रयास किये बिना वह मृगतृष्णा में ही आशा की आशंका में पर्याय बदलते रहता है। भगवान महावीर का सच्चा अनुगामी परिग्रह, विषय कषाय से निर्लिप्त आत्मानुभूति में ही तृप्त रहता हैं क्योंकि बाह्य पदार्थों की तृप्ति दुख और चतुर्गति भ्रमण के ही हेतु है।

एक बार एक व्यक्ति का एकलौता बेटा खो गया। काफी खोजबीन की, अखबारों में फोटो छपवाई। विज्ञापन दिये और भी अनेक प्रयास किये परन्तु बेटा न मिला वह काफी निराश हो गया। समय बीतता गया बुढ़ापा आ गया। बीती घटनाएँ वह भूल गया। परन्तु अचानक एक व्यक्ति उसके सामने आया और उसका बेटा होने की सूचना दी। वह व्यक्ति उसे बेटे के रूप में पहचान नहीं सका फिर अधिक समय बीतने

के कारण बेटा बड़ा हो गया और विस्मृति के कारण पहचान नहीं आ रहा है ऐसा मानकर उसे बेटे के रूप में स्वीकार कर खुश हुआ। मित्रों, मेहमानों को, परिचितों को आमंत्रित कर उत्सव मनाया, खुशियाँ मनायी। बेटा भी इन उत्सव और खुशियों को अपने मित्रों को दावत देना चाहता था। पिता से निवेदन किया और उन्होंने स्वीकृति दे दी। निमंत्रण पाकर मित्रों ने दावत में मिठाई खाना शुरू किया। पार्टी चलती रही। पिता स्वागत में व्यस्त रहा और पुत्र छिपकर तिजोरी की सारी सम्पत्ति लेकर पीछे के दरवाजे से भाग निकला। मित्र भी पार्टी खाकर नौ दो ग्यारह हो गये। पिता ने पुत्र की खोज की। वास्तव में वह पुत्र नहीं था चोर था जो अवसर पाकर उसका धन ले भाग गया।

बन्धुओं! वह पुत्र के रूप में चोर था। तलाश होगी और पकड़ा भी जायेगा। परन्तु उससे बड़े अनेक चोर हमने अपने घर में पाल रखे है। लोभ, मान, कषाय, विषय, वासनायें ये हमारे आत्मिक सुख का हरण कर रहे हैं। मनुष्य पर्याय को इन्हीं ने छल रखा है। पर्याय बीती जा रही है।

आध्यात्मिक शुचिता को त्याग परिग्रह में मान कषाय और भौतिक साधनों में लिप्त सुख की कामना करना आत्म प्रवचना ही है। यदि अन्तरंग सुख पाना चाहते हो तो उत्तम शौच धर्म रूप प्रहरी को आत्मा का रक्षक नियुक्त कर दीजिये और सच्चिदानन्द की अनुभूति कीजिये।

हम जिन भौतिक साधनों में सुखाभास का अनुभव कर रहे है। वास्तव में हमारे जीवन की एक एक साँस उनसे त्रस्त है, रात्रि को चैन से उन्होंने सोने नहीं दिया। स्वकीय सम्पदा का अपहरण होने में वे ही कारण है। परन्तु हम उन्हें ही अपनाये हुए हैं, उनका पालन पोषण ही अपना कर्तव्य समझ बैठे हैं। वास्तव में हम भुजंग को दुग्धपान करा रहे है। बंधी मुठ्ठी को खाली कर जाने के लिये बाध्य करते है। निज घर से भ्रमित कर बाहर ही बाहर पर घरों में भटकते रहते है।

"पर में सुख मानो नहीं, निज में भरा अपार।
निज नाभि में गंध है, मृग भटक रहा बेकार।।"

सच्चिदानन्द की प्राप्ति अंतस् में खोजने पर होगी। आत्म खोजी, आत्मानन्द में रमण करेगा। पर खोजी जीवन भर दिग्भ्रमित हो मानव

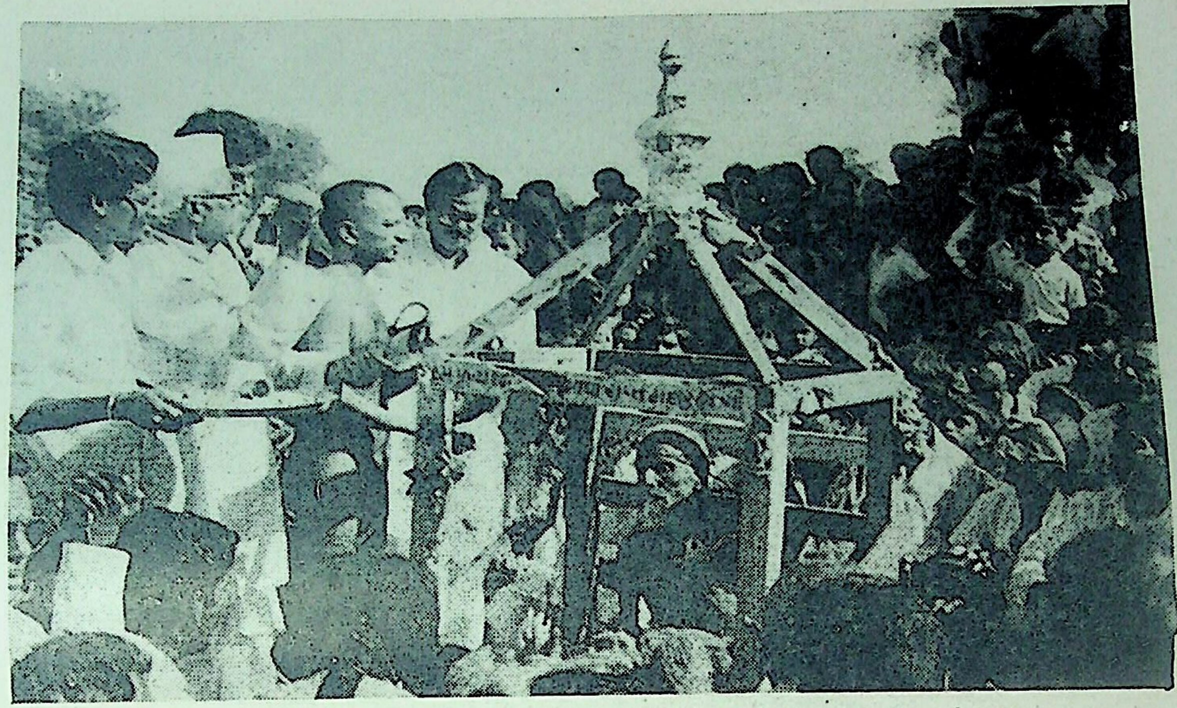
जीवन व्यर्थ नष्ट कर देगा। जो आनन्द की सच्ची निधि अंतस् खोजने से प्राप्त होगी। वह बाह्य में कदापि सम्भव नहीं है।

एक भिखारी एक ही स्थान पर खड़ा-खड़ा जीवन भर भीख माँगते रहा। आजीविका चलती रही। भिक्षाही उसकी उदर पोषण का साधन बना रहा। अंतः अन्तः तक वह भिखारी ही बना रहा। जिस दिन उसका प्राणान्त हुआ उसके हाथ में भिक्षा पात्र ही था। वह भी खाली। कफन के लिए भी उसके पास पैसे नहीं थे। लोगों ने उस स्थान को अशुद्ध और अपवित्र समझ उसकी सफाई करनी चाहीं। उसके उस स्थान को खोदा गया तो अपार धन राशि से युक्त खजाना निकला। भिखारी इतने वर्ष जीवित रहा उसे खजाना नहीं मिला। वह दूसरों से प्राप्त भिक्षा में मग्न रहा।

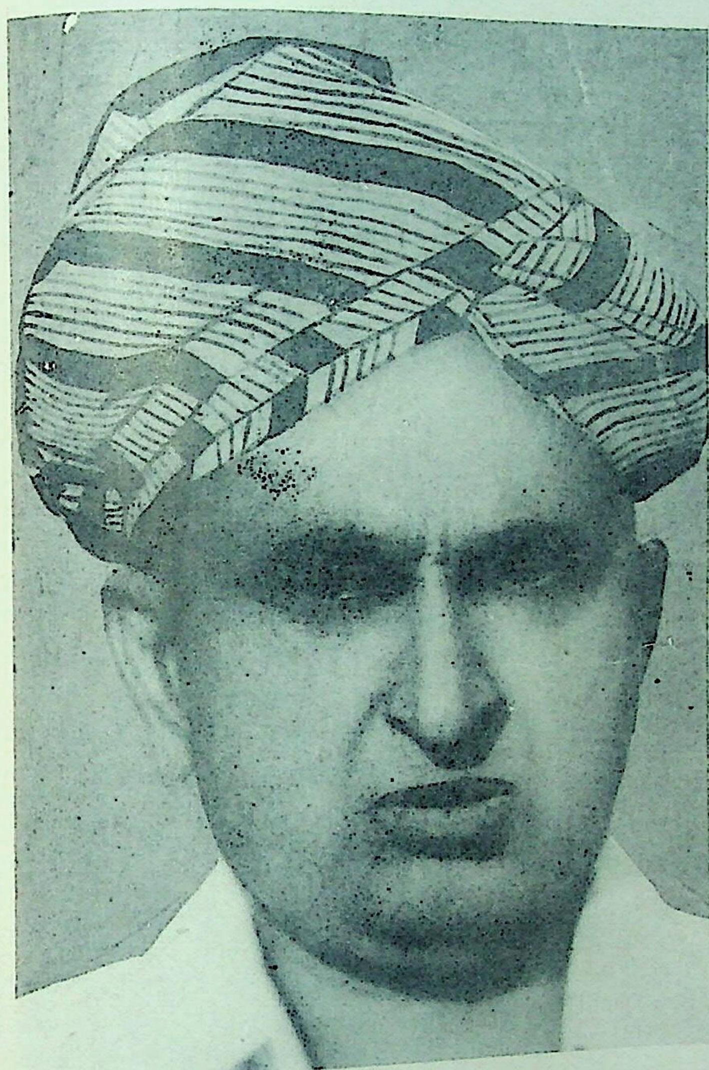
बन्धुओं! क्या आप सब उस भिखारी के समान नहीं हो? आप में और उस भिखारी में क्या अन्तर है? आप में से प्रत्येक की आत्मा में वह परम शक्ति और परमानन्द का खजाना है जिसे खोजने की आपको इच्छा नहीं होती। बाह्य सम्पदा तो अपहत की जा सकती है, चुराई और छुड़ाई जा सकती है परन्तु अन्तस् की असीमित सम्पदा अक्षुण्ण है जिससे मन, वचन काय की पवित्रता से ही प्राप्त किया जा सकता है।

लोभ का परित्याग कीजिये, शौच धर्म का पालन कीजिये और आत्मानन्द सागर में गोते लगाकर यथार्थ सुख और शान्ति में चिरकाल तक रमण कर पर्याय को सार्थक बनाइये।

उत्तम सत्य



आचार्य पुष्पदन्त सागरजी महाराज के सानिध्य में प्रधान पवनकुमार रोकड़िया
समाधिगुप्त महाराज का अग्नि संस्कार विधि प्रारंभ करते हुए



पिन्डारमिया छगनलाल लूणजी नौगामा

उत्तम सत्य धर्म

धर्मानुरागी बन्धुओं!

आज उत्तम सत्य धर्म के विषय में चर्चा करूंगा प्रत्येक मानव का जीवन दो प्रकार से सम्भव है, एक शरीर के लिए, दूसरा आत्मा के लिए। शरीर को प्रधान मानकर जीने वाला असत्य को स्वीकार कर जीता है एवं आत्मिक आनन्द के लिये जीने वाला सत्य को अंगीकार कर जीता है **शारीरिक सुखों हेतु हम युग-युगान्तर से जी रहे हैं, परन्तु स्वयं के लिये हम कभी भी नहीं जियें। जो स्वयं के लिये जीते हैं सत्य उनके जीवन में स्वतः अवतरित होता है। और वे कालान्तर में अमरत्व प्राप्त करते हैं।**

मानव जीवन मृत्यु और अमरत्व का, पुण्य और पाप का, मृण्यम एवं चिन्मय, पर अवलम्बित है। अमरत्व को, चिन्मय को पृथक करना ही परम सत्य की प्राप्ति हैं। शरीर मरण धर्मा है, इन्द्रियाश्रित है। इन्द्रिय रहित शरीर का कोई अस्तित्व नहीं। इन्द्रियाँ आधार है और शरीर विस्तार। शारीरिक सुख के लिए जीने वाला इन्द्रियों का गुलाम है। इन्द्रियों की दास्ता में ही अनन्तानन्त जीवन खो चुका है 'स्व' का आभास भी नहीं किया। **अदृश्य चैतन्य आत्मा अमरण धर्मा है, स्वाश्रित हैं, इन्द्रिय निगृह से ही प्राप्तव्य है। आत्मा की प्रभुता इन्द्रियों को सेवक बनाने पर ही सम्भव है। शरीर सोपान है आत्मा गन्तव्य है।**

शरीर रूपी सोपान में हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह का आर्विर्भाव होता है। जो इन्द्रिय सुख प्राप्ति में ही सहायक है। इनके अधिग्रहण से मनुष्य सत् से कोसों दूर, 'स्व' से विमुख भटक जाता हैं। उपरोक्त में से एक को भी अंगीकार करना आत्मा के समस्त गुणों को नाश करना है।

अतः यदि आप 'स्व' को जानना चाहते हैं, सत् को अंगीकार करना चाहते हैं तो क्रोध, मान, मायालोभादि गंदगी को हटानी होगी मानव मे परम सत्य का आगमन तभी सम्भव है जब उसकी सभी इन्द्रियाँ उपरोक्त गन्दगी से मुक्त हों। **आचार्यों ने लोभ को सभी पापों का**

मूल बताया है। अतः लोभ पर विजय ही पापों पर विजय है।

एक न्यायाधीश ने एक अपराधी से प्रश्न किया ''क्या तुम शराब पीते हो?

''नहीं, कभी नहीं''। अपराधी का उत्तर था।

''तुमने कभी किसी युवती को पकड़ा है? ''व्यभिचार किया है?

नहीं, ऐसे दुर्विचार कभी मेरे मन में भी नहीं आये।

तुमने कभी किसी को धोखा दिया है? किसी के साथ बेइमानी की?

जी नहीं। जीवन में ऐसा अवसर कभी नहीं आया। अन्त में न्यायाधीश महोदय ने पूछा- क्या तुमसे एक भी दुगुर्ण नहीं है?

''सिर्फ झूठ बोलता हूँ'' अपराधी ने स्वीकार किया। एक मात्र मिथ्या भाषण ने उसके सभी सद्गुणों पर पानी फेर दिया।

इन दुर्गुणों, पापों या बुराइयों का विचित्र स्वभाव है कि एक ने भी यदि आपके हृदय में स्थान पा लिया तो वह आपकी समस्त अच्छाइयों को निर्मूल कर देगा।

अतः आवश्यक है कि सत्य को स्थापित करने हेतु सभी पापों को मूलतः त्यागना होगा, जड़ से उखाड फेंकना होगा। यदि मूलतः कुठाराघात नहीं हुआ तो पत्ते जितने काटोगे, उससे कई गुने नये निकल आयेंगे।

झूठ, बोलना मनुष्य का स्वभाव है। वह ब्रह्म मुहूर्त में उठता है भगवान पूजा अर्चना करता है, मद्य, माँस, मधु का त्याग कर देता है। धुम्रपान और अन्य व्यसनों का भी त्याग कर सकता है। परन्तु मिथ्या

भाषण छोड़ना उसके लिए इतना सहज नहीं है।

"अणथोवं, वणथोवं, अग्गीथोवं कषाय थोवंच।
न हु थे वीससि यव्वं थोवं पिहु तं बहु होई।"

अर्थात ऋण का थोड़ा, घाव को छोटा, आग को तनिक और कषाय को अल्प मानकर मत बैठ जाना क्योंकि वे थोड़े ही बढ़ के बड़े हो जाते हैं।

भगवान महावीर की स्पष्ट घोषणा है कि इनको तू छोटा और क्षीण अस्तित्व का मत समझ! एक ने भी जीवन में प्रवेश पा लिया तो सम्पूर्ण जीवन नष्ट भ्रष्ट हो जाएगा। एक उल्लू सारे मधुबन को उजाड़ डालता है। आग की एक चिन्गारी विशाल घने वन को राख कर देती हैं।

आप ऋण लेते हैं, सीमित मात्रा में लेते हैं। लेते समय भाव यही रहता है जल्दी ही वापिस कर देंगे! इसी आशा में ले तो लेते है परन्तु मूल चुकता नहीं है, ब्याज बढ़ता जाता है। स्थिति ऐसी आती है कि ब्याज ही नहीं चुका पाते, तो मूल धन से कैसे ऋण होना सम्भव है?

जन्म जन्मातर से हम कर्म मार से दबे चले आ रहे हैं। ऋण होना तो दूर भार बढ़ता जा रहा है। मोह रूपी ऋण लेते जा रहे हैं। किसी को अपना कहना ही मोह का संकेत है। अतः आवश्यक है मोह कदापि न करों एवं पूर्व जन्मों का मोहभार घटाने के लिए प्रयत्नशील रहों।

"अभागे वे हैं जो जीवन में मोह से उऋण नहीं हो पाते एंवं सौभाग्यशाली वे है जो मोह से मुक्त होकर सत्य को अंगीकार करते हैं।

घाव को भी छोटा मत समझों। छोटी फुंसी भी उत्तरोत्तर बढ़कर नासूर बन जाती हैं। छोटा सा बीज ही विशाल वृक्ष को बनाता है। वृक्ष बीज के रूप में पृथ्वी में प्रवेश करता है। और विशालकाय बनकर उसकी जड़ें व्यापक रूप से फैल जाती हैं। पृथ्वी में वृक्ष प्रवेश नहीं कर सकता था अतः बीज के माध्यम से प्रवेश हुआ। वृक्ष का अपना ढंग है बीज उत्पन्न करने का तथा पृथ्वी के गर्भ में प्रवेश करने का।

बीज को नष्ट करना जितना आसान है वृक्ष को मूलतः नष्ट करना उतना ही कठिन है। वृक्ष जितना विशाल होगा जड़े उसकी उतनी ही व्यापक एवं पुष्ट होगी। मोह भी एक विशालकाय वृक्ष है जो ऊपर से आकर्षक एवं लुभावना लगता है परन्तु जड़ों में विषय कषाय फैलाते जाता है।

' मन्दिर के शिखरों में छोटे-छोटे वृक्ष अंकुरित होते हैं। बढ़ते हैं, दीवारों में दरार पड़ती है और कालान्तर में मन्दिर धराशायी हो जाता है।

आत्मा रूपी मन्दिर में भी मोह अंकुरित होता है। कालान्तर में विषय कषाय रूपी जड़ें आत्मा को परमात्मा से विमुख कर देती है। अतः साधक को विषय कषाय और मोह से दूर रहना चाहिए।

आग को तनिक और कषाय को अल्प मानिये। बीज वृक्ष बन सकता है। छोटी सी फुंसी नासूर बन सकती है। अल्प ऋण भिखारी बना देता है तो तनिक आग विशाल वन को जला दे, तो अप्रत्याशित क्या है? बाहर की आग जब इतनी घातक है तो क्रोधाग्नि का खतरा तो कल्पना से परे है। बाह्य अग्नि प्रयत्न करने पर बुझ भी जायेगी मूलतः नष्ट भी हो सकती है परन्तु अंतस्थल की कषाय और क्रोधाग्नि को बुझाना उतना आसान नहीं हैं।

"आत्म विशुद्धि परिणामान् कषन्ति, हिंसन्ति हनन्ति इति कषायः।"

अर्थात आत्मा के सम्य क्तत्व परिणामों को घात करने वाली, बान्धने वाली, कसने वाली ही कषायें हैं। जो जीव को बान्धें सो कषाय हैं।

कषाय को तू छोटा मत मान। मन में उठने वाली कषाय की लहर का तत्काल दमन ही सूझ-बूझ का परिचायक है।

थोड़ा ऋण कालान्तर में दरिद्र और कंगाल बना सकता है। कषाय की छोटी सी लहर का यदि तत्काल दमन न हुआ तो क्रोधाग्नि को बुझाना, विषय कषायों को निर्मूल करना तुम्हारी क्षमता से परे होगा। फिर पश्चाताप के अतिरिक्त कुछ भी उपलब्ध नहीं होगा।

"अब मैं क्रोध नहीं करूंगा।" परन्तु निश्चित मानिये क्रोध आयेगा और आप स्वयं को रोक नहीं सकेंगे। आप प्रत्येक बार क्रोध का औचित्य प्रतिपादित करना शुरू कर देंगे।

भगवान महावीर का स्पष्ट कथन है कि तुम क्रोध का बहाना ढूंढ रहे हों। क्रोध की इस अल्प लहर पर यदि तुम नियन्त्रण न कर सके तब विशाल क्रोध से मुक्त कैसे हो सकते हो?

कषाय तुम्हें स्व से विचलित करती है, परम लक्ष्य से भ्रष्ट करती है, जीवन अस्त व्यस्त हो जाता है, मनुष्यता बिक जाती है एवं परमात्मा खो जाता है। कषाय रावण बनकर जीवन रूपी सीता का अपहरण कर लेती है।

क्रोध, मान, माया, लोभ के कषाय के ही बीज है। छोटे से बच्चे पर क्रोध कर दिया। क्रमिक विकास ने चपत भी लगा दिया। बहिन ने क्रोध और पिटाई का कारण पूछा तो झूठ बोलना पड़ी, मायाचारी ने स्थान लिया, अनायास मोह और मान भी प्रवेश करेगा अतः अंततोगत्वा आत्मा के प्रदेशों में कषाय का विषाक्त प्रभाव व्याप्त हो जायेगा जो जीवन को तोड़ देगा, जीवन की नौका को डुबो देगा।

एक भिखारी भीख मांगने के लिए एक दरवाजा खटखटाने लगा। दैव योग से एक नवयुवती ने दरवाजा खोला। देखते ही उस पर प्रश्नों की वर्षा करने लगी- जवान हो, स्वस्थ हो, सुन्दर हो? स्वयं कोई काम भी कर सकते हो फिर भीख क्यों मांग रहे हो?

भिखारी युवक भी हाजिर जवाब था। युवक ने युवती से कहा- तुम संसार की अनन्य सुन्दरी हो। फिल्म अभिनेत्रियाँ भी तुम्हारे सामने ना कुछ है। तुम यहाँ व्यर्थ जीवन नष्ट कर रही हो? फिल्म अभिनेत्री बनकर यश और ऐश्वर्य को कदमों में बुला सकती हो। यह सुनते ही युवती ने उसे भोजन बनाकर लाकर दे दिया।

देखा आपने! एक भिखारी ने भी युक्ती को उसकी वास्तविकता से परिचित करा दिया। जीवन में किसी में छोटे-बडे का भेद मत

करो। बड़ी या छोटी कोई वस्तु हो जीवन में बाधक हो सकती है।

सत्य का खोजी जीवन की एक-एक साँस का हिसाब रखता है। सत्य प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील रहता है। जीवन उसकी साधना का उपकरण है। वह जो कुछ करता है सत्य को आत्मसात करने हेतु करता है अन्यथा नहीं। क्रोध प्रेम को नष्ट करता है, मान विनय को, माया मैत्री एवं लोभ तो सर्वनाश के लिए उत्तरदायी तत्व है।

अतः क्रोध, मान, माया एवं लोभ से विरक्तिही 'सत्' का स्वागत द्वार है।

"सच्चामिवसदि, सच्चाम्मि संजमो तह वसे तेसा वि गुणा।
सच्चं णिबंधणं हिय गुणाण मुदधीव मच्छाणं।"

अर्थात् सत्य में सयंम और समस्त गुण समाविष्ट है। सभी गुण सत्य में सन्निहित है।

सत्य कोई आदान-प्रदान की वस्तु नहीं है। मन्दिर, शास्त्र और गुरु तो सत्य तक पहुंचाने में परम निमित्त है। सत्य तो मात्र प्रतीति या अनुभूति ही है वो आत्मा को होती है।

क्रोध, मान, माया, लोभ से रहित एवं प्रवंचना के अभाव में जीवन जीना ही सत्य है।" सत्य वह आगार है जिसमें संयम, तप, त्याग आदि सभी कुछ समाहित है। सत्यान्वेषी अहिंसानुरागी होता है। जिसने एक बार सत्य को पा लिया वास्तव में वह परमात्मा बन जाता है और अन्तरंग बहिरंग परिग्रह उससे स्वतः ही छूट जातेहै।

सत्य की एक छोटी सी किरण ही समग्र जीवन को आलोकित करने में समर्थ है। अज्ञानान्धकार को दूर करने और ज्ञान ज्योति प्रज्वलित करने हेतु मात्र सदाचरण का दीपक ही सक्षम है।"

सत्य आत्मा का सौन्दर्य है जो नेत्रों से प्रेम रूप में प्रगट होता है, मुख की मधुर मुस्कान से दृष्टिगोचर होता है। दशलक्षण धर्म, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक चारित्र, बाईस परीषह, बारह तप, बारह भावनाएँ आदि सत्य तक, पहुँचने के द्वार है।

सत्य सतत् साधना का प्रतिफल है। साधक की प्रत्येक श्वास सत्य को पाने के लिए प्रयत्नशील रहती है। वह अपना समग्र जीवन समर्पित कर देता है। तभी सत्य भी उन्हें अंगीकार कर लेता है।

आचार्य समन्तभद्र ने सत्य का व्यवहारिक पक्ष पर सुन्दर ढंग से व्याख्या की है:-

"स्थूलमलीकं न वदति न परान् वादयति सत्यमपिविपदे।
यत्तद्वदन्ति सन्तः, स्थूल मृषावाद्-वैरमब ।।

सत्य कथन ऐसा कदापि मत कहना जिससे किसी की जान चली जाय। झूठ का प्रतीकार अवश्य किया है परन्तु ऐसे सत्य को भी नकार दिया जो हिंसा का समर्थक हो। हिंसा समर्थित सत्य तो असत्य से भी अधिक खतरनाक है।

पूर्ण सत्य अव्यक्त है अतः जो भी कथन होगा वह आंशिक सत्य ही होगा।

एक राजा ने घोषणा की कि उसके राज्य में कोई भी असत्य भाषी नहीं होगा। एक शिक्षित युवक ने आदेश के व्यवहारिक पक्ष पर विचार किया एवं राजा के समक्ष पहुँचकर निर्भीकता से विरोध किया। परन्तु राजा आदेश पर अडिग था। और राजा ने कहा कि आदेश का उल्लंघन फाँसी को आमंत्रित करना होगा।

युवक ने चुनौती स्वीकार की और दूसरे दिन प्रातः ६ बजे आने, असत्य वचन कहने एवं फाँसी पर चढ़ने की बात राजा से साहसपूर्वक कही एवं यथासमय वह राजद्वार पहुँचा।

राजद्वार में सुबह काफी भीड़ थी। सैनिकों का पहरा भी बढ़ा दिया गया था। राजा स्वयं सतर्क था क्योंकि जीवन में पहली बार किसी ने उनके आदेश का प्रतीकार करने का दुस्साहस किया था। युवक को देखते ही सैनिकों ने रोककर पूछा- "बिना पूछे कहाँ जा रहे हो?"

''फासी पर चढ़ने।'' युवक का उत्तर था।

सत्य सत्य बोलो- सैनिक बोलें। यदि झूठ बोल रहा हूँ तो फाँसी पर लटका दों युवक ने कहा।

राजा स्वयं वही उपस्थित था। युवक के उत्तर सुनकर अवाक् था। वह किंकर्तव्यविमूढ़ खड़ा था। यदि उसे फाँसी नहीं देते हैं तो बात असत्य हो जाती है तथा फाँसी पर चढ़ाते है तो आदेश की प्रामाणिकता संदेहास्पद बन जाती है।

अंततोगत्वा राजा ने उसके साहस और बुद्धिमता की प्रशंसा की। उसे पुरस्कार दिया और अपना आदेश वापस ले लिया।

'': ''सत्य सूयात् प्रिय ब्रूयात् ना ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।''

हिम मित एव प्रिय सत्य बोलों। साधु सत्य कथन हेतु ही भाषा समिति का प्रयोग करते हैं। अन्धे को अन्धा, लंगड़े को लंगड़ा लूले को लूला अथवा दिवालिये को दिवालिया कहना सत्य होते हुए भी सत्य नहीं है।

''सत्य भाषण में भाषा समिति साधन है, तथा वचन गुप्ति साध्य है।'' वचन सत्य कों पौद्गलिक या व्यावहारिक सत्य के अन्तर्गत लिया है तो धार्मिक सत्य को पारमार्थिक या आध्यात्मिक सत्य की परिधि में रखा है।

वचन सत्य को पालकर ही धार्मिक सत्य प्राप्त करना सम्भव है। अतः सत्य व्रत साधन है और सत्य धर्म साध्य है। वचन सत्य ही व्यवहार सत्य है और धार्मिक सत्य को आचार्य निश्चय सत्य कहतेहैं।

साधु व्यवहार सत्य का पालन भाषा समिति के माध्यम से करतेहैं। वे हित, मित, प्रिय वचन बोलते है। अद्वा-तद्वा वचन का कदापि प्रयोग नहीं करतें। उनकी वाणी का एक-एक शब्द उतना ही सार्थक और गम्भीर होता है जितना की तार (टेलीग्राम) से भेजे गये संदेश का प्रत्येक शब्द।

एक लकड़हारा था। अत्यन्त गरीब था। जंगल से लकड़ी काटकर

शहर में बेचना यही उसकी आजीविका का साधन था।

एक दिन निर्जन वन में वह लकड़ी काट रहा था कि एक शेर उसके पास आ गया। देखते ही लकड़हारा भयभीत हो गया। परन्तु शेर भी लंगड़ाकर चल रहा था। दुःखी और बैचेन था। उसने अपना पैर लकड़हारे को दिखाया। पंजे में एक काँटा काफी गहराई तक फँसा हुआ था। काँटे की चुभन से शेर पीड़ित था। लकड़हारा ने साहस बटोरा और पंजे से कांटा बाहर निकाल दिया।

शेर ने राहत की साँस ली, वह लकड़हारे का गुलाम बन गया, परोपकार और बदला चुकाने हेतु कृत संकल्प था। उसने कृतज्ञता व्यक्त करते हुए कहा कि वह इस महान उपकार से उऋृण होना चाहता है।

शेर उसकी लकड़ी का गट्ठा जंगल से शहर लाने लगा। पहले वह १० किलो लकड़ी लाता था। अब शेर की पीठ पर २५-३० किलो आसानी से लाने लगा। लकड़हारे की आमदनी बढ़ने लगी और कुछ दिनों में उसने काफी अर्थोपार्जन कर लिया। वह धनवान बन गया। उसके कतिपय मित्रों ने पूछा- "इतनी जल्दी मालामाल होने का क्या राज है?"

मित्रों के प्रश्न का उत्तर उसने सहजभाव से दिया कि एक गीदड़ मेरे चंगुल में फँस गया है जिसके कारण ही मैं मालामाल हो गया हूँ। शेर यह सुनकर अत्यन्त दुःखी हुआ। शेर को ये वचन मर्मभेदी सिद्ध हुए वह मन ही मन रो पड़ा।

दूसरे दिन उस लकड़हारे ने गट्ठा ज्यों ही शेर की पीठ पर रखा त्यों ही शेर एकाएक बोला "तुमने कल जो किया वह ठीक नहीं है। अतः या तो तुम मुझे मारडालों अन्यथा मैं तुझे खा जाऊंगा। उसने पूछा- वनराज तुम्हारे इस प्रकार के कथन का कारण क्या है? शेर ने कोई उत्तर नहीं दिया। वह अपनी बात पर अड़िग था। लकड़हारे को अपने प्रश्नों का भय था। अतः अंततोगत्वा उसने शेर पर कुल्हाड़ी चला दी। शेर के प्राण पखेरु उड़ गये। परन्तु मरने से पहले उसने लकड़हारे से जो कहां व मार्मिक था। शेर बोला- कि कुल्हाडी के प्रहार से उतनी वेदना नहीं हुई जितने वेदना तुम्हारें मुझे गीदड़ गहने

से हुई थी। तुम परोपकार का बदला कभी भी कटु वचनों से मत चुकाना।

सत्य को कटु समझना भ्रम है। सत्य स्वयं मधुर है और जीवन में भी मधुरता प्रदान करता है। पूर्णसत्य का आगमन ही वीतरागता को अंगीकार करता है।

सत्य अखण्ड है। अनेकान्त दृष्टि से मौलिक सत्य, अलौकिक सत्य, व्यवहार सत्य, निश्चय सत्य, द्रव्य सत्य, मरण सत्य आदि अनेक रूप हैं।

लौकिक सत्य सभ्य समाज में मान्यता प्राप्त है। पारमार्थिक का साधन है। लौकिक सत्य का पालन करते समय व्यक्ति को आठ भाषाओं का त्याग आवश्यक हैः-

(१) कर्कश भाषाः- खड्ग प्रहार से भी अधिक तीक्ष्ण।
(२) कठोर भाषाः- पाषण प्रहार के समान।
(३) छेदकारीः- भाले, चाकू की मार के समान घाव उत्पन्न करने वाले।
(४) भेदकारीः- आपस में भेदभाव उत्पन्न करने वाली।
(५) मर्मकारीः- आग लगा देने के समान।
(६) मीषाकारीः- ताना मारने वाले वचन।
(७) सावद्यः- पापोत्पत्ति या ही हिंसोत्पादक वचन।
(८) एकान्तः- अनपेश्रित दृढ़ाग्रह से युक्त वचन।

वक्ता के लक्षण आगम के बताये है- "क्रोध लोभ भीरुत्व हास्य प्रत्याख्यानान्यनुवीचि भाषणं च पचं।"

क्रोध का परित्याग वक्ता की प्रथम शर्त है। क्रोध की विद्यमानता में सत्य कथन सम्भव ही नहीं है।

लोभ क्रोध का सखा है। लोभाकृष्ण वक्ता के मुख से सत्य कथन की आशा भी नहीं करना चाहिए। सभी पापों का मूल कारण है।

भीरूता वक्ता के मनोबल को गिराती है। ड़रपोक वक्ता सच

बात कहने का साहस नहीं कर सकता। कायर स्वयं की रक्षा में समर्थ नहीं होता फिर वह सत्य की रक्षा कैसे करेगा? निर्भीक ही सत्य का उद्घाटक होता है।

हास्य की उपस्थिति सत्य कथन में बाधक है। उपहास शैली में किया गया कथन असत्य प्रतीत होता है। व्यगांत्मक सत्य असत्य की कोटि में आता है।

अनुवीचि भाषण आगमानुकूल होता है। आगमन में वर्णित कथन को ही पूर्ण सत्य मानना चाहिये।

आचार्य पूज्य पाद ने वक्ता के लक्षण इस प्रकार बताये हैः-

प्राज्ञः प्राप्त समस्त शास्त्र हृदेय प्रव्यक्त लोकस्थितिः:
प्रास्ताशः प्रतिभापरः प्रशमवान प्रगिव दृष्टाचरः।
प्रायः प्रश्न सहः प्रभु पर मनोहरी परनिन्दया,
ब्रूयाधर्मकथां गणी गुणानिधिः प्रत्यष्टमिष्टाक्षरः।।

उपदेष्टा को प्राज्ञ होना चाहिये। सकल शास्त्र हृदय युक्त होना चाहिए अर्थात् शास्त्रों के रहस्य का ज्ञाता होना चाहिए। प्रव्यक्त लोकास्थिति अर्थात् लोक व्यवहार से परिचित होना चाहिये। ये सामान्य गुण तो किसी भी वक्ता में सुलभ है। उपदेश तो विषय, कषाय आशा पाश से रहित होना चाहिए, परम शान्ति का धारक, शंका, समाधान में धैर्यशाली, क्षमाशील, सहनशील, पर निन्दा से दूर, गुणों का आगार, स्पष्ट परन्तु मधुर भाषी होना चाहिए।

अन्यथा एक कुशल वक्ता में भी निम्न सामान्य दोष पाये जाते हैं :-

(1) कन्थालिक- बेटी की शादी हेतु लड़की की उम्र कम या अधिक बताना।
(2) शारीरिक स्थिति खराब होने पर भी अच्छी बताना।
(3) अमानत में खियानत- किसी की गिरवी हड़प जाना।
(4) गलत गवाही देना।
(5) व्यापार में बेइमानी करना।

एक ख्याति लब्ध साधु को फाँसी दी जा रही थी। विशाल जन

समूह एकत्र था। समर्थक भी थे, आलोचक भी थे। राजा ने फाँसी भी अजीब ढंग से दी। उसके हाथ कटवाये, लोगों से पत्थर फिकवायें। विक्षिप्त कूकर वत् व्यवहार किया गया। सारे शरीर में घाव थे। वह लहुलुहान था। परंन्तु मुख मण्ड़ल यथावत् था। सौम्यता, शालीनता, मुस्कुराहट ऐसी थी मानों कुछ हुआ ही न हों। सबके प्रति क्षमा भाव था स्वयं के कर्मोदय को ही उसने दोषी ठहराया।

अज्ञानी का स्वभाव ठीक विपरीत होता है। हिंसा, परपीड़ा उसका स्वभाव होता है। घृणा, द्वेष, क्रोध उसकी प्रकृति है।

मृत्यु से उन्हें भय नहीं होता जिन्होंने सत्य अंगीकार कर लिया है। मृत्यु ही यथार्थ सत्य से परिचित करवाती है। मृत्यु से भयभीत है तो निश्चित मानियें सत्य का प्रवेश उसमें नहीं हुआ है।

हम लोगों ने स्वार्थ वश असत्य के अनेक मन्दिर खड़े कर लिये हैं। जिनका प्रतिकार आवश्यक है। जो दुष्कर कार्य अवश्य है तथापि असत्य का उद्घाटन हेतु अनिवार्य भी है एवं सत्यान्वेषण में साधक भी है।

भगवान महावीर ने सत्य को खोजा था, पहचाना था और समझा था। सत्यान्वेषण में वे दिगम्बर हो गये तपश्चरण किया। वे उस भीड़ में शामिल नहीं हुए जो सत्याभास को ही वास्तविक सत्यमान लेती हैं। भीड़ को सत्य उपलब्ध नहीं होता वह अन्धकार में भटकती है। वह सत्य का प्रदर्शन करती है। आत्मानुभूति नहीं।

वेद की प्रतिष्ठा ईश्वर में है, ईसाइयों की प्रतिष्ठा प्रभु यीशु है। इस्लाम की प्रतिष्ठा पैगम्बर मोहम्मद में है। भगवान महावीर ने परम दिव्य को पाने हेतु अपरिग्रह को प्रधानता दी और दिगम्बर को भी परमावश्यक बताया। जो अन्य धर्मो मे नहीं है। अन्य धर्मों ने इसका प्रतिकार भी किया, परन्तु सत्य को नहीं बदल सके। आग से तपने पर सोना और खरा निकलता है।

अपरिग्रह भी अंतरंग और बहिरंग दोनों ओर से होना चाहिये। एक मात्र ब्राहय अपरिग्रह से अंतरंग परिग्रह छूटना सम्भव नहीं है। हाँ अन्तरंग परिग्रह के त्याग से बहिरंग परिग्रह स्वयमेव प्रभावित होता है।

भगवान महावीर ने वस्त्र का त्याग नहीं किया था वे तो स्वयमेव छूट गये थे। पुष्प का विकसित और आकर्षक रूप दृष्टिगोचर होता है परन्तु सुगन्ध तो उसके अन्तरंग की द्योतक है।

भगवान महावीर ने अपने सुगन्धित पुष्प से सभी को सुरभित एवं आकर्षित कियाँ। जो आत्म पिपासु थे वे उनसे प्रभावित हुए। उनके प्रकाश पुंज ने जिसको भी छुआ वह वैरागी हो गया। उनके हृदय की वीणा भव्य जीवों के हृदय की पुकार बन गई।

भर्तृहरि ने भी इसका समर्थन किया है-

''धैर्य यस्य पिता क्षमा च जननी शातिश्चिंर गहिनी,
सत्यं सुतस्यं दया च भागिनी भ्राता मनः संयमः।
शय्या भूमितलं दिशोऽपि वसनं ज्ञानामृतं भोजन,
येते यस्य कुटुम्बिनों, वद सखे! कस्माद् भयं योगिनः? ।।

धैर्य जिनका पिता हो; क्षमा माता हो, शान्ति गृहिणी हो, सत्य पुत्र हो, दया बहिन हो, संयम भाई हो, भूमितल शय्या हो, दिशायें वस्त्र हो, ज्ञानामृत की भोजन हो उन्हें किससे भय हो सकता है? ये सभी विशेषताएं एक मात्र दिगम्बरत्व में ही विद्यमान हो सकती है।

नारायण श्री कृष्ण के जीवन की कथाएँ एवं चित्र आपने देखे होंगे। गोपियाँ स्नान कर रहीं हैं तथा वे वस्त्र को चुराकर वृक्ष पर बैठे हैं। इसका अर्थ या भाव अन्यथा मत लेना। यह रहस्यात्मक एवं गूढ़ार्थ परक है। कृष्ण यही संकेत देते हैं कि जो मेरे प्रेम में पड़ेगा उसके वस्त्र मैं छीन लूंगा। प्रेम में निर्वस्त्र कर दूंगा। ईश्वर और आत्मा के मध्य कोई भीं परिग्रह मिलन में बाधक है। एकाग्रता में अपरिग्रह ही साधक है।

भगवान महावीर ने परम सत्य को आत्मसात करने के लिए निर्वस्त्र होना पहली अनिवार्यता प्रतिपादित की। निर्दोष एवं निर्मल शरीर को अनावृत करके ही परमात्मा को आत्मा से एकीकृत होने दो।

भगवान महावीर का सत्य बर्फ के समान समुद्र में तैरता नहीं है वह तो मोती के समान तल की गहराई में है। कतिपय दार्शनिक शब्द जाल में ही सत्य को फँसा देते हैं, तर्कों के अजायबघर में सत्य का निवास सम्भव नहीं है।

तीन और तीन छह तो गणित का सत्य है, आत्मा का नहीं। आत्मिक सत्य तो इससे भिन्न है। आत्मिक सत्य में आवरण बाधा है। जो जैसा है उसे यथावस्था में ही रहने दो। जिन कारणों से सत्य ढकता है उसका परित्याग कर दो। लोक निन्दा, लोक भय की चिन्ता मत करो। और वह सब सहज भाव से करो। संक्लेश भाव से नहीं। पर्वत, वृक्ष भीतो नग्न है। तुम भी प्रकृति का अवलम्बन कर अनन्त आकाश के नीचे स्थिर हो जावों। जिससे तुम्हारी शैय्याभूमि, अम्बर दिशाएं एवं भोजन ज्ञानामृत बन जावें।

तुम्हारा बहिरंग वस्त्रों से आवृत्त है। तो अंतरंग भी कर्म और वासनाओं से विचलित है। हमारी वाणी में मायाचारी का आवरण है जिससे दूसरों को आकर्षित कर स्वयं सम्मान पाने की लालसा बलवती होती है। वस्त्रों का आड़म्बर भी इसी हेतु है। मनसा, वाचा, कर्मणा हम दोहरी नीति अपनाते है। मायाचारी को प्रोत्साहन देते हैं और सत्य से दूर होते चले जाते हैं।

सत्यान्वेषक सतत् आत्मनिरीक्षण करता है। वाणी संयम पर बल देता है। हित मित एवं प्रिय भाषी होता है। वह अपने कार्यों पर भी नियंत्रण करता है। तभी मन पर नियंत्रण का अभ्यास सम्भव है। अन्यथा जिस प्रकार वृक्ष से पत्ते निकलते हैं, शरीर में बाल ऊगते है। उसी प्रकार मुख से असत्य वचन बोलना आदत व स्वभाव बन गया है। अतः कदाचित सत्य भी उच्छिष्ठ होकर सत्याभास ही कराता है।

भगवान महावीर के अनुसार मोह की गाँठ खोलकर मुक्त हो जाओं। सत्य को यथा रूप प्रगट करों। वस्त्र उसमें बाधक हैं क्योंकि वस्त्र ही तुम्हारे जीवन का संगीत और आकर्षक बन गया है।

आप नग्न होने से डरते क्यों हैं? क्या अनुचित है जिसे छिपाना चाहते हो अथवा क्या श्रेष्ठ है जिसे प्रदर्शित करना चाहते हो? वस्त्र तो

आप 'स्व' के लिए नहीं, पर को आकर्षित करने या छिपाने के लिए पहनते हैं। नहीं तो अवकाश में आप साधारण वस्त्र परन्तु किसी पार्टी विशेष में लुभावने, आकर्षक वस्त्र क्यों धारण करते हैं?

भाषा में भी हम जो सत्य नहीं है और असत्य भी नहीं परन्तु व्यवहारिक सत्य का प्रयोग करते हैं। यह रास्ता फलाना गाँव को जाता है, यह छत चू रही है। यह घड़ा टपक रहा है, रेल्वे स्टेशन पास आ गया है। इन कथनों में कितनी सच्चाई है। क्या रास्ते, छत या घड़ा काम कर सकता है? यह लोक व्यवहार की भाषा है।

नाम सत्य भी लोक व्यवहार में आता है। नयन सुख नाम है परन्तु है आँखों से अन्धा। त्रिलोकीनाथ एक आँख से काना है। चैन सुखदास दिन रात बैचेन है। क्षमाबाई सदा क्रोध से भरी रहती है। लक्ष्मी बाई झाड़ू लगाती है।

आवेश में बाप बेटे से गधे के बच्चे! या सुअर की औलाद कहता है। ब्राह्मण, जैन शाकाहारी होते है परन्तु क्रोध में तुझे कच्चा खा जाऊंगा, तेरा खून पी जाऊंगा। उक्त सभी कथनों में जो निष्प्रयोजन और आवेश वश् होते हैं, सत्य से कितना दूर रखते हैं? अतः मन पर नियंत्रण कर, तत्काल प्रायश्चित करना चाहिए।

शतरंज का खिलाड़ी हाथी और वजीर मारने के लिए ही दांव पेंच लगाता है। बच्चे चाकलेट, बिस्किट में बने पशु, पक्षियों को नाम लेकर उसे खाने का कथन करते हैं। मैने बन्दर खाया। मैंने तितली खाई।

अतः हमने देखा हम, लौकिक जीवन में कितना असत्य बोलने के आदि हो गये हैं। अनाधिकृत भाषा का समर्थन करते हैं।

भय भी असत्य भाषण में सहायक है। एक ईमानदार व्यक्ति भी किसी थानेदार के रौब से भयभीत होकर ही चोरी कबूल कर लेता है जबकि उस चोरी से उसका दूर तक भी सम्बन्ध नहीं है।

मनोबल भी असत्य के लिये विवश कर देता है। युद्ध, रेल दुर्घटना में मृत वास्तविक संख्या नहीं बताई जाती। मूल में भाव यह है

कि अराजकता, असंतोष निराशा जनता में न आने पाये।

मेरी आँख लग गई है। गाड़ी चूक गई। कथन में आँख लगती नहीं हैं, नींद आती है। गाड़ी चूकती नहीं है, आप चूक जाते हैं। यह व्यावहारिक सत्य के अन्तर्गत किया गया कथन है।

भगवान महावीर ने ऐसे सत्य का भी निषेध किया है, जिससे किसी के प्राण जाते हो, किसी को पीड़ा होती हो।

सत्य की प्रतीति निष्ठावान को मिलती है। सत्य की अनुभूति कायरों को नहीं होती। सत्य निष्ठावान चरित्रवान की पूंजी है।

एक बार एक व्यापारी बाजार में कुत्ता बेच रहा था। कुत्ता देखने में सुन्दर, हष्ट-पुष्ट एवं मनोहर था। कीमत मात्र पांच सौ रुपये थी।

एक आदमी ने कहा - कीमत बहुत अधिक है।

व्यापारी बोला - इसकी कार्यकलाप, ईमानदारी, शान और सुन्दरता की तुलना में बहुत कम है। आदमी बोला - इसकी वफादारी की क्या विशेषता है? व्यापारी बोला - इसकी ईमानदारी और निष्ठा की बात मत करो। इसे मैं दस बार बेच चुका हूँ। सिर्फ दस बारह घण्टे में वापिस आ जाता है। इसकी तुम फिक्र ही मत करो। यह अपने मालिक के प्रति बहुत निष्ठावान है।

देखा आपने! एक व्यापारी भी निर्भीक होकर सत्य कहता है। अतः हमें भी इसका अनुकरण करना चाहिए।

सत्य की साधना के दो मार्ग है। पूर्ण परिग्रह त्यागने में असमर्थ श्रावक का सत्य, अपरिग्रही साधु से भिन्न होता है। सत्य श्रावक और साधु दोनों से ही शुरू होते हैं।

श्रावक गुण-ग्राही, होता है। मन मिथ्यात्व का वमन करता है। यथास्थिति वादी एवं ज्ञाता होता है, अहंकार से विमुक्त होता है। जिनागम

में अटल श्रद्धान करता है, सच्चे देव, शास्त्र, गुरू, का उपासक होता है।

श्रमण सत्याग्रही होता है। आपके रेडियो में कभी-कभी दो तीन स्टेशन एक साथ फँस जाते हैं तब आप ट्यूनिंग करके स्टेशन ठीक करते हैं श्रमण भी इसी प्रकार नियंत्रित करके सत्य ग्रहण करता है।

सत्य तभी समझ में आता है जब शुद्ध मन से श्रवण किया जाय। सत्य सोचने की नहीं, आत्मसात करने की वस्तु है। समुचित अवसर का लाभ होकर स्वयं को पवित्र, सिद्धांत प्रिय बनाने के लिए प्रयत्नशील व्यक्ति ही श्रावक होता है।

परम सत्य की व्याख्या सम्भव नहीं है। जो व्यक्त किया जाय वह आंशिक सत्य है। महल की व्याख्या आसान है। आपका शरीर क्या है? हड्डी, माँस, रूधिर का सम्मिश्रित ढ़ांचा है। इनके अभाव में शरीर अस्तित्वहीन है।

वैज्ञानिक सत्य भी आध्यात्मिक सत्य से भिन्न है। विज्ञान आज जिसे सत्य प्रतिपादित करता है। कल उसका खण्डन भी कर सकता है परन्तु आध्यात्मिक सत्य अटल, त्रैकालिक होता है जो अक्षुण्ण है।

"आपका चेहरा चाँद जैसा है।" कथन व्यावहारिक सत्य है। विज्ञान इस कथन को स्वीकार नहीं करेगा। विज्ञान तर्कों पर जीता है। सत्य श्रद्धा समर्पण पर जीता है। विज्ञान कहता है चांद में वजन अधिक है। चांद का वजन करोड़ों स्त्रियाँ भी सहन नहीं कर सकतीं। परन्तु यहाँ बाह्य पदार्थ सौन्दर्य के कारण तुलना या समानता प्रगट की गई है। अतः व्यावहारिक सत्य है।

विज्ञान पानी को हाइड्रोजन और आक्सीजन का यौगिक कहता है। भगवान महावीर पानी को जलकायिक जीव कहते है। विज्ञान इलेक्ट्रान, न्यूट्रान, पाजिट्रोन के मिलने से जो बने उसे हाइड्रोजन कहता है। भगवान महावीर हाइड्रोजन को वायुकायिक जीव कहते है। इलेक्ट्रान क्या है? विज्ञान इस प्रश्न में मौन है परन्तु भगवान महावीर इलेक्ट्रान को एक पुद्गल परमाणु मानते हैं।

एक बार स्वामी रामतीर्थ विदेश गये। वहाँ उन्होंने एक बगीचे मे अत्यन्त छोटे-छोटे चिनार के डेढ़ सौ साल पुराने वृक्ष देखे। लम्बाई मात्र छह इंच थी परन्तु थे डेढ़ सौ वर्ष पुराने। वास्तव में वृक्ष का फूल पत्ती शाखा से नहीं उसकी जड़ों से जाना जाता है। वृक्ष के मूल प्राण उसकी जड़ में है। फूल, पत्ती शाखाएँ तो मात्र बाह्य रूप है वास्तविक सत्य तो इसकी जड़ है। बगीचे के माली ने बताया कि वृक्षों की जड़े काटने पर उसकी ऊपर की ओर वृद्धि रूक जाती है और वह छोटा रह जाता है।

हम लोग भी अपनी धार्मिक जड़ों को काटते जा रहे हैं। ऊपरी तौर पर हम विकास कर रहे हैं। अन्तरंग आत्मा की शान्ति विलीन होती जा रही है। यदि धार्मिक भावना का अभाव हो, तप, त्याग, संयम, हेय हों, तो सत्यानुभव संभव कैसे होगा?

पेड़ को यदि सुरक्षित रखना है तो जड़ों को खाद पानी देना होगा। सत्य की प्रतीति करना है तो अन्तरात्मा को शुद्ध करना होगा, अज्ञानान्धकार मिटाना होगा।

दीपक के आलोक में चोर घर में नहीं घुसते। भीतर चोरी करने से डरते हैं। विवेक, बोध और सजगता। का दीपक जिस हृदय में प्रज्वलित होगा, घातक तत्वों का वहाँ आगमन या आविभार्व हो ही नहीं सकता। विकृतियाँ हमारे जीवन में तभी आती हैं जब हम जीवन में सचेत नहीं होते हैं।

हम सब प्रगाढ़ निन्द्रा में मग्न हैं। हम निद्रा के वशीभूत हों 'स्व' को भूल गये हैं। हम सत्य की खोज 'पर' में कर रहें हैं जबकि वह 'स्व' में ही सुलभ है।

जब मैं पढ़ता था तब एक वैज्ञानिक हमारी कक्षा में आकर कहने लगा कि मेरे पास ये तीन शीशी हैं। तीनो में गुलाब की सुगन्ध है। उसने कक्षा में छात्रों से कहा कि शीशी खुलते ही सुगन्ध जिस गति से आपकी नाक को प्रभावित करे आप खड़े होते जाइये।

सभी छात्र सतर्क हो गये। नाक साफ कर ली और ध्यान पूर्वक देखने लगे। खिड़की और दरवाजे बंद कर दिये गये। शीशी का ढ़क्कन

खोल दिया गया।

किसी ने हाथ नहीं उठाया। उसने छात्रों से संकेत में पूछा "क्या अभी तक गुलाब की सुगन्ध तुम तक नहीं पहुँची।

कुछ समय बाद एक छात्र ने हाथ उठा दिया। बस अब क्या देखना था। अग्रिम क्षणों में कक्षा के सभी छात्रों के हाथ उठ चुके थे परन्तु अभी मैं शान्त था, सावधान सुगन्ध की प्रतीक्षा कर रहा था। मैने हाथ नहीं उ़ठाया था।

वैज्ञानिक ने वही प्रश्न मुझसे दोहराया और मेरा उत्तर भी प्रत्याशित था। कक्षा के सभी छात्र मेरा उपहास कर रहे थे कि मेरी नाक खराब है। मुझे जुखाम हो गया है। परन्तु में आश्वस्त था। मुझे कुछ भी नहीं हुआ था, फिर भी सुगन्ध मुझ तक पहुँच नहीं पा रही थी।

वैज्ञानिक ने बोतल हिलाई और पूछा कि- सुगन्ध पहुँच रही है या नहीं? छात्रों ने पुनः हाथ ऊपर कर दिये। परन्तु मैं यथावत था। मैं निरन्तर छात्रों के उपहास का केन्द्र बनता जा रहा था।

एकाएक उस वैज्ञानिक ने एक छात्र को अपने पास बुला कर, शीशी खोलकर उसे सूंघने के लिए दी। छात्र निरूत्तर था क्योंकि उसमें सुगन्ध नहीं थी।

वैज्ञानिक ने छात्रों से पूछा- इस शीशी में सुगन्ध ही नहीं है तो फिर तुम अपने हाथ ऊपर क्यों उठाये? सभी छात्रों का मुख मण्डल देखने लायक था।

अब सभी छात्र मौन थे और मैं उन्हें देखकर हँस रहा था। सारे संसार की यही हालत है। "गतानुगति लोकः" की कहावत सर्वत्र चरितार्थ हो रही है।

हम दूसरों को देखकर जी रहे हैं। भीड़ के पीछे चले जा रहे हैं। भीड़ में सत्य की प्रतिति भी नहीं है फिर भी हम समर्थन कर रहे हैं।

बन्धुओं! अन्त में आपसे मैं इतना कहूंगा कि भीड़ का अन्धानुकरण बन्द करो। भगवान महावीर प्रदर्शन को नहीं दर्शन को महत्व देते हैं।

भारत के निर्वतमान राष्ट्रपति डा. राजेन्द्रप्रसाद ने राजनीति में भी असत्य का कभी प्रयोग नहीं किया। राजा दशरथ ने अपना सत्य वचन निभाया। मर्यादा पुरूषोत्तम राम ने सत्य का पालन किया। विभीषण ने भी सत्य का समर्थन कर भाई रावण को भी छोड़ दिया था।

अतः हमें अपने जीवन में सत्य का समादर करना चाहिए।

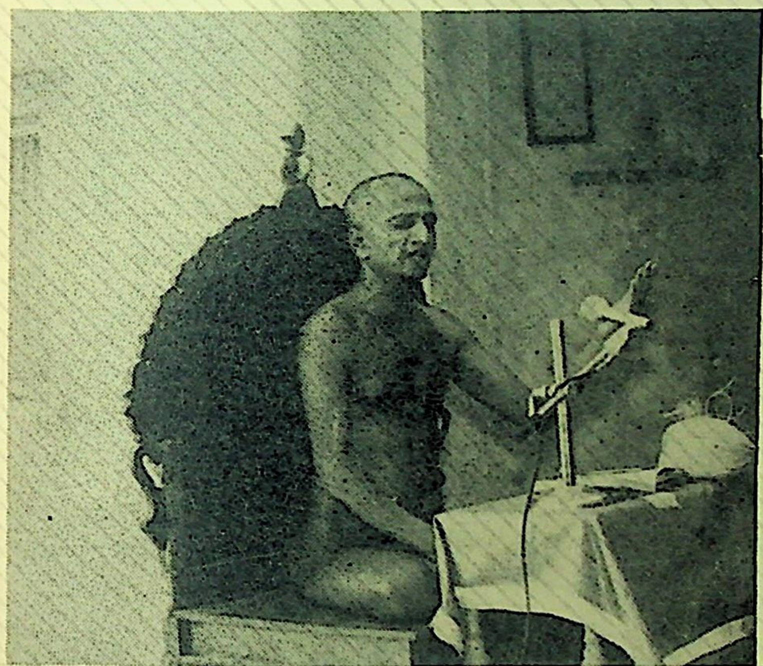
उनकी ही नाव सत्य सागर में किनारे पहुँचेगी, क्रोध, मान, माया, और लोभ के बन्धनों से मुक्त है।

यदि सत्य को पाने के लिए कृत संकल्प हो, तो विषय वासनाओं का परित्याग करो। इनसे रहित अवस्था में ही सत्य जागृत होगा।

यदि सत्य ही तुम्हारी मंजिल है तो अंनत पथ की यात्रा करो। वह तुम्हारे 'स्व' में ही स्थित है। उसे पहचानना कठिन नहीं है, यात्रा कठिन है। जो 'स्व' में रमण करता है वह सत्य को हृदयंगम कर लेता है।

उत्तम सत्य धर्म की जय

उत्तम संयम



आचार्य पुष्पदन्त सागरजी महाराज



पंचोरी मंगलजी चम्पालाल परतापुर

६. उत्तम संयम धर्म

"अरिहन्त सिद्ध साहू इन्हें हेतु बनाओ,
काटो कुकर्म सारे सुख चैन पाओ,
ये सम्यक्त्व के सदन है समता स्वधाम,
करके प्रणाम इनको सब पाओ विराम ।।1।।

धर्मानुरागी बन्धुओं,

यह सर्वमान्य सत्य है कि मानव का जन्म पराधीन है, दासत्व जन्मजात हैं, जिसे काटना सरल नहीं है क्योंकि वह स्वनिर्मित है। यदि इस दासता से मुक्त होना है, पराधीन से छूट स्वाधीन होना है तो श्रम करना होगा। परतन्त्रता से मुक्ति हेतु संघर्ष अनिवार्य है। स्वाधीन होते हुए विषय कषाय से इन्द्रियजन्य आसक्ति से, वासनाओं से, मुक्त होना होगा। आत्मा को निर्लिप्त, शुद्ध बनाना होगा। पर से आजाद, स्व में लीन होना होगा। इसी 'पर' से निर्लिप्त होकर 'स्व' में रमण करने को संयम कहते हैं।

मानव जीवन की एक-एक श्वास पराधीन है। उसका जन्म भी रोते-रोते होता है, पराधीन होकर जीवन भर रोता है वा अन्त समय भी पछतावा रह जाता है। इस क्षण भंगुर लौकिक सम्पदा में ही सुखाभास कर इस मानव पर्याय को खो देता हैं।

प्रकृति प्रदत्त परतन्त्रता पराधीन है, परन्तु उससे मुक्त होना तो 'स्वाधीन'

मनुष्य पर्याय भी प्राप्त कर, जो आत्म दृष्टा नहीं बने, उपक्रम भी न करें, आत्मधर्म से अज्ञात मर जावें वे भाग्यहीन हैं क्योंकि वे जीवित होते हुए भी जीना नहीं सीख सकें। जीवन की वास्तविक कला से परिचित भी नहीं हो सके।

स्वतन्त्रता प्राप्ति हेतु पुरूपार्थ करने वाला ही परतन्त्रता से मुक्त हो सकता है, जो वासना की जंजीरों में जकड़ा हुआ है उसमें ही सदा

सुखाभास करता है उसे पर से मुक्त 'स्व' में लीन होने का भाव आना भी संभव नहीं है।

वासनाओं में कैद मानव पिंजरे में बन्द पक्षी से भी बदतर है क्योंकि कैद पक्षी तो मुक्त होने के लिए छटपटा रहा है। परन्तु मानव वासनाओं में विषय भोगों में ही लिप्त है और छूटने का प्रयास भी नहीं कर रहा है।

यदि आप भी वासनाओं के पिंजरे से मुक्त होना चाहते हैं, आत्मा के सच्चे स्वरूप को जानने के इच्छुक हैं परमात्मा से साक्षात्कार करने की लालसा है, तो इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने का प्रयास कीजिए। संयम धारण कीजिये। इन्द्रिय निग्रह ही संयम है और संयम ही मुक्ति सोपान है।

महत्वाकांक्षी होना मानव स्वभाव है। आकाँक्षाए अंतहीन हैं। इन आँकाक्षाओं की पूर्ति का उपक्रम ही जीवन है जिसने आत्मा के वास्तविक स्वरूप को हमसे भ्रमित कर दिया है। "दिये तले अंधेरा" के समान हम भौतिक सुख साधनों से लिप्त हो गये हैं। आत्मा अन्धकार से आवृत हो गई है। भौतिक सुखों में मग्न हम, उस अन्धकार को मिटा परमात्मा को देख भी नहीं पा रहे हैं।

आत्मज्ञान प्राप्त करना है तो, संयम अंगीकार करना होगा। गन्तव्य मोक्ष है तो दिशा या मार्ग संयम है। संयम बिना दिग्भ्रमित हो आप चतुर्गति भ्रमण करते रहेंगे। नाव है, नाविक है परन्तु समुद्र पार होने के लिए किनारा जानना आनिवार्य है। किनारे जानने के लिए, समुद्र पार होने के लिए मार्ग जानना आवश्यक है तो आत्म बोध के लिए संयम को आत्मसात् करना पहली शर्त है।

जीवन को दिशा बोध संयम से ही संभव है। संयम के अभाव में इन्द्रियाँ विद्रोह करती हैं। पेट को भोजन चाहिये तो रसना को स्वाद, नासिका को सुगन्धता, शरीर को आकर्षक वस्त्र और मानव भी इन सभी की पूर्ति में लिप्त रहता है। पंचेन्द्रियों के वशीभूत होकर आप भौतिक सुखों में भी शान्ति की खोज करते हैं और जितेन्द्रिय को शान्ति स्वयमेव प्राप्त होती है।

एक भिखारी एक कंजूस सेठ के यहाँ पहुंचा। सेठ मकान का छप्पर ठीक कर रहा था। भिखारी ने सेठ को नीचे बुलाया। सेठ नीचे उतरा भिखारी से आने का प्रायोजन पूछा, भिखारी सहजभाव से बोला - "भीख माँग रहा हूँ, कुछ दे दीजिए। सेठ नाराज हुआ। कंजूस जो था। उसने भिखारी को छप्पर पर आने के लिए कहा। जब भिखारी सेठ के पीछे-पीछे छप्पर पर चढ़ गया तो सेठ बोला- मैं कुछ भी नहीं दूंगा। भिखारी निराश चला गया।

सेठ, सेठ था, भिखारी, भिखारी था। सेठ मालिक था तो भिखारी सेवक। परन्तु सेठ ने भिखारी को मित्र समझा नीचे आया। इन्द्रियाँ भी सेवक हैं और मनुष्य मालिक, परन्तु मनुष्य इन्द्रियों का दास बना हुआ है। हमें ऊपर चढ़ना है, इन्द्रियों के चंगुल से छूटना है। संयम धारण कर, हम वास्तविकता को प्राप्त कर सकते हैं।

भगवान महावीर या जिनागम ने हमें क्या दिया?

भगवान महावीर मानव विकास के प्रतीक हैं। मनुष्य भी परमात्मा भगवान महावीर जैसा बन सकता है। तपस्या और साधना का मार्ग परम धाम तक जाता है। प्रत्येक बीज वृक्ष बनता है। जिनागम के अनुसार हम भी बीज हैं। संयम और तप की हंवा, जल से हम विकसित हो सकते हैं। प्रत्येक प्राणी के अंतस् में परमात्मा है और वह परम तत्व को प्राप्त करने की क्षमता रखता है।

भौतिक शरीर में आसक्त मनुष्य वीतराग धर्म से अज्ञात है, 'स्व' से भ्रमित 'पर' में लीन है। इन्द्रिय निग्रह के पुरूषार्थ से ही वीतरागी परमात्मा प्रगट होगा।

संसार के सृष्टा भगवान नहीं हैं, निज स्वरूप का ज्ञाता ही भगवान है। भगवान महावीर ने संसार नहीं बनाया। कतिपय दार्शनिकों की मान्यता है कि प्रारम्भ में सृष्टि शून्य थी, ईश्वर ने सृष्टि की रचना की, मनुष्य और प्राणी बनाये और हम सब उसकी संतान हैं। यदि यह सत्य है तो संसार की सृष्टि के पूर्व क्या था? ईश्वर को किसने बनाया था? क्या संसार रचना हेतु ईश्वर बैचेन था? यदि हाँ तो ईश्वर के अन्तरंग में भी वासना विद्यमान थी।

भगवान महावीर का कथन है कि "अहं करोमि इति" अहंकार करने वाला आत्मसाधक परमात्मा हो ही नहीं सकता। सृष्टि का अस्तित्व अनादि है जिसका कोई कर्ता नहीं है। मात्र रूपान्तरण होता रहता है। शिशु ने जन्म लिया, बालक, युवक, वृद्ध और मृत्यु रूप में परिवर्तित

हो गया। पुनर्जन्म होकर नया शरीर धारण कर लिया। परन्तु आत्मा सदा अजर और अमर है। भौतिक वस्तुओं का रूपान्तरण ही संसार है। यही सृष्टि है जो चक्रवत् परिवर्तनशील है अतः उसका कोई कर्ता नहीं है।

यदि ईश्वर संसार का निर्माता है? सर्वशक्तिमान् और सर्वज्ञ है? तो अर्जुन के रथ में कुरूक्षेत्र में किस प्रयोजन से बैठा था? नन्द ग्राम के ग्वाले के शरीर में क्या कर रहा था? राम सर्वज्ञ होकर भी सीता के शोक में क्यों संतप्त रहा? सीता की जानकारी दूसरों से क्यों पूछता रहा? सर्वशक्तिमान होकर भी बलि राजा से याचना करने क्यों गया? दानवों की सृष्टि क्यों की? और फिर उनका वध करने क्यों गया? सर्वज्ञ होते हुए भी रूधिर, मांस, मज्जा, हड्डी आदि से दूषित गर्भ से जन्म क्यों लिया?

वास्तव में परमात्मा जन्म, मृत्यु से युक्त नहीं, कुमारावस्था, वृद्धवस्था जैसे परिवर्तनों से रहित है, पुनर्जन्म से मुक्त है! राग द्वेष रहित वीतरागी है फिर सृष्टि रचना की वासना उसमें हो ही नहीं सकती।

परमात्मा क्या है?

शुद्ध अव्याबाध, अतीन्द्रिय, अनुपम, पुण्य-पाप रहित, मन रहित, नित्य अचल, निरालम्ब इस सब तत्वों को जो उपलब्ध हो गया वह परमात्मा है।

जिसका सुख अबाध हो निरन्तर चिरन्तन सुख में लीन अव्याबाध कहलाता है। देह रहित को इन्द्रियातीत कहते है। जैसा कभी देखा, सुना या जाना नहीं ऐसा अनुपम, अद्वितीय या अपूर्व है परमात्मा।

गहन पावनता का उद्भाव और सदा मलिनता से रहित पुनरागम रहित निर्वाण प्राप्त ही परमात्मा है।

"ण वि मरणं, ण वि सुक्खं, ण वि पीड़ा नैव णिज्जेद बाहं।
ण वि मरणं, ण वि जगणं, तत्थेव य होई ठिकाणं।।"

जहाँ दुःख न हो, सुख, पीड़ा, बाधा और मरण न हो और जो जन्म और निर्वाण से मुक्त हों।

निर्वाण का अधिकारी संयमधारी जीव ही होता है। सुख और दुःख से रहित अवस्था ही निर्वाण है। दुःख या सुख का भोग संसार है उनका संघर्ष भी संसार है। ज्ञायक स्वभावी चैतन्य आत्मा, कर्म वा नौ कर्म-.........आदि रहित अवस्था ही निर्वाण है।

पंचेन्द्रियविषयों का त्याग ही संयम है। संयमधारी जीव ही निर्विकल्प समाधि को को धारण करता है और निर्विकल्प ध्यान से ही निर्वाण प्राप्त होता है।

राग द्वेष से रहित, बाह्य परिवर्तनों के प्रभाव से मुक्त अन्तर्गृह में संयमधारी प्रवेश करता है। क्षुधा-तृषा बाधाओं से मुक्त, शान्त एवं गम्भीर वातावरण से युक्त अन्तरात्मा महासमुद्र के तल के समान निश्चल, निराकुल एवं निर्बाध अंतरात्मा ही संयमी का निवास होता है।

संयम का अर्थ है जागरूक रहना। काम, क्रोध, माया, लोभ रूपी कुत्तों से आत्मा को बचाना। विषय-कषाय ही मानव को दिग्भ्रमित करतीं हैं

"साफल्य पूर्ण जीवन यदि तुम्हें बनाना,
त्यागों असंयम सदा ही उसे न बुलाना,
धारों हृदय में अपने संयम शील बाना,
तुमको पड़े न भव में फिर से आना जाना ।।१।।

यदि तुम नर से नारायण बनना चाहते हो तो त्याग दो अपनी सभी वासनाओं को! जन्म मरण का खेल तभी खत्म होगा जब हम संयम को अंगीकार करेंगे।

"अनन्तों बार मरण ने मरघट में मेरी सेज बिछाई,
अनन्तों बार मरण को देख मेरी आँख भर आई,
अनन्तो बार कफन ने मेरा श्रृंगार किया,
किन्तु खुशी जीवन में क्षण भर को न आई।।"

हम पर में आसक्त होकर जन्म मरण के चक्कर में जिये चले जा रहे है। जिसे आज हम अपना प्रिय मानते है वह कल हमसे विमुक्त हो जाता है। यह सब असंयम का इन्द्रजाल है जो हमें पीड़ित कर रहा

है। नर देह पाकर भी हमने संयम को नहीं अपनाया असंयमी बने रहे, तो चिंतामणि रत्न पाकर भी हमने पत्थर समझकर उसे अनदेखा कर दिया।

भगवान महावीर कहते है कि इस देह के मायावी सौंदर्य में, क्या ढूंढते हो? यदि कुछ पाना चाहते हो तो आत्मा में खोजो।

''तन रतन संग यौवन पाकर
जन्म मरण संग करता रहा क्रीड़ा।
आज संयोग कल हुआ वियोग
यही जीवन में देता रहा पीड़ा।
किन्तु काम वासना में अन्धा बन
मुख उनसे मैने कभी न मोड़ा''

वासनाएं अमर बेल के समान आजीवन मानव को चूसती रहती हैं; शोषण करती हैं फिर भी वास्तविकता से अज्ञानी मनुष्य उनमें ही सुख मानता है। शिकारी द्वारा फैलाया गया जाल पक्षियों के पीछे नहीं दौड़ता पक्षी स्वयं जाल में फँसकर जीवन लीला समाप्त कर देते हैं।

''उजाड़ चुका जिन्दगी बहार में,
फिर भी उम्मीद कर, बसन्त बहार की,
मरूस्थली मरीचिका सुधामयी लगी,
अंगार से मत उम्मीद कर शीतल बहार की''।

हम भोगों को भोग कर हीं शान्ति की आशा कर रहे हैं। कोयले को घिस-घिस कर सफेदी की प्रतीक्षा कर रहे हैं।

हम बाह्य में ही जी रहे हैं कृत्रिमता को अपना रहे हैं। एक बार अन्तरंग झाँक कर देंखे, तो परम स्वभाव से परिचित अमरत्व को प्राप्त कर लें। संयम ही बहिरंग से अंतरंग को पहुँचाने वाला मार्ग है।

वासनाएँ ही आत्मा को आवृत्त किये हैं। दिव्य ज्योति को आत्मा को वासना रूपी राख ने प्रकाशहीन कर दिया है। आत्मा का द्वार संयम की चाबी से खुलेगा।

संयम दो प्रकार का है। आचार्य समन्तभद्र ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार में स्पष्ट उल्लेख किया है -

''सकलं विकलं चरणं, तत्सकलं सर्वसंग विरतानाम्।
अनगाराणां विकलं सागाराणां ससंनागाम् ।।३-५०।।

गृहस्थाश्रम को हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह का एक देश त्याग देश चरित्र है। तथा गृहस्थाश्रम को त्याग कर नग्न दिगम्बर अवस्था स्वीकार कर अन्तरंग और वहिरंग परिग्रह का पूर्णतया त्याग पंच महाव्रत स्वीकार करना सफल चरित्र है।

'पर' के प्रति राग, विषयों के प्रति आसक्ति, आत्मबोध होने में व्यवधान है। राग और परिग्रह अन्योन्याश्रित है।

''किध तम्हि णत्थि मुच्छा, आरंभो वा असंजमो तस्स।
तध परदव्वम्मि रदो, कधमप्पाणं पसाधयदि ।।३-२१।। 'प्रवचनसार'

परिग्रह 'पर' में होता है। 'पर' में आसक्ति वहिगर्मन में कारण है। अतः वहिगर्मन से विमुख अंतगर्मन की इच्छा हो, तो परिग्रह त्यागना होगा संयम धारण करना होगा तभी बाहर की ओर बहती हुई धारा की दिशा को अंतर्मुख की ओर बदला जा सकता है। आत्म-विमुख मानव पीड़ा संताप में ही सुखाभास का अनुभव कर, नीति-अनीति, हेय-उपादेय का विवेक खो देता है। कोयला, दूध में धोने से दूध को ही काला करता है, वासनाएँ भी आत्मा को अपवित्र बनातीं हैं।

मानव का जन्म माता के रज और पिता के वीर्य से होता है। माता-पिता की काम-वासना का परिणाम स्वरूप ही उसकी उत्पत्ति है। परन्तु कमल का जन्म स्थान भी कीचड़ है, जब कमल कीचड़ से भिन्न सुशोभित, सुगन्धित रह सकता है तो मानव क्यों विषय वासना रूपी पंक से मुक्त आत्मोन्मुखी आत्मदृष्टा नहीं बन सकता। सूर्य का प्रतिबिम्ब काँच पर पड़े तो उसकी ज्योति चमकदार किरणें बिखेरती हैं। गाड़ी का चालक गाड़ी में ब्रेक लगाकर उसे वश में कर लेता है उसी प्रकार मन को वश में करके, विषय वासनाओं को वश में किया जाना सम्भव है।

कर्म का जीव से अनादिकाल से सम्बन्ध है। कर्मोदय होने से भौतिक सम्पदाएं प्राप्त होती हैं और पुण्य फल देता है और कर्मोदय के अभाव में वियोग भी हो जाता है। संयोग राग का और वियोग द्वेष का कारण होता है। राग और द्वेष का त्याग ही सांसारिकता से मुक्ति प्रदान करता है। ब्राह्य पदार्थों का संग्रह जारी रहे और निर्ममत्व भाव प्रदर्शित करे तो नासमझी ही होगी। शरीर भोगों में लिप्त रहे और आत्मा निस्पृह रहे यह कदापि सम्भव नहीं हैं।

आपका शरीर वाहन है, मन सारथी है और आत्मा मालिक है। मालिक के संकेत पर ही वाहन को सारथी गन्तव्य स्थान तक पहुँचा देता है। मालिक के अभाव में सारथी कदापि, भ्रमित हो सकता है। अतः संयम की टिकिट लेकर आप शिवधाम जा सकते हैं। अनन्तानन्त जीवों ने संयम के टिकिट से ही शिवधाम अर्थात् मोक्ष प्राप्त किया है।

जिस 'मनुष्य-शरीर' से हम मोक्षरूपी हीरे खरीद सकते हैं उसी से कंकड़ पत्थर खरीद रहे हैं।

शरीर राम को मिला था और रावण को भी। राम ने देह का सदुपयोग कर मोक्ष प्राप्त किया तो रावण ने विषय वासना में लिप्त कर नरक प्राप्त किया।

हमारे वाहन में पंचेन्द्रिय घोड़े जुते हुए हैं। अब वाहन घोड़ों के प्रभाव में दौड़ता है। या हम घोड़ों को गन्तव्य स्थान तक पहुँचने के लिए बाध्य करते हैं। नियन्त्तण के अभाव में प्रत्येक घोड़ा स्वच्छन्द होकर वाहन को खींचेगा। अधिक 'डनलप' के गद्दे में सोने से स्पर्शन्द्रिय निस्तेज वा आलसी हो जाती है। अधिक सुगन्ध मिलने से नासा शक्ति मन्द पड़ जाती है। भोजन के अधिक सेवन से पेट गड़बड़ा जाता है और अनेक बीमारियों का कारण बनता है। एक मात्र संयम की लगाम से सब कुछ नियन्त्रित और सुव्यवस्थित हो जाता है।

काया रूपी बग्घी से आप शिवपुर पहुँच सकते हैं। मार्ग में व्यवधान सम्भव है। कंटकाकीर्ण मार्ग मिलें, भयंकर जंगल मिलें, यौवन रूपी कंटीली झाड़ियाँ और मोहक फूलों की क्यारियाँ मिलें। जिसने निर्द्वन्द मार्ग पार कर लिया वह मोक्ष पहुंच जायेगा। भगवान महावीर ने इनकी

और निहारा भी नहीं और अपना मार्ग सरलता से पार कर लिया।

प्रतिष्ठा बनाने में समय लगता है और बिगाड़ने में एक पल काफी होता है। रावण जैसा वासनाओं में उलझ गया तो युगों तक अपशय का कारण बना। कपड़ा सिलवाने में समय लगता है फाड़ने में नहीं। मकान बनाने में जितना समय लगता है तोड़ने में नहीं। अतः संयम धारण कीजिये, वासनाओं का त्याग कर रागद्वेष से रहित आत्म दृष्टा बनिये। यौवन रूप कंटकीर्ण मार्ग में अवरूद्ध हुए बिना आगे बढ़िये! मोक्ष आपको सुलभ होगा।

जिनवाणी सदा उनके गुण गाती है जिनकी एक-एक श्वास में संयम हो। शोलों को पीकर भी उनके मुख से अमृतमयी वाणी झरती है।

एक राजा की सेज उसका नौकर नित्य नये पुष्पों से सजाता था। रोज विभिन्न प्रकार के फूल भिन्न-भिन्न सुगन्ध से युक्त उसकी सेज की शोभा बढ़ाते थे। नौकर को कदाचित् भाव आया वह राजा के लिए रोज सेज सजाता है, राजा उसका उपभोग करता है। कभी उसे भी उस आनन्द का उपभोग करना चाहिए। अतः एक दिन वह उस सेज पर लेट गया और सुगन्धित फूलों के स्पर्श से उसकी नींद लग गई। राजा आया और नौकर को सोया हुआ देखकर क्रोधित हुआ और बेत से उसकी पिटाई की। एक दिन सोने पर नौकर को इतनी मार खानी पड़ी फिर रोज सोने पर क्या हाल होगा?

पंचेन्द्रियों के भोग में मानव को सच्चा सुख कैसे मिल सकता है। सीता रानी ने सुवर्ण मृग प्राप्त करने की इच्छा की तो रावण की अशोक वाटिका में रहना पड़ा। रावण ने सीता के अपहरण की इच्छा की तो नरक जाना पड़ा। अग्नि के स्पर्श से शीतलता कैस सम्भव है। अतः भोगों में लिप्त आप शान्ति कैसे प्राप्त कर सकते हैं?

एक पत्नि ने अपने पति से धर्म-कर्म और संयम धारण करने के लिये कहा। जवाब में पति महोदय ने कहा मन्दिर जाना, देव दर्शन, व्रत पालन आदि दिखावा है। भावों से संयम पालन करने की बात कही। पर्याय अशुद्ध हो सकती है द्रव्य तो त्रैकालिव शुद्ध है। अतः उन्होनें बाह्य संयम को निरर्थक बताया। पत्नी मौन रही और अवसर की प्रतीक्षा

करने लगी।

एकाएक पति बीमार पड़े। उन्होंने डॉक्टर बुलवाया। डाक्टर आये उन्हें देखा और एक दवाई का पर्चा लिख दिया। पति महोदय ने पत्नी से शीघ्र दवाई लाने के लिए कहा। अधिक कष्ट जो उन्हें हो रहा था।

पत्नी बोली आत्मा जो त्रैकालिक शुद्ध है, कुछ खाती नहीं, पीती नहीं, सच्चिदानन्द है। यह दवाई का पर्चा पढ़ लो रोग दूर हो जायेगा। पति महोदय नाराज हुए। पत्नी की मजाक पर दुखी हुए और शीघ्र दवाई लाने हेतु कहा।

पत्नी को इसी अवसर की प्रतिक्षा भी अतः बोली- तुम तो जिन्दगी भर अपने शरीर से मजाक कर रहे हो। वेदनीय कर्म का उदय है चला जायेगा। भाव से काम चलाइये। दवाई खाने की क्या जरूरत है? **पति महोदय को अब समझ में आया कि भावों के साथ अपनाया गया संयम ही वास्तव में संयम है।**

मात्र शास्त्र ज्ञान से आत्मा परमात्मा नहीं बन सकती। शरीर की, प्यास पानी के बारे में सोचने से नहीं बुझती, पानी पीना ही पड़ेगा। आत्मा शुद्ध है, बुद्ध है कहने मात्र से परमात्मा नहीं बनेगी उसे परमात्मा बनने के लिए संयम धारण करना ही पड़ेगा।

बुद्धि पूर्वक संग्रह को विवेक पूर्वक त्यागना होगा। भगवान महावीर की वीतरागता सतत् साधना का ही प्रतिफल थी। शास्त्र तो मार्ग दर्शक है, मील के पत्थर है। वाहन तो उस दिशा में ले जाना पड़ेगा। तब आप मंजिल पर पहुंचेंगे। यह मार्ग गमन ही संयम है।

वाहन से मील के पत्थर ध्यान पूर्वक देखते हुए आगे बढ़ना और मंजिल पर पहुँचना सम्भव है। मील का पत्थर 'मंजिल' नहीं है। आगम का ज्ञान मात्र मोक्ष प्राप्ति का साधन नहीं है। आगमानुसार संयम का मार्ग अपनाना ही मोक्ष मार्ग है। संयम पालन द्रव्य और भाव दोनों की सहायता से ही होगा।

एक राजा अपने सैनिक की सेवा से काफी प्रभावित हुए। प्रसन्न होकर उसे मुँह मांगा इनाम देने के लिए कहा। सैनिक संकोच में कुछ

न मांग सका। मौन खड़ा रहा। राजा ने आश्वासन दिया कि वह जो मांगेगा उसे मिलेगा। अन्त में सैनिक ने निवेदन किया कि उसे धन सम्पति, उपभोग सामग्री नहीं आत्मा की शान्ति चाहिए। राजा परेशान हो गया। जो शान्ति उसे नहीं मिली वह सैनिक को कहां से और कैसे लाकर दे सकता है? फिर उसने सैनिक को प्रतीक्षा करने के लिए कहा।

काफी सोच विचार के बाद राजा उसे एक तपस्वी साधु के पास ले गया और उनसे सैनिक को शान्ति प्रदान करने हेतु निवेदन किया। सुनकर साधु महात्मा भी मौन हो गये। क्योंकि शान्ति कोई वस्तु नहीं है जो उठाकर दे दी जाये। शान्ति तो आत्मा की अनुभूति है जिसे स्वयं के पुरूषार्थ से पाया जा सकता है। दूसरों से प्राप्त वस्तु अस्थाई होती है, खो सकती है, उसे दूसरा चुरा सकता है, अपहरण कर सकता है, बाँट सकता है और नष्ट भी कर सकता है परन्तु स्वयं के पुरूषार्थ से उपार्जित् शान्ति सदा स्थायी होती है।

''आचरण को अपनाते ही,
मंजिल को करीब पाया।
ध्यान के द्वार खुले तो,
आलोक उतर आया।।
झर गये जब कर्म,
एक - एक करके।
स्वयं में स्वयं को
तब ही निरख पाया''।।

त्याग के बिना, आसक्ति के बिना संयम को अंगीकार करना सम्भव नहीं है।

''संयम की डगर हो, त्याग की बात हो,
हर सुबह और शाम विवेक के साथ हो।
कल हलाहल पियाथामैने जरूर,
आज संयम के साथ अमृत की बरसात हो।''

अतः बन्धुओं ! मेरा साथ दो! आत्मा को विषय वासनाओं से मुक्त कर अनन्त यात्रा प्रारंभ करो! आखिर कब तक कुमार्ग का सेवन

करोगे! अन्धकार में रहोगे? एक बार भी अनन्त यात्रा के मार्ग पर बढ़ गये तो जीवन प्रकाशमय हो जायेगा। बाह्य का पुष्प तो खिलकर मुर्झाता है अन्तरंग का फूल यदि एक बार खिल गया तो सदा ही खिला रहेगा।

मन-वचन-काय को नियन्त्रित करना संयम है। निरूद्देश्य गमागमन का निरोध ही संयम है। दया का भाव और क्रोध का अभाव संयम है। संयम के पालन से ही, सम्यक दर्शन, ज्ञान और चरित्र का विकास होता है।

पण्डित टोड़रमलजी मोक्ष मार्ग प्रकाशक में लिखते हैं—

"चतुर्थ गुणस्थान में मोक्षमार्ग उपचार से कहा गया है जब तक संयम का पालन नहीं हो तब तक मोक्ष मार्गी नहीं बन सकते।"

आप गन्तव्य स्थान तक की टिकिट ले ली है परन्तु यदि आप वाहन में नहीं बैठे तो आप मंजिल पर पहुंचेंगे कैसे? अर्थात् टिकिट लेने के साथ गाड़ी में बैठने का पुरूपार्थ आपको करना ही होगा।

गान्धीजी ने "गाँधी विचार दोहन" नामक पुस्तक में लिखा है **"बहुत अधिक ज्ञान की आवश्यकता नहीं है। संयम के साथ अल्पज्ञान भी मूल्यवान है। वास्तव में संयमहीन जीवन का कोई मूल्य नहीं है। जो विद्वत्ता के साथ असंयम युक्त है उसका जीवन व्यर्थ है।"**

कार्तिकेयानुप्रेक्षा में लिखा है कि उत्तम संयम धर्म और मनुष्य भव का मिलना बहुत मुश्किल है।

एलाचार्य विद्यानन्दजी ने गुरुवाणी में लिखा है कि लोक में कोई स्वेच्छाचार करता है तो राजा या शासन उसे दण्ड देता है। जब स्वेच्छाचार के लिए मर्यादारहित आचरण भी दण्ड का भागी है तो पारमार्थिक लोक में स्वेच्छाचार के लिए कितना और कैसा दण्ड होना चाहिए? **जब लौकिक जीवन में संयम का विधान है तो आत्मानुशासन में संयम का उन्मूलन कौन कर सकता है?**

द्वितीय विश्व युद्ध में एक सैनिक बहुत अधिक घायल हो गया। मरणासन्न अवस्था में पहुँच गया अतः अपने मित्र सैनिक से बोला कि "मेरा समय निकट आ गया है। अधिक समय अब मैं जीवित नहीं रह सकूँगा। तुमने जीवन भर कुकर्म किये हैं। तुम्हारी डायरी तुम्हारे अपराधों की कथा सुनाती है। पुलिस तुम्हारे पीछे है यदि तुम सुधरना भी चाहो तो तुम्हारे पिछले कुकर्म ही तुम्हें नहीं छोड़ेंगे। अतः अब तुम मेरी डायरी और नम्बर ले लो और अपना डायरी और नम्बर मुझे दे दो। मेरे नाम से जीवित रह, पदक और प्रशस्ति पत्र प्राप्त करोगे। सजा और फांसी से भी बच जाओगे।"

मित्र की आँखे खुल गईं। डायरी और नम्बर बदलने मात्र से वह सच्चा नहीं बनना चाहता था। दूसरे, उसकी बात मान भी ले स्वयं को, अपनी आत्मा को वह कैसे धोखा दे सकता था! आत्मवचन उसने अनुचित मानकर उसने वास्तविक सच्चा और ईमानदार अहिंसक जीवन जीने की ठान ली।

बन्धुओं! जब डायरी और नम्बर बदलने से व्यक्ति नहीं बदल सके तो काया के बदलने से कर्म का स्थानान्तरण कैसे संभव है।

जीवन सुमन पोकर तुम्हें पुष्पहार बनाना है। वृक्षारोपण करके भी पुष्प फल उत्पन्न करने की क्षमता पैदा नहीं कर सके। **पुष्प फल रहित बाँस का वृक्ष होता है। असंयमी पुरूष बांस के वृक्ष के ही समान है।**

जो अन्तरंग में झाँकने लगता है, बाह्य से शून्य हो जाता है, आत्मसृजन में लीन, 'पर' से उदास हो जाता है। शरीर को वह आत्मा के पीछे लगा देता है। वह अनासक्त योगी है, बोध, . चैतंन्य; प्रकाशवान परमात्मा बनने का उपक्रमी है।

जो शरीर के पीछे भागता है, इन्द्रियों की गुलामी करता है. बाह्य के प्रति आसक्त भोगी है।

संयमी शरीर और आत्मा में भेद जानता है। वह उस लक्ष्मण रेखा से भली भांति परिचित है कि शरीर का अंत और आत्मा का क्षेत्र कहाँ से शुरू होता है। संयमी आयु सीमा में बंधा नहीं है। आत्म दृष्टा

युवक भी हो सकता है और वृद्ध का ६० और ७० वर्ष में भी पुनर्विवाह हो सकता है। अधिक आयु ज्ञान और अनुभव का भी थर्मामीटर नहीं है। **संयम उम्र की नहीं, वासनाओं के त्याग की अपेक्षा करता है।**

संयम के अभाव में सांसारिक कार्य भी संभव नहीं होते। शाला में नाम लिखाते समय चारित्रिक प्रमाण पत्र की आवश्यकता होती है। अधिकारी महोदय से मिलने के लिए विनय गुण आवश्यक है। सड़क पर चलने के लिए यातायात नियमों का पालन जरूरी है तो सिद्धालय में प्रवेश के लिए भी तो प्रमाण पत्र चाहिये।

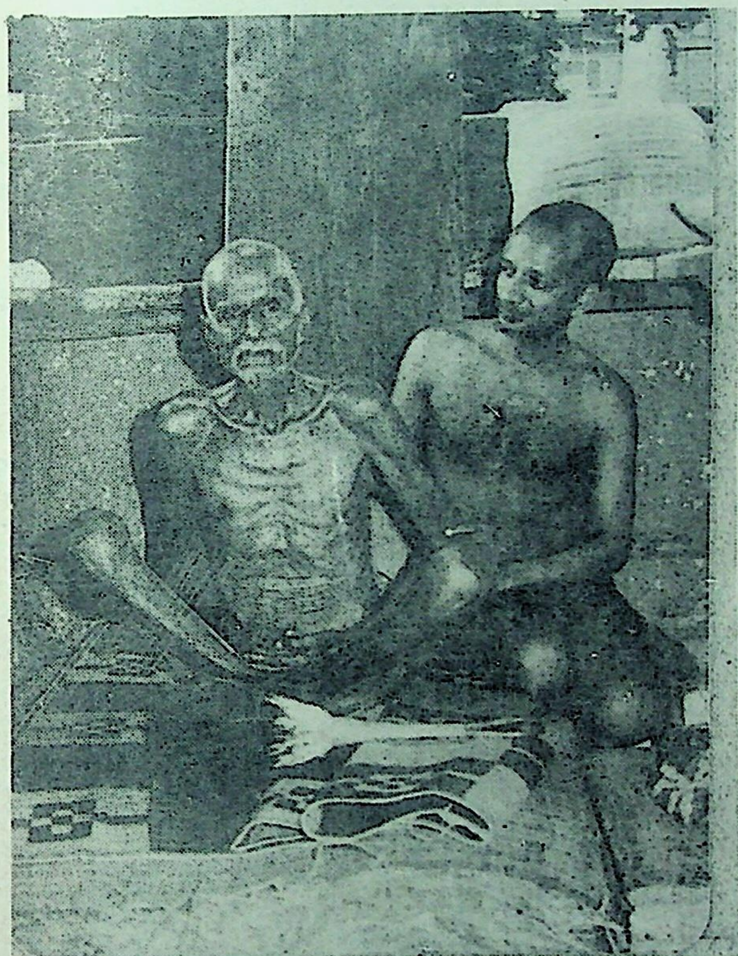
संयम मानव की अमूल्य निधि है जिसे धारण करने मात्र से वह मोक्ष जा सकता है। देवताओं को स्वर्गलोक में वह संभव नहीं है। देव संयम पालन के लिए तरसते हैं। भगवान की पालकी उठाने का सौभाग्य संयमी मनुष्य को ही मिलता है। **इन्द्र तो रो-रो कर विलाप करता है कि मेरा इन्द्रत्व मुझसे ले लो, परन्तु भगवान की पालकी स्पर्श का भी सौभाग्य मुझे दे दो।**

आज हम भौतिक सुखों में व्यस्त हैं। जीवन का एक-एक पल यंत्रवत् हो गया है। हम जी नहीं रहे हैं जिलाया जा रहा है। हम चल नहीं रहे हैं वास्तव में चलना उद्देश्य और दिशा की निश्चितता इंगित करता है। हम तो दिग्भ्रमित हो घास के तिनके के समान नदी के प्रवाह में कहीं भी वहते चले जा रहे हैं।

असंख्य लोग जन्म लेते हैं, खाते-पीते बड़े होते हैं; क्षुधा तृषा की शान्ति को ही जीवन समझते हैं। वासनाओं की शान्ति, इन्द्रिय सुखों की तुष्टि में ही जीवन का सार समझते हैं। यही उनके जीवन का क्रम है। यह दौड़ अन्तिम श्वॉस तक अबाध जारी रहती है और जब बन्द होती है तो पुनर्जन्म के लिए मृत्यु ही उसे अपने आगोश में छिपा लेती है।

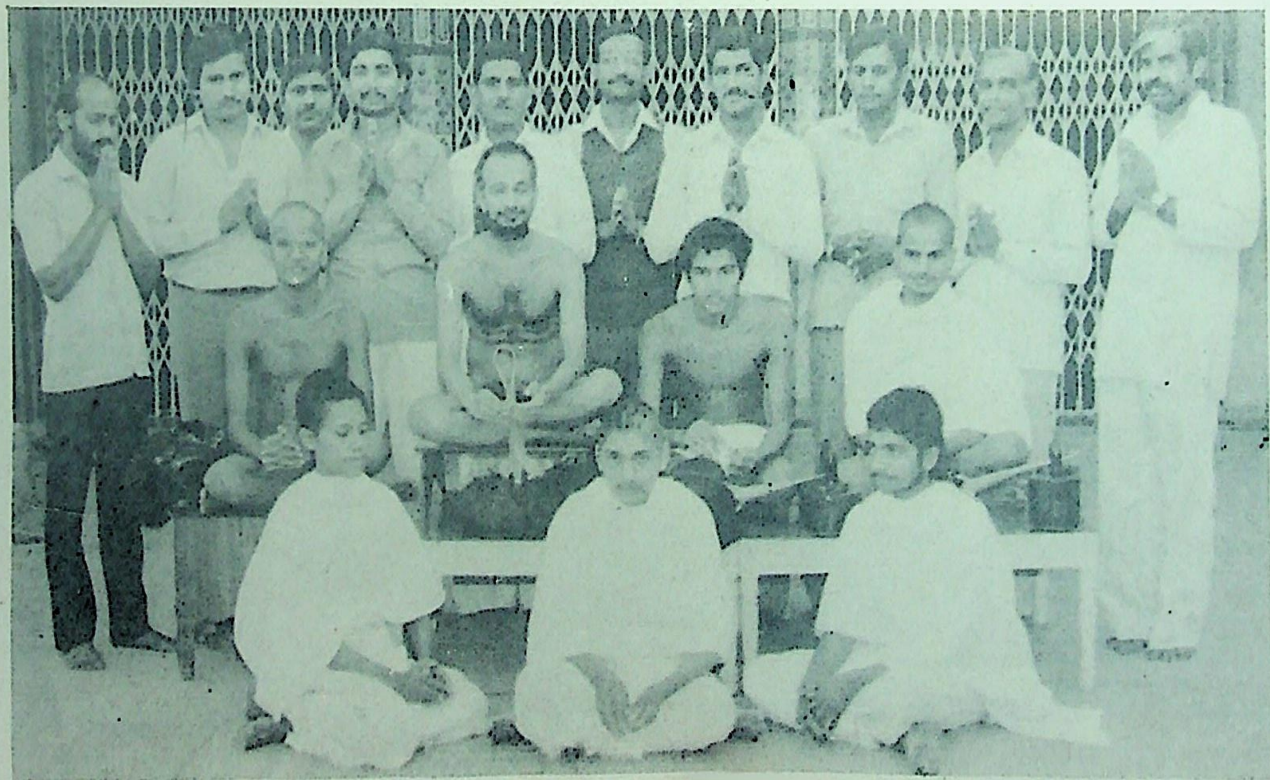
अतः मानव पर्याय को सार्थक करना है तो संयम धारण करो, विषय भोगों का त्याग करो। इन्द्रिय निग्रह करो! पर से उदास हो 'स्व' में-लीन हो जाओ। पर -मुखान्वेषी न बन आत्मदृष्टा बनों, बहिरंग से मुक्त और अंतरंग से युक्त बनों। तभी तुम्हारी आत्मा परमात्मा बनेगी। **परमात्मा के दर्शन से, परम तत्व के साक्षात्कार से ही तुम अनन्त शान्ति के अधिकारी होगे और यही तुम्हारे जीवन की सार्थकता है।**

उत्तम तप



आचार्य श्री 108 पुष्पदन्तसागरजी महाराज के साथ समाधि पूर्व के क्षण समाधिगुप्त महाराजजी के ।

आचार्य श्री के वर्षायोग एवं साहित्य रथ के प्रभावक
युवक सारथियों का समूह चित्र



७. उत्तम तप धर्म

जिस प्रकार पथिक पाथेय की प्राप्ति के लिए मार्ग अपनाता है। वह मार्ग चाहे सुगम हो या कंटकार्कीण, उसकी अपेक्षा किये वह बढ़ता चला जाता है, उसी तरह आत्मा, परमात्मा की प्राप्ति के लिए तप पथ पर चलती जाती है। तप पंथ की चर्चा मैं आज आपसे कर रहा हूं। आज हर महान आत्मा जो परमात्मा बनी है उन्होंने सम्यक्त तप का आलम्बन ले तपस्या के माध्यम से आराधना की है। तपस्या का अर्थ है- सांसारिक सुखों भोगों को तिलांजलि दे देना क्योंकि सांसारिक सुख कुछ नहीं है, आत्मिक सुख ही सब कुछ है। त्रिवेणी संगम तीर्थ बन जाता है उसी तरह **अहिंसा संयम एवं तप के त्रिवेणी संगम से आत्मा पुनीत बन जाती है।** तपश्चरण के अभाव में आत्मा की उपलब्धि नहीं हो सकती। अतः आत्मा का विकास, आत्मा की उपलब्धि अहिंसा, संयम एवं तप की एकता में निहित है। विश्व के इतिहास में ऐसा कोई अपवादी कामी-भोगी मानव नहीं है जिसने तपश्चरण के अभाव में आत्मा की उपलब्धि की हो। साथ ही ऐसा भी अपवाद नहीं है जिसने तपश्चरण अपनाया हो, सम्यक् तप अपनाया हो और आत्मा की उपलब्धि न हुई हो। **समस्त कर्मों को नष्ट करने का सामर्थ्य तप में है।**

प्रश्न है- सम्यक् तप क्या है? "सम्यक् तप का अर्थ है सच्चा तप।" अर्थात् "देव, शास्त्र, गुरू पर अंतरग से श्रध्दान कर अन्तरंग बहिरंग परिग्रह का पूर्णतया त्याग करके जो साधना की जाती है- उसे सम्यक् तप कहते हैं।" आत्मा के निकट जाने का मार्ग देव, शास्त्र, गुरू है। उनके निकट जाना, आत्मा के निकट जाना है। पंचेन्द्रियों के विषयों का पूर्ण त्याग ही तपस्या है।

भगवान महावीर की निर्भीक घोषणा है यह संसारी-प्राणी कीचड़ के समान उत्पन्न होता है, किन्तु कीचड़ सदृश्य समाप्त होना मानव की नियति नहीं है। **पंक से पंकज बनना उसका स्वभाव है। कमल बनने के भावों को जन्म देना, तद्रूप आचरण में संलग्न होना भी उसका स्वभाव है। उत्तम तप धर्म की आराधना करना ही तप को स्वीकारना है।** जिस प्रकार तिल को बिना पीड़ित किये तेल की प्राप्ति नहीं होती उस प्रकार, कर्ममल से मुक्त होने के लिए आत्मा को

तपाना आवश्यक है। इसलिए तप करने वाले को तपस्वी कहा गया है। जो तप से भरा है वह तपस्वी है किन्तु **वास्तव में बात ऐसी नहीं है, तपस्वी जितना शीतल होता है, उतना दूसरा कोई नहीं।**

वर्तमान से ढ़ाई हजार वर्ष पूर्व भगवान महावीर ने घोषणा की थी कि सूर्य अपने केन्द्र स्थल में शीतल है। किन्तु, विज्ञान मानता था कि सूर्य ज्वालयमान अग्नि पिंड है। वहां मात्र उष्णता ही उष्णता है, परन्तु विज्ञान ने भी आज सिध्द कर दिया कि सूर्य अपने केन्द्र में शीतल है। इसका कारण यह है कि अग्नि पुंज के संतुलन बनाये रखने के लिए सूर्य का केन्द्र स्थल पर शीतल होना अति आवश्यक है। अन्यथा सन्तुलन बिगड़ जायेगा। कुछ इसी तरह तपस्वी जीवन होता है- चारों ओर से वह तप्त होता है ताकि आत्मा के चारों ओर लगा हुआ कर्म-मल जलकर समाप्त हो जाये।

तपस्वी स्वयं के केन्द्र पर शीतलता का अनुभव करता है। तप से परिपूरित व्यक्तित्व के अन्दर त्याग की शीतलता जितनी अधिक होगी उतनी अन्यत्र नहीं मिल सकती। जैसे— आपने देखा होगा कि कभी-कभी चक्राकार ब वण्ड़र उठा करता है, उसके चारों ओर धूल एवं रेत के कण घूमते हैं। बावण्ड़र चारों ओर होता है किन्तु, केन्द्र स्थल धूल रहित होता है— उसी प्रकार सूर्य भी केन्द्र बिन्दु पर शीतल होता है। आत्मस्थ-तपस्वी ही परम शीतलता का अनुभव करते हैं। इसलिए भगवान महावीर ने परम आत्मिक शीतलता की उपलब्धि के लिए तप की ओर इंगित किया है। तृषित आत्मा को तृप्त, संत्रस्त आत्मा को संतृप्त करने के लिए तपश्चरण में उष्ण तत्व के भाव हैं, ऐसा नहीं है। कर्मों को जलाने की अपेक्षा से उसे तप कहते है। मोह से रहित, वासना से रहित, कर्मों की जलन से आत्मा को शांति का अनुभव होता है। कर्मों की जलन से आत्मा बच जाती है, इसलिए तप को मेधमाला की उपमा से सम्बोधित किया गया है। तप आत्मा को कर्मों की उष्मा से बचाता है, इसलिए आत्मा को शीतलता का अनुभव होता है। किन्तु यह बात स्मरणीय है कि तप की सिध्दि से हटकर रंच मात्र भी उसकी अभिलाषा नहीं करते और आत्म संशोधन में लग जाते हैं। तप का अर्थ है- ''आत्मा का संशोधन करना।'' द्रव्य संग्रह में ''ब्रह्मदेव सूरी'' ने तप की परिभाषा दी है— इन्द्रिय निरोधः इति तपः। अर्थात् ''इन्द्रिय विषयों का निग्रह **करना ही तप है।''** ''कर्म क्षयार्थं तप्यते तपः'' अर्थात् कर्मों का क्षय **करना ही तप है।''** ''इच्छा निरोधस्तपः'' अर्थात् इच्छाओं को रोकना

या मन को वश में करना अथवा विषयों के प्रति इन्द्रिय ज्ञान को रोकना तप है। यह भी उत्तम विशेषण से अलंकृत है। इससे स्पष्ट परिलक्षित होता है कि तप, यश, कीर्ति, पूजा, प्रख्याति, लाभ आदि वांछा से रहित होता है। तप आत्मा का स्वभाव है। इसलिए इसे धर्म की कोटि में रखा गया है। आचार्यों ने तप के दो भेद किये हैं- (१) अन्तरंग तप (२) बहिरंग तप।

अन्तरंग तप :- जिसका सम्बन्ध मात्र आत्मा के अन्तरंग भावों से होता है। इसे सम्यक् दृष्टि ही आत्म निहित कर सकता है। सम्यक 'अन्तर-आत्मा' वही है जो जीवन की आकांक्षा से भरी है। जिसकी समस्त इन्द्रियां अन्दर की ओर गमन कर रहीं हैं। जो भोगों से ऊपर उठ स्वयं में स्वयं का अनुभव कर रहा है- वही 'अन्तर-आत्मा' है। जिसकी समस्त इन्द्रियां बाहर की ओर गमन कर रही हैं, जो वासना में आपाद-कण्ठ डूबा है जिसकी आंखों में वासना की कालिमा का पर्दा है, जिसे स्वआत्मा का बोध नहीं, जो वासानाग्नि में निरन्तर जल रहा है वह, बहिरात्मा है। बहिरात्मा को तप-सिध्दि त्रिकाल में भी संभव नहीं है। जो अमृत पूरित है, जो पूर्णतः खिल गये हैं, जो सुवास से परिपूर्ण हैं वे ही परमात्मा हैं।

बहिरात्मा को तप की सिध्दि नहीं होती है। तप सिध्दि की बात आत्मा तक पहुंचती ही नहीं। मात्र ऊपर ही ऊपर रहती है। केवल शारीरिक तल तक ही बातें रहती हैं, आत्म तल उसका पहुंचना सम्भव ही नहीं है। बाहरी सुख की भीड़ इतनी एकत्र हो गई कि, आत्मा पर श्रध्दान ही नहीं रहा। पानी मात्र ऊपर ही ऊपर बह रहा है अंधकार ही अंधकार है। सघन कृष्ण पक्ष है।

परमात्मा को भी अब तप सिध्दि से मतलब नहीं है क्योंकि वे पूर्णता को प्राप्त हो चुके हैं। अब तप की सिध्दि करने वाली मात्र 'अन्तर-आत्मा' है। अन्तरंग तप के ६ भेद हैं— (१) प्रायश्चित (२) विनय (३) वैयावृत्त (४) स्वाध्याय (५) व्युत्सर्ग (६) ध्यान।

बहिरंग तप :- (१) अनशन (२) अवमौर्य (३) वृत परिसंख्यान (४) रस परित्याग (५) विदक्त शय्यासन (६) काय क्लेश

तपाना आवश्यक है। इसलिए तप करने वाले को तपस्वी कहा गया है। जो तप से भरा है वह तपस्वी है किन्तु **वास्तव में बात ऐसी नहीं है, तपस्वी जितना शीतल होता है, उतना दूसरा कोई नहीं।**

वर्तमान से ढ़ाई हजार वर्ष पूर्व भगवान महावीर ने घोषणा की थी कि सूर्य अपने केन्द्र स्थल में शीतल है। किन्तु, विज्ञान मानता था कि सूर्य ज्वालयमान अग्नि पिंड है। वहां मात्र उष्णता ही उष्णता है, परन्तु विज्ञान ने भी आज सिध्द कर दिया कि सूर्य अपने केन्द्र में शीतल है। इसका कारण यह है कि अग्नि पुंज के संतुलन बनाये रखने के लिए सूर्य का केन्द्र स्थल पर शीतल होना अति आवश्यक है। अन्यथा सन्तुलन बिगड़ जायेगा। कुछ इसी तरह तपस्वी जीवन होता है- चारों ओर से वह तप्त होता है ताकि आत्मा के चारों ओर लगा हुआ कर्म-मल जलकर समाप्त हो जाये।

तपस्वी स्वयं के केन्द्र पर शीतलता का अनुभव करता है। तप से परिपूरित व्यक्तित्व के अन्दर त्याग की शीतलता जितनी अधिक होगी उतनी अन्यत्र नहीं मिल सकती। जैसे— आपने देखा होगा कि कभी-कभी चक्राकार बवण्ड़र उठा करता है, उसके चारों ओर धूल एवं रेत के कण घूमते हैं। बावण्ड़र चारों ओर होता है किन्तु, केन्द्र स्थल धूल रहित होता है— उसी प्रकार सूर्य भी केन्द्र बिन्दु पर शीतल होता है। आत्मस्थ-तपस्वी ही परम शीतलता का अनुभव करते हैं। इसलिए भगवान महावीर ने परम आत्मिक शीतलता की उपलब्धि के लिए तप की ओर इंगित किया है। तृषित आत्मा को तृप्त, संत्रस्त आत्मा को संतृप्त करने के लिए तपश्चरण में उष्ण तत्व के भाव हैं, ऐसा नहीं है। कर्मों को जलाने की अपेक्षा से उसे तप कहते है। मोह से रहित, वासना से रहित, कर्मों की जलन से आत्मा को शांति का अनुभव होता है। कर्मों की जलन से आत्मा बच जाती है, इसलिए तप को मेधमाला की उपमा से सम्बोधित किया गया है। तप आत्मा को कर्मों की उष्मा से बचाता है, इसलिए आत्मा को शीतलता का अनुभव होता है। किन्तु यह बात स्मरणीय है कि तप की सिध्दि से हटकर रंच मात्र भी उसकी अभिलाषा नहीं करते और आत्म संशोधन में लग जाते हैं। तप का अर्थ है- ''आत्मा का संशोधन करना।'' द्रव्य संग्रह में ''ब्रह्मदेव सूरी'' ने तप की परिभाषा दी है— इन्द्रिय निरोधः इति तपः। अर्थात् ''इन्द्रिय विषयों का निग्रह करना ही तप है।'' ''कर्म क्षयार्थं तप्यते तपः'' अर्थात् कर्मों का क्षय करना ही तप है।'' ''इच्छा निरोधस्तपः'' अर्थात् इच्छाओं को रोकना

या मन को वश में करना अथवा विषयों के प्रति इन्द्रिय रुझान को रोकना तप है। यह भी उत्तम विशेषण से अलंकृत है। इससे स्पष्ट परिलक्षित होता है कि तप, यश, कीर्ति, पूजा, प्रख्याति, लाभ आदि वांछा से रहित होता है। तप आत्मा का स्वभाव है। इसलिए इसे धर्म की कोटि में रखा गया है। आचार्यों ने तप के दो भेद किये हैं- (१) अन्तरंग तप (२) बहिरंग तप।

अन्तरंग तप :- जिसका सम्बन्ध मात्र आत्मा के अन्तरंग भावों से होता है। इसे सम्यक् दृष्टि ही आत्म निहित कर सकता है। सम्यक 'अन्तर-आत्मा' वही है जो जीवन की आकांक्षा से भरी है। जिसकी समस्त इन्द्रियां अन्दर की ओर गमन कर रहीं हैं। जो भोगों से ऊपर उठ स्वयं में स्वयं का अनुभव कर रहा है- वही 'अन्तर-आत्मा' है। जिसकी समस्त इन्द्रियां बाहर की ओर गमन कर रही हैं, जो वासना में आपाद-कण्ठ डूबा है जिसकी आंखों में वासना की कालिमा का पर्दा है, जिसे स्वआत्मा का बोध नहीं, जो वासानाग्नि में निरन्तर जल रहा है वह, बहिरात्मा है। बहिरात्मा को तप-सिध्दि त्रिकाल में भी संभव नहीं है। जो अमृत पूरित है, जो पूर्णतः खिल गये हैं, जो सुवास से परिपूर्ण हैं वे ही परमात्मा हैं।

बहिरात्मा को तप की सिध्दि नहीं होती है। तप सिध्दि की बात आत्मा तक पहुंचती ही नहीं। मात्र ऊपर ही ऊपर रहती है। केवल शारीरिक तल तक ही बातें रहती हैं, आत्म तल उसका पहुंचना सम्भव ही नहीं है। बाहरी सुख की भीड़ इतनी एकत्र हो गई कि, आत्मा पर श्रध्दान ही नहीं रहा। पानी मात्र ऊपर ही ऊपर बह रहा है अंधकार ही अंधकार है। सघन कृष्ण पक्ष है।

परमात्मा को भी अब तप सिध्दि से मतलव नहीं है क्योंकि वे पूर्णता को प्राप्त हो चुके हैं। अब तप की सिध्दि करने वाली मात्र 'अन्तर-आत्मा' है। अन्तरंग तप के ६ भेद हैं— (१) प्रायश्चित (२) विनय (३) वैयावृत्त (४) स्वाध्याय (५) व्युत्सर्ग (६) ध्यान।

बहिरंग तप :- (१) अनशन (२) अवमौर्य (३) वृत परिसंख्यान (४) रस परित्याग (५) विदक्त शय्यासन (६) काय क्लेश

प्रायश्चित तप :- प्रायश्चित में दो शब्दों का मेल है— प्राय और चित्त। प्राय का अर्थ है— अपराध, चित्त का अर्थ है संशोधन करना। राग द्वेष रूप विभाव परिणामों से, जो आत्मिक गुणों का घात होता है, मलिनता आती है, अपराध होता है, दोष लगते हैं, उनका संशोधन करना अर्थात् तपश्चरण के माध्यम से विषय वासनाओं की उत्पत्ति न होने देना ही प्रायश्चित है।

"प्रत्येक मानव जीवन दर्पणवत् है। जन्म से मरण तक प्रत्येक सुबह-शाम इसमें वासना की धूल जमती रहती है। जो इस वासना की धूल को जमने देते हैं वे दर्पण नहीं रह जाते क्योंकि धूल युक्त होने से उसमें प्रतिविम्ब दिखाई नहीं पड़ता। **मानव का चित्त भी एक दर्पण है अतः, सत्य की प्रतीति के लिए चित्त का निर्मल होना अत्यन्त आवश्यक है।**

सत्य की प्रतीति स्वच्छ निर्मल चित्त वाले को ही होती है। अतः चित्त की नित्य सफाई अत्यन्त आवश्यक है। उसकी स्वच्छता पर ही समग्र जीवन का सत्य प्रतिबिम्बित होता है। **जो व्यक्ति चित्त की सफाई नहीं करते वे अपने ही हाथों अपने पैरों में कुल्हाड़ी मारते हैं।**

एक शिष्य ने अपने गुरू से कहा— आपके चरणों में रहते मुझे १० वर्ष हो गये किन्तु आज भी मेरा मन बाहर भटकता रहता है। मैं अत्यन्त परेशान रहता हूं, आप कुछ उपाय बतलायें। गुरू ने शिष्य को शिक्षा हेतु दूसरे साधु के पास भेजा और कहा— जाओ, इसकी समग्र जीवन चर्या ध्यान से देखो। शिष्य, गुरू आज्ञा शिरोधार्य कर साधु के समीप चला गया। वह उस साधु को देखकर आश्चर्य चकित हो गया। तथा साधु के प्रति मन में अश्रध्दा जागृत हो गई। क्योंकि, साधु एक होटल का नौकर था। कुछ दिन रहकर उसने उसकी चर्या ध्यान पूर्वक देखी। लेकिन उसे कोई विशेष बात ग्राह्य योग्य नजर नहीं आई। क्योंकि वह नौकर अत्यन्त साधारण एवं सामान्य व्यक्तित्व वाला था। उसमें ज्ञान और आचरण के लक्षण दृष्टिगोचर ही नहीं होते थे। किन्तु वह सरल स्वभावी था। बच्चों सा निर्दोष था। उसकी चर्या में अन्य कोई विशेषता न थी।

शिष्य ने उस नौकर की दैनिक चर्या देखी किन्तु वह जागने के बाद क्या करता है? दोपहर में क्या करता है? रात्रि विश्राम के पूर्व क्या करता है? यह ज्ञात न कर सका। अतः जिज्ञासावश उसने नौकर से

पूछा। साधु ने कहा— कुछ भी नहीं। प्रातः, दोपहर, सांझ एवं रात्रि में, मैं अपने बर्तन मांजता हूं। सुबह धूल जमती है तो दोपहर को मांजता हूं, दोपहर को धूल जमती है, शाम को मांजता हूं, शाम को धूल जमती है तो सुबह मांज लेता हूं ताकि बर्तन स्वच्छ एवं धूल रहित हों। क्योंकि मैं होटल का नौकर एवं रखवाला जो हूं। वह शिष्य उस नौकर के पास से अत्यन्त निराश हो अपने गुरू के पास लौट आया। उसने गुरू को साधु की दैनिक चर्या, तथा साथ में हुई वार्तालाप बतलायी। गुरू ने पूछा— वहां सीखा क्या? शिष्य ने उत्तर दिया- वहां सीखने योग्य कुछ था ही नहीं। क्योंकि पहली बात यह है कि वह साधु नहीं नौकर है, जो मात्र तीन वक्त गन्दे बर्तनों की सफाई करता है। मांजता है और एक बर्तन मांजने वाला मुझे क्या सीखा सकेगा। उससे तो मैं ही श्रेष्ठ हूं। गुरू ने कहा— तुम तो उससे भी गये बीते हो क्योंकि तुम्हारे पास "मैं" का अहंकार बैठा है। **जब तक तुम इस अहंकार से मुक्त नहीं होगे, तब तक तुम्हारी साधना, तुम्हारी तपस्या तथा गुरू का चुनाव निष्फल है।**

मैंने तुम्हें वहां इसलिए भेजा था कि तुम उसकी सरलता से, निरंहकारता से कुछ अवश्य ही ग्रहण कर आओगे लेकिन तुम खाली के खाली आ गए। तुम उन्हें समझ नहीं सके। जिस प्रकार वह अपने बर्तनों को मांजता है, उन्हें धोता है, निर्मल करता है, उन पर धूल जमने नहीं देता, तुम भी अपने मन को इसी प्रकार से मांजो। उस पर वासना की, मिथ्या विचारों की धूल मत जमने दो। सत्य का अनुभव करने में वे ही सक्षम है- जिनका चित्त निर्मल है, जिन्होंने अपनी वासनाओं को त्याग दिया है, अपने आत्मा के प्रक्षालन में अहर्निश लगे हैं। अपने पापों का प्रायश्चित कर रहे हैं। अधिक धूल जमने से दर्पण में प्रतिबिम्व दिखाई नहीं देता अतः दर्पण से धूल झाड़ना तथा चित्त से वासनाओं का त्यागना ही प्रायश्चित है।

विनय तप :- तप सिध्दि के लिए परमात्मा के आगमन के लिए अहंकार के तालों को खोलना अति आवश्यक है। जब तक अहंकार का त्याग नहीं होता तब तक आत्म उपलब्धि नहीं हो सकती। आत्मा की बात तो दूर है गुरू की प्राप्ति भी असम्भव है। अहंकार के साथ गुरू का चयन किया तो गुरू भी अहंकारी ही मिलेगा। क्योंकि आप अहंकार से पूर्ण हैं। आप अपने कार्य स्वयं को दृष्टिगत करके करेंगे। गुरू का स्थान द्वितीय रखेंगे। आपने अपने लिए गुरू नहीं शिष्य का चयन किया है आप हमेशा गुरू की कमजोरियां ढूंढेंगे क्योंकि स्वयं को श्रेष्ठ समझ रहे हैं।

आजकल जहां भी देखता हूं हर जगह गुरू की परीक्षा ली जाती है कि यह द्रव्य लिंगी है या भावलिंगी? लेकिन स्वयं कौन से लिंगी है नहीं सोचते। त्याग, तप, संयम को आत्मसात किया नहीं, परीक्षक बन जाते हैं। गुरू के महागुरूं होने का दावा करते हैं, ऐसे व्यक्ति खतरनाक होते हैं क्योंकि इनके अन्दर कषाय की बारूद भरी होती है जो जरा सा निमित्त मिलने पर विस्फोट पैदा कर देती है। इतने अहंकार-युक्त व्यक्ति के पास साक्षात् भगवान भी आ जाए तो समझा नहीं सकेंगे।

जीवन प्रवेश का विनय अर्न्तनियम है। विनयवान के समक्ष समस्त विश्व की सम्पदा अर्पित हो जाती है। विनयवान ही परमात्मा का भक्त हो सकता है। विनयवान के लिए गुरू के साधारण शब्द भी जीवन में क्रांतिकारी हो जाते हैं। गुरू निमित्त बन जाते हैं और शिष्य के अन्दर, क्रान्तिकारी घटना घटित होने लगती है। आनन्द-स्त्रोत आपके अन्दर भरे है। जब अहंकार के ताले तोड़ दिये, तब गुरू हृदयतम हटाकर अन्दर प्रवेश कर आपको आनन्द से परिचित करा देंगे। जितने आप विनयवान रहेंगे, उतने ही जीवन आनन्द के स्त्रोत मिलेंगे। विनयवान का अर्थ है अपने देव, शास्त्र, गुरू पर श्रध्दान करना, उनकी निःस्वार्थ भाव से सेवा करना। सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, सम्यक चारित्र की आराधना करना-व्यवहार विनय है। तथा निश्चय से निज स्वरूप में रमण करना निश्चय विनय है।

वैयावृत्त तप :- "वैयावृत्तिः दुःख निवृत्तिः"

"प्रयोजनंयस्य तत् वैयावृंत" अर्थात दुख निवृत्ति हो जिसका प्रयोजन है वहीं वैयावृत्त है। दूसरे प्राणियों की निःस्वार्थ भाव से सेवा करना, उनके दुःख दूर करना, व्यवहार वैयावृत्त है। निश्चय में अनादिकाल से दुखित आत्मा को शांति पहुंचाना अर्थात निज आत्मा में रमण करना, आत्मा को कर्म कलंक से रहित करना ही निश्चय वैयावृत्त है। वैयावृत्त के दो भेद हैं— (१) व्यवहार वैयावृत्त (२) निश्चय वैयावृत्त।

अपने साधर्मी तथा अपने गुरू की सेवा करना व्यवहार वैयावृत्त है। आत्मा की सेवा करना, राग द्वेष परिणामों को त्यागना, आत्म ध्यान में लीन रहना निश्चय वैयावृत्त है। वास्तव में वैयावृत्त करने वाला संकोची होता है। सेवा निःस्वार्थ भाव से होती है तो आत्मिक आनन्द बढ़ता है। जो इन्सान जितनी सेवा लुटाता है वह उतना ही जीवन में प्रफुल्लित

आनन्दित होता चला जाता है। उतना ही समृध्द होता चला जाता है। उसका जीवन कुआँ की भांति हो जाता है। जिस प्रकार कुए से जितना पानी निकालो, झरनों के माध्यम से उतना ही नया ताजा पानी उसे प्राप्त हो जाता है। अतः जो कुए, जितने नीचे जाते हैं वे उतने ही ताजे बने रहते है। जो अपना पानी बांटना बन्द कर देते है उनके झरने सूखने लगते हैं, पानी गंदा होने लगता है। सड़ने लगता है, दुर्गन्ध फैलने लगती है, क्योंकि उन्होंने पानी बांटना बन्द कर दिया है उसी प्रकार जो अपने व्यक्तित्व को, प्रेम को, अपने सेवा भाव को निःस्वार्थ बांटता है उसके अन्दर उतने ही नये आनन्द के झरने फूटते हैं और धीरे-धीरे वह दया का सागर बन जाता है। उसे उसके खाली करने के उपाय शेष नहीं रह जाते। अतः विनयवान ही वैयावृत्ति कर सकता है।

वैयावृत्ति जीवन की अलौकिक, अनोखी, अनूठी सम्पदा है जो जन्म से प्राप्त नहीं होती। यह तो जीवन का आनन्दमय संगीत है, जो सेवा भाव से झंकृत होता है, जिसका रियाज निरहंकार की भूमि पर होता है। "काका कालेकर" ने अपनी पुस्तक में एक स्थान पर लिखा है कि- भगवान पार्श्वनाथ के समय तक जैनियों में सेवाभाव प्रचुर मात्रा में था। ईसाईयों ने भी सेवाभाव यहीं से सीखा है। किन्तु वर्तमान में जैन सम्प्रदाय में सेवा भाव का लोप हो गया है। सेवा करना, एक दूसरे की दुख पीड़ा में सहायता करना मानव का परम धर्म है।

स्वाध्याय :- "स्वस्थ आत्मानं आ आधि जायते स्वाध्यायः" अर्थात् **आत्मा का अध्ययन करना स्वाध्याय है।** सुष्ठु अध्ययनं पठनं इति स्वाध्यायः अर्थात् **सम्यक् रीति से जिनागम का पठन पाठन भी स्वाध्याय है। स्वयं के कल्याण के लिए शास्त्र का अध्ययन करना स्वाध्याय है।** यदि दूसरों को सुनाने की दृष्टि से शास्त्र का पाठन पठन किया जाता है तो उसे स्वाध्याय नहीं कहा, बल्कि अहंकार का पोषण कहा गया है। शास्त्र पठन के उपरान्त संयम की ओर अग्रसर होना स्वाध्याय का फल है। **यदि स्वाध्याय करने के उपरान्त जीवन में संयम नहीं आया, रौद्र ध्यान विषय कषाय की प्रवृत्ति कम नहीं हुई तो उसे कोरा स्वाध्याय कहा गया है।**

यदि शास्त्र को पढ़कर पचा लिया, आत्मसात् कर लिया, तो परमात्मा बन जाओगे, यदि आत्मसात नहीं किया तो पंडित बनकर दूसरों की खोपड़ी में कचरा छोड़ते रहोगे। इसलिए स्वाध्याय कर पंडित नहीं बल्कि आत्मवेत्ता बनना, वित्तरागी नहीं वरन वीतरागी बनना श्रेयस्कर है।

आजकल जहां भी देखता हूं हर जगह गुरू की परीक्षा ली जाती है कि यह द्रव्य लिंगी है या भावलिंगी? लेकिन स्वयं कौन से लिंगी हैं नहीं सोचते। त्याग, तप, संयम को आत्मसात किया नहीं, परीक्षक बन जाते हैं। गुरू के महागुरू होने का दावा करते हैं, ऐसे व्यक्ति खतरनाक होते हैं क्योंकि इनके अन्दर कषाय की बारूद भरी होती है जो जरा सा निमित्त मिलने पर विस्फोट पैदा कर देती है। इतने अहंकार-युक्त व्यक्ति के पास साक्षात् भगवान भी आ जाए तो समझा नहीं सकेंगे।

जीवन प्रवेश का विनय अर्न्तनियम है। विनयवान के समक्ष समस्त विश्व की सम्पदा अर्पित हो जाती है। विनयवान ही परमात्मा का भक्त हो सकता है। विनयवान के लिए गुरू के साधारण शब्द भी जीवन में क्रांतिकारी हो जाते हैं। गुरू निमित्त बन जाते हैं और शिष्य के अन्दर, क्रान्तिकारी घटना घटित होने लगती है। आनन्द-स्त्रोत आपके अन्दर भरे है। जब अहंकार के ताले तोड़ दिये, तब गुरू हृदयतम हटाकर अन्दर प्रवेश कर आपको आनन्द से परिचित करा देंगे। जितने आप विनयवान रहेंगे, उतने ही जीवन आनन्द के स्त्रोत मिलेंगे। विनयवान का अर्थ है अपने देव, शास्त्र, गुरू पर श्रध्दान करना, उनकी निःस्वार्थ भाव से सेवा करना। सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, सम्यक चारित्र की आराधना करना-व्यवहार विनय है। तथा निश्चय से निज स्वरूप में रमण करना निश्चय विनय है।

वैयावृत्त तप :- "वैयावृत्तिः दुःख निवृत्तिः"

"प्रयोजनंयस्य तत् वैयावृंत" अर्थात दुख निवृत्ति हो जिसका प्रयोजन है वहीं वैयावृत्त है। दूसरे प्राणियों की निःस्वार्थ भाव से सेवा करना, उनके दुःख दूर करना, व्यवहार वैयावृत्त है। निश्चय में अनादिकाल से दुखित आत्मा को शांति पहुंचाना अर्थात निज आत्मा में रमण करना, आत्मा को कर्म कलंक से रहित करना ही निश्चय वैयावृत्त है। वैयावृत्त के दो भेद हैं— (१) व्यवहार वैयावृत्त (२) निश्चय वैयावृत्त।

अपने साधर्मी तथा अपने गुरू की सेवा करना व्यवहार वैयावृत्त है। आत्मा की सेवा करना, राग द्वेष परिणामों को त्यागना, आत्म ध्यान में लीन रहना निश्चय वैयावृत्त है। वास्तव में वैयावृत्त करने वाला संकोची होता है। सेवा निःस्वार्थ भाव से होती है तो आत्मिक आनन्द बढ़ता है। जो इन्सान जितनी सेवा लुटाता है वह उतना ही जीवन में प्रफुल्लित

आनन्दित होता चला जाता है। उतना ही समृध्द होता चला जाता है। उसका जीवन कुआँ की भांति हो जाता है। जिस प्रकार कुए से जितना पानी निकालो, झरनों के माध्यम से उतना ही नया ताजा पानी उसे प्राप्त हो जाता है। अतः जो कुए, जितने नीचे जाते हैं वे उतने ही ताजे बने रहते है। जो अपना पानी बांटना बन्द कर देते है उनके झरने सूखने लगते हैं, पानी गंदा होने लगता है। सड़ने लगता है, दुर्गन्ध फैलने लगती है, क्योंकि उन्होंने पानी बांटना बन्द कर दिया है उसी प्रकार जो अपने व्यक्तित्व को, प्रेम को, अपने सेवा भाव को निःस्वार्थ बांटता है उसके अन्दर उतने ही नये आनन्द के झरने फूटते हैं और धीरे-धीरे वह दया का सागर बन जाता है। उसे उसके खाली करने के उपाय शेष नहीं रह जाते। अतः विनयवान ही वैयावृत्ति कर सकता है।

वैयावृत्ति जीवन की अलौकिक, अनोखी, अनूठी सम्पदा है जो जन्म से प्राप्त नहीं होती। यह तो जीवन का आनन्दमय संगीत है, जो सेवा भाव से झंकृत होता है, जिसका रियाज निरहंकार की भूमि पर होता है। "काका कालेकर" ने अपनी पुस्तक में एक स्थान पर लिखा है कि- भगवान पार्श्वनाथ के समय तक जैनियों में सेवाभाव प्रचुर मात्रा में था। ईसाईयों ने भी सेवाभाव यहीं से सीखा है। किन्तु वर्तमान में जैन सम्प्रदाय में सेवा भाव का लोप हो गया है। सेवा करना, एक दूसरे की दुख पीड़ा में सहायता करना मानव का परम धर्म है।

स्वाध्याय :- "स्वस्थ आतमानं आ आधि जायते स्वाध्यायः" अर्थात् **आत्मा का अध्ययन करना स्वाध्याय है।** सुष्ठु अध्ययनं पठनं इति स्वाध्यायः अर्थात् **सम्यक् रीति से जिनागम का पठन पाठन भी स्वाध्याय है। स्वयं के कल्याण के लिए शास्त्र का अध्ययन करना स्वाध्याय है।** यदि दूसरों को सुनाने की दृष्टि से शास्त्र का पाठन पठन किया जाता है तो उसे स्वाध्याय नहीं कहा, बल्कि अहंकार का पोषण कहा गया है। शास्त्र पठन के उपरान्त संयम की ओर अग्रसर होना स्वाध्याय का फल है। **यदि स्वाध्याय करने के उपरान्त जीवन में संयम नहीं आया, रौद्र ध्यान विषय कषाय की प्रवृत्ति कम नहीं हुई तो उसे कोरा स्वाध्याय कहा गया है।**

यदि शास्त्र को पढ़कर पचा लिया, आत्मसात् कर लिया, तो परमात्मा बन जाओगे, यदि आत्मसात नहीं किया तो पंडित बनकर दूसरों की खोपड़ी में कचरा छोड़ते रहोगे। इसलिए स्वाध्याय कर पंडित नहीं बल्कि आत्मवेत्ता बनना, वित्तरागी नहीं वरन वीतरागी बनना श्रेयस्कर है।

पंडित एवं वीतरागी के मार्ग पृथक-पृथक है। **पंडित उस तक नहीं पहुंचता जहां तक वीतरागी पहुंचता है। पंडित केवल लक्ष्य तक पहुंचने की आशा बंधाते है, वीतरागी आशा नहीं बंधाते बल्कि पहुंचते हैं।** वीतरागी की क़थनी करनी में समानता होती है। किन्तु पंडित की कथनी करनी में अत्याधिक अंतर होता है। पंडित का ज्ञान ओढ़ा हुआ होता है पर वीतरागी का ज्ञान अन्तर चेतना से जागृत होता है। पंडित के पास शब्दों का भंडार होता है। प्रश्नों के उत्तर होते हैं किन्तु वीतरागी' के पास प्रज्ञा से समाधान होता है। उनके ज्ञान में शब्द खो जाते हैं तथा निशब्द केवल अनुभूति रह जाती है। **ज्ञान आचरण मांगता है। ज्ञान की खुराक संयम है। जिसे पंडित पुस्तकों में ढूंढता है, ज्ञानी आत्मा में ढूंढता है।** अतः स्वाध्याय का महत्व तव है कि पढ़ने के बाद कितना आत्मसात् किया। केवल शास्त्र का अध्ययन महत्वपूर्ण नहीं है उसे पचाना महत्वपूर्ण है। जिस प्रकार शरीर का उद्देश्य केवल स्वादिष्ट भोजन करना ही वरन् उसे पचाना भी है। शब्दों का व्यापार नहीं आत्म व्यवहार का व्यापार स्वाध्याय है।

व्युत्सर्ग तप :- शरीर के प्रति ममत्व परिणामों का त्याग ही व्युत्सर्ग है। शरीर केवल आत्म साधन में सहायक है, साधन है, साध्य नहीं। शरीर के ऊपर अपनी मालकियत जमाना शरीर के अनुसार चलना नहीं बल्कि अपने मतानुसार शरीर को चलाना स्वयं के स्वामित्व का प्रयोग करना चाहिए। जब शरीर कहता है भोजन तब तपस्वी कहता है— मात्र भोजन ही नहीं दूंगा- भोजन मिलेगा, पर समय से विधिपूर्वक, बत्तीस अन्तराय एवं छयालीस दोषों को टालकर मिलेगा। तव इन्द्रियां भोजन के पीछे नहीं भागेंगी बल्कि भोजन शरीर के पीछे भागेगा। जब शरीर कहता है- मुझे लिटाओं तव तपस्वी उसे कायोत्सर्ग में खड़ा करता है। अतः शरीर साधन एवं आत्मा साध्य है। इसी का नाम ''व्युत्सर्ग तप'' है। शरीर के ममत्व परिणाम दुःख के कारण है। उन ममत्व परिणामों का त्याग करना ही व्युत्सर्ग तप को स्वीकारना है।

व्युत्सर्ग तप का अर्थ है- मूल श्रोत की खोज करना, दुखों के मूल कारण का त्याग करना आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करना, सारे दुःखों की जननी का ज्ञान करना, समस्त रोगों की जड़ क्या है? को जानना। इन सब घटनाओं के आप ही जिम्मेदार हैं, अन्य कोई नहीं। आपका ही मन ममत्व परिणामों के कारण उत्पाद मचा रहा है, वही मन ज्ञात अज्ञात सुख और दुःख को ला रहा है क्योंकि शरीर के प्रति

ममत्व भाव आ है।

बड़ी ही मार्मिक घटना है- एक व्यक्ति अपनी पत्नी एवं एक वर्षीय पुत्र को छोड़कर व्यापार हेतु बाहर चला गया। उसे परदेश गए १२ वर्ष हो गये, अचानक घर की तरफ रवाना हो गया। रास्ते में उसे अपने पड़ाव सहित धर्मशाला में रूकना पड़ा। उसी धर्मशाला में उसका पुत्र भी रूका हुआ था। संयोग की बात थी कि, पिता-पुत्र का कमरा पास-पास था। रात्रि में अचानक पुत्र के पेट में दर्द हुआ। वह चिल्लाने लगा। पिता बगल वाले कमरे में लेटा था पर चिल्लाहट के शोर के कारण नींद में खलल हो रहा था। उसने नौकर को आदेश दिया- जाओ चिल्लाहट को शांत कर दो। व्यर्थ में नींद खराब कर रहा है। और भी अन्य क्रोध युक्त बातें कहीं साथ ही उसके माता-पिता को भला-बुरा कहा। नौकर ने जाकर उसके साथियों से सारी बात कह दी। उसके साथियों ने कहा बच्चा है, उम्र कम है, अचानक पेट में तीव्र असहनीय दर्द है, पीड़ा असीम है इसलिए चिल्ला रहा है। आप चिन्ता न करे। किन्तु बच्चे का दुर्भाग्य दर्द उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया फलस्वरूप उसकी चिल्लाहट भी बढ़ती गई। सेठ झल्ला उठा। उसने नौकरों को आदेश दिया कि, जाओ जो चिल्ला रहा है उसे धर्मशाला से बाहर निकाल दो। सुबह मैं निपट लूंगा कम से कम अभी तो शांति से सोने दो। नौकर बाहर गए उन्होंने बच्चे को सामान सहित धर्मशाला से बाहर निकाल दिया। तीव्रोत्तर दर्द के कारण बच्चा मृत्यु को प्राप्त हुआ। सुबह उठकर सेठ ने सर्वप्रथम बच्चे का पता लगावाया। ज्ञात हुआ- पास के गांव का है, पिता का अमुक नाम है। सेठ उसी समय चिल्ला-चिल्ला कर रोने लगा। क्योंकि वह बच्चा उसी

जब बच्चा रो रहा था, उस सेठ ने शांत कर दिया पर अब सेठ रो रहा था, उसे शान्त करने वाला कोई नहीं था।

प्रश्न है कि रोना कहां से आया? दुःख कहाँ से आया? वह लड़का मर गया इसलिए सेठ दुःखी हुआ, आप कहते हैं हाँ तो मेरा प्रश्न है कि वह रात्रि में दुःखी क्यों न हुआ? क्या रात को लड़का दुःखी नहीं था? उसके मरने पर दुखी क्यों हुआ, चिल्लाने पर दुःखी क्यों नहीं हुआ? कारण कि पहले बच्चे के प्रति ममत्व परिणाम नहीं थे, केवल 'अहं' भाव थे कहीं मेरी नींद खराब न हो लेकिन, जैसे ही पता चला कि, यह मेरा लड़का है। सुनते ही दुःखों के पहाड़ टूट पड़े। जब मन ममता के साथ जुड़ता है तो सुख-दुःख का अनुभव करता है। इसलिए आचार्यों ने तप-सिद्धि के लिए ममत्व का त्याग

कराया है। जब तक शरीर के प्रति मोह बना रहेगा तब तक साधना के लिए तपस्या के लिए नहीं उतर सकोगे।

"व्युत्सर्ग का अर्थ है "दुःख के मूल कारणों को समाप्त करना।"

व्युत्सर्ग का अर्थ है यह बोध- कि मैं शरीर नहीं हूँ। आत्मा में इस बात का संवेदन हो जाये कि देह केवल खोल है, वस्त्र की भाँति है, जिसे हमने स्वीकार किया है, कर्म जनित है, राग द्वेष का प्रतिफल है लेकिन यह आत्मा का स्वभाव नहीं है। इससे हम किसी भी क्षण मुक्त हो सकते हैं। द्रव्य से मुक्ति के लिए तपस्या आवश्यक है। भाव से मुक्ति के लिए समता आवश्यक है। यदि वासनाओं को हम जन्म न दे, वासना वस्त्र धारण न करे, उन्हें उतार दें, क्षीण कर दें तथा साधना में गहरे उतर जाएं तो आत्म उपलब्धि में देर नहीं होगी। शरीर तो वस्त्र के समान है जिसे हमने वासनाओं की तृप्ति के लिए पहन रखा है। इसे बार-बार पहनते हैं, और छोड़ते हैं किन्तु यह ख्याल आ जाए कि जो आत्मा , वस्त्र रूपी शरीर धारण करता है, जन्म के समय उसमें प्रविष्ट होता है वह शरीर से भिन्न है। मृत्यु के समय जो शरीर को छोड़ता है उससे एकदम अलग है, जो जीवन भर शरीर में रहता है फिर भी शरीर से अलग है।

इस प्रकार का चिन्तन करता है कि मैं तो एक किरायेदार हूं, यह मेरा नहीं है। जिस प्रकार घर मेरा नहीं है, घर जड़ वस्तुओं से बना है। मैं जिस घर में रह रहा हूं एक दिन उस घर का छप्पर टूटेगा, खम्भे गिरेंगे, दिवालें ढ़ह जायेगी, घर टूट कर बिखर जायेगा। लेकिन मेरी आत्मा शाश्वत है, गिरने या टूटने वाली नहीं है। जो कभी गिरेगा, टूटेगा वह मकान मेरा शरीर है किन्तु जो शाश्वत है वह मेरी आत्मा है। इसलिए जो टूटेगा उससे कैसा मोह? उसका श्रृंगार क्यों? श्रृंगार तो शाश्वत् आत्मा का करना हैं।

व्युत्सर्ग तप का यही अर्थ है कि प्रत्येक क्षण दुःख में, सुख में, पीड़ा में, प्रसन्नता में, नींद में, जागरण में, होश में, बेहोशी में, मात्र यही बोध रहे कि मैं शरीर नहीं हूँ। भोजन ग्रहण करते समय यही ध्यान रहे कि मैं शरीर नहीं हूँ, केवल साधना के लिए इसे खिला पिला रहा हूँ लेकिन एक दिन इसका भी त्याग कर दूगा।

यदि चौबीस घंटे यह याद बनी रहे कि मैं शरीर नहीं हूँ

शरीर का अहं न करे। भोजन करते वक्त भी ज्ञात रहे कि मैं नहीं शरीर खा रहा है। जब कोई चोट करे तो यह चिन्तन करना चाहिए कि, चोट शरीर पर की गई है। चोट करने वाला तो मेरी आत्मा को छू भी नहीं सकता। वह अज्ञानता में यह सब कार्य कर रहा है- इस बात का अनुस्मरण रहे, इसी अनुरूप जीवन चर्या चले यहीं व्युत्सर्ग तप है। और व्युत्सर्ग तप सही रूप से दिगम्बर साधु ही पाल सकता है। क्योंकि अन्तरंग एवं बहिरंग तप सिद्धि केवल सम्यक्‌ दृष्टि दिगम्बर मुनि को ही होती है। आप घर में रहकर चिन्तन मनन कर सकते हैं किन्तु पूर्ण रूपेण पालन नहीं कर सकते। यदि कोई गृहस्थ करता भी है तो वह मात्र अहंकार से भरा है क्योंकि उसने परिवार आदि का ममत्व भाव नहीं छोड़ा है। मैं ही इस घर को चलाता हूं, मैं ही नहीं रहूंगा तो ये सब भूखे मर जायेंगे, मैं ही इनका कर्ता-धर्ता हूं यह बहुत बड़ा अहंकार है। और जहाँ ये अहं टूट जाता है वहाँ वह निश्चित ही दिगम्बरत्व को स्वीकार कर निस्पृहग्रही हो जाता है। आचार्य समन्त भद्र ने साधु कौन और कैसा होता है? के लिए लिखा है-

"विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः।
ज्ञानध्यानतपोरक्तस्तपस्वी स प्रशस्यते" ।।१०।।
'रत्नकरण्डश्रावकाचार'

अर्थात्- जो विषय की आशा से रहित हैं, आरम्भ से रहित हैं, परिग्रह से रहित हैं तथा ज्ञान, ध्यान और तप में ही लीन हैं वे ही तपस्वी हैं उनकी प्रशंसा करनी चाहिए।

आप समझ गए होंगे कि साधु कौन हो सकता है? जिसने अपने इन्द्रियों की क्षमता नष्ट कर ली है, जिसमें किसी भी प्रकार के विषयों की भोगो की लालसा या परिग्रह का प्रयोजन न होगा तो आरम्भ भी नहीं होगा। जब स्वयं के लिए आरम्भ नहीं करेगा, तो दूसरों के लिए क्यों करेगा। आचार्य श्री समन्तभद्र स्वामी ने साधू को कहा है किंचित भी आरम्भ न करे। इन सबके त्याग के उपरान्त क्या करें, तो आचार्य ने कहा- ज्ञान-ध्यान तप में लीन हो जाये ताकि उपयोग बाहर न जा सके। इसलिए कुंद कुंदाचार्य ने स्वाध्याय को अन्तरंग तप में लिया है। तथा आचार्यो के मूल गुणों में रखा है। अब आप ही सोचें, स्वाध्याय परम तप किसके लिए है। गृहस्थों के लिये या मुनियों के लिए। गृहस्थ

मात्र ग्रन्थ पढ़ सकता है, उनकी अनुभूति नहीं कर सकता। क्योंकि मोह, ममता, परिग्रह से युक्त है। इन सबसे रहित होना आवश्यक है। इसलिए समन्तभद्र स्वामी आचार्य रक्तः शब्द का प्रयोग कर रहे हैं। **जो ज्ञान-ध्यान और तप के रंग से पूर्णतया रंग चुका है, उसमें लीन हो चुका है जिसके जीवन की समग्र ऊर्जा आत्मबल को निखारने में लगी है वही साधु है इनसे रहित स्वादु है।**

"दोऊ काम नहीं होत सयाने
विषय भोग और मोक्ष पयानें"

अर्थात् दो काम एक साथ नहीं कर सकते। परिग्रह, संचय और आत्म ध्यान। इधर संस्थाएं खोलते जायें, करोड़ों का धन एकत्र करते जायें और कहें हम आत्म ज्ञानी है, हम तत्व अभ्यासी है, यह तो पागलों जैसी बात है। **भगवान महावीर का मोक्ष मार्ग इतना सस्ता और सरल नहीं है कि निरन्तर द्रव्य भोगों में लीन रहने वालों को मिल जाये।** मुक्ति का मार्ग त्याग तपस्या पर आधारित है। ग्रन्थों का ज्ञान भी मन्द कषायी को होता है। एकान्त पक्ष का दृढ़ग्राही को नहीं, इसीलिए पंडित का ज्ञान ऊपर से ओढ़ा हुआ ज्ञान होता है। पंडित कण्ठ से बोलते हैं किन्तु ज्ञानी, ध्यानी, निस्पृहग्रही हृदय से बोलते हैं।

कण्ठ से बोलकर भीड़ एकत्र की जा सकती है; परमात्मा को नहीं। पंडित भीड़ को धोखा दे सकता है, आत्मा को नहीं। क्योंकि आत्म-ज्ञान की ईमारत त्याग, तपस्या की नींव पर खड़ी होती है।

आचार्य समन्त भद्र स्वामीजी तो साधु उसे ही कह रहे हैं जो अपनी सम्यक् साधना से अन्तर आत्मा के ज्ञान रस सागर में डूबा है। जिसकी इन्द्रिय उस सागर में खो गई है, जिसकी अन्तर चेतना जाग चुकी है जो भीतर का स्वाद अनुभव कर रहा हो, जिसके भीतर का स्पर्श, त्याग जाग चुका है, वही साधु है। जिनके भीतर का स्पर्श रस नहीं जागा वे बाहर के भोजन के लिए ही डोलते है। साधु का अर्थ है- जिसने स्वयं के परिश्रम से खेत जोते हैं, बीज बोयें हैं, फसलें उगाई है, फूलों को जन्म दिया है, इसके लिये इन्तजार किया है। जिन्होंने बाजार से नकली फूल लेकर चिपका लिये हैं वे पंडित है साधु नहीं। ऐसे लोग

बड़े खतरनाक भी होते हैं। वे स्वयं तो डूबते है अपने अनुयायियों को भी ले डूबते हैं।

जो मोह के वश से, त्याग के भय से, भोगो को न छोड़े, शरीर का मोह करे और जड़ की क्रिया कहे तथा वीतरागता की नकली चादर ओढ़कर शुध्द-बुध्द आत्मा की, जिनात्मा की बात करे, तो क्या यह परमात्मा का अपमान नहीं है?

जो त्याग के भय से कांपे, भोगो की कामनियों से रास रचाये, त्याग संयम को हेय समझे, त्याग की मर्यादा को खो, दे, तो क्या उसे ज्ञानी कहें?, सत गुरू कहें?

याद रखो! स्वाध्याय धन कमाने, संस्थाएं खोलने और वासनाओं की पूर्ति के लिये नहीं, सत्य की प्राप्ति के लिए होता है। सत्य प्राप्ति के लिए की गई साधना ही सम्यक् मानी जाती है तथा इसको साधने वाला साधु कहलाता है।

जिसने समस्त भौतिक प्रवृत्तियों को छोड़ दिया है जो, अन्तर आत्मा में लीन होने का अथक प्रयास कर रहा है, जो अपनी समस्त शक्ति का प्रयोग आत्मा को ऊपर उठाने के लिए कर रहा है वह साधु है। क्योंकि वह जानता है कि जब शक्ति बाहर की ओर गमन करती है तो केवल वासना को पकड़ती है, तथा अन्दर की ओर गमन करती है तो आत्मा को पकड़ती है।

जो 'तप-यज्ञ' में स्वयं की क्रोधाग्नि को आहूति कर रहा है, चिर संचित विभाव सम्पत्ति, मान, माया, लोभ और वासना को भस्म कर रहा है, सारा ईधन आत्मा को निखारने में खर्च कर रहा है, वही साधु है। जो अपनी शक्ति धन संग्रह में व्यय कर रहा है वह स्वादु है, पंडित है।

आप साधु की कीमत करें या न करें, किन्तु विदेशों में आज भी उनकी साधना तपस्या का समादर होता है। आनन्द की खोज करने वाले साधु का समादर होता है। क्योंकि वह जानता है कि आनन्द की खोज, भगवान महावीर की साधना की परम श्रेष्ठ वस्तु है। भगवान महावीर ने अपने नाम से कोई पन्थ नहीं चलाया।

उनकी साधना में कहीं पर जरा सा अहंकार दिखाई नहीं पड़ता क्योंकि अहंकार के दर्शन तो पंथ चलाने में होते है। और पंथ, वे ही चलाते है जो, आत्मा तक पहुंच नहीं पाते, मात्र शब्द जाल में ही उलझे रहते हैं। विचारों में खोये रहते हैं। आत्मा का अनुभव करने वाला पंथ नहीं चलाता बल्कि अपनी सत् साधना का एक सर्वश्रेष्ठ आदर्श प्रस्तुत करता है। आदर्श प्रस्तुत ही नहीं करता, बल्कि आदर्श बनकर स्वयं प्रस्तुत हो जाता है। इसलिए भगवान महावीर का धर्म सार्वजनिक सार्वभौमिक धर्म है।

योगियों का पंथ नहीं होता बल्कि उनके पास होता है उत्कृष्ट चरित्र। आनन्द-खोजियों के पास सम्प्रदाय नहीं होता, सम्प्रदायवाद में वे ही फंसते हैं जिन्हें आत्म-ज्ञान, आत्म-दर्शन नहीं होता।

एक बार सिकन्दर भारत की यात्रा पर आ रहा था तो उसके साथियों ने उपहार में भारत के साधु को लाने की बात कही। और कहा कि- जरूर लाना, ताकि हम उनके सानिध्य से, अपने पापों का भार कुछ कम कर सकें। सच्चे साधु भारत में ही मिलते है क्योंकि भारत आध्यात्म नगरी है। वहां दिगम्बर साधु अपनी सत् साधना से आत्मा का अन्वेषण करते हैं, आत्मिक आनन्द की खोज करते हैं, सत्य को उपलब्ध होते हैं अतः अपने साथ एक साधु अवश्य लाना। आप ही सोचिए! भारत से वाहर भी भारतीय साधुओं की चर्चा है।

सिकन्दर भारत विजय कर यूनान लौटने लगा तो उसके एक विचारशील, विवेकवान साथी ने कहा- जो साधु आपके साथ यूनान चला जाए वह साधु नहीं है। यदि वह वास्तविक साधु है तो जायेगा ही नहीं। सिकन्दर ने कहा- जिसके सामने विशाल पर्वत भी नतमस्तक हो जाता हैं तो उसकी बात एक साधु कैसे नहीं मानेगा। मैं चाहू तो सारा भारत अपने साथ यूनान ले ज्ा सकता हूं। सिकन्दर की तलवार किस दिन काम आएगी। साथी ने फिर कहा, जिसके सामने तलवार भी झुक जाये, वहीं सच्चा साधु है। सिकन्दर अपने साथी की बात सुनकर आश्चर्य में पड़ गया। मन में उत्सुकता जाग गई। उसने यात्रा स्थगित कर साधु की खोज प्रारंभ करवा दी।

सिकन्दर को पता चला कि दिगम्बर साधुओं का एक संघ नगर के वाहर शिला खंड पर ठहरा हुआ है। सिकन्दर ने तत्काल सिपाही

भेजे। उन सिपाहियों ने आश्चर्य चकित होकर देखा कि वे साधु नग्न है उनके पास किंचित भी सामग्री नहीं हैं, तेज धूप में भी समता पूर्वक तपस्या कर रहे हैं, उन्होंने हिम्मत कर सिकन्दर का संदेश, आदेश उनसे कहा- आप हमारे साथ हमारे देश यूनान चलें। वहां आपको सम्मान मिलेगा, अच्छा-अच्छा भोजन मिलेगा, हम इज्जत देंगे। निर्भीक, आत्मज्ञानी साधु ने कहा- हम मात्र अपनी आत्मा की आज्ञा मानते है, अन्य किसी की तो स्वप्न में भी नहीं। हमने अन्य किसी की आज्ञा मानना छोड़ दिया है। अपने बादशाह से कह देना- सच्चा साधु दूसरों की आज्ञा नहीं मानता और जो मानता, वह साधु नहीं है। सिपाहियों ने साधु से कहा- यदि आपने इंकार किया तो हम तलवार की नोंक पर ले जायेंगे। दिगम्बर साधु ने कहा- तलवार की नोंक पर ले जाने वाला तो अब तक पैदा ही नहीं हुआ। साधु का शरीर तलवार की नोंक पर जा सकता है, आत्मा नहीं। जिसे तुम तलवार की नोंक पर ले जाना चाहते हो, उसे हमने दिगम्बर दीक्षा लेते ही त्याग दिया था। अब हमारा संबंध तो मात्र आत्मा से है, शरीर हमारा नौकर है। सिपाही महाराज की बातें सुनकर स्तब्ध रह गए और बिना कुछ कहे, सिकन्दर महांन के पास चले गये।

सिकन्दर गुस्से से नंगी तलवार लेकर स्वयं साधुओं के पास गया। जल्दी-जल्दी में जूते पहनना भूल गया। साधुओं के पास जाकर कहता है, सीधे से मेरे साथ चलो वरना मैं देह से सिर अलग कर दूंगा। साधु मुस्कराये और कहने लगे- तुम्हारी यह तलवार बेकार है। इस तलवार से इसके टुकड़े होना असंभव है। यह तो इसे छू भी नहीं सकती। तुम नादान हो, ना समझ हो, अपने होश खो चुके हो। सिकन्दर ने कहा- चलते हो, अन्यथा मैं तुम्हें समाप्त कर दूंगा। साधुओं ने कहा- हम भी इसे समाप्त होते हुए देखेंगे जिसे तुम समाप्त करना चाहते है। जिसे तुम मारोगे उसे मारते हुए हम भी देखना चाहते है। जिस प्रकार तुम इसे काटोगे उसे मैं भी साक्षी भाव पूर्वक करते हुए देखूंगा। क्योंकि जिसे तुम मारोगे वह "मैं" नहीं हूं। मैं अलग हूं, शरीर अलग है। यदि इसका अनुभव करना है तो घोड़े से नीचे उतरकर इधर आओ। सिकन्दर घोड़े से नीचे उतर गया। लेकिन उतरते ही पुनः घोड़े पर चढ़ गया क्योंकि ऊपर से सूर्य की तप्त प्रखर किरणें थी। नीचे किरणों से तप्त साक्षात् अग्नि कुण्ड स्वरूप शिला खण्ड थी। सिकन्दर के पावों में फफोले आ गए। तब दिगम्बर साधु कह उठा जिसे भयंकर अग्नि नहीं जला सकी उसे तुम क्या जलाओगे? इस शिला पर हम रोज साधना करते हैं किन्तु शरीर का कुछ नहीं बिगड़ता। सिकन्दर साधुओं की परम पवित्र कठोर साधना को देखकर हक्का-बक्का रह गया। और उनके समक्ष

उसकी तलवार झुक गई। वास्तव में सच्चे साधु वही है जो केवल परमात्मा के समक्ष झुकता है। अन्य किसी के सामने नहीं, चाहे वह तलवार भी क्यों न हो। अन्य के सामने झुकने का प्रश्न ही नहीं है क्योंकि जिसके कारण झुकना पड़ता था, उसका पूर्णतया साथ ही छोड़ दिया है, जो झुकाता था उसकी मित्रता ही छोड़ दी है। ''न रहेगा बांस न बजेगी बासुरी''। **जब शरीर के प्रति ममत्व परिणाम ही नहीं, तब कटने, जलने मरने का डर कैसा?**

व्युत्सर्ग तप की विशेषता है कि वह शरीर तल से हटाकर आत्मा तल पर ले जाता है। अतः आत्म-तल तक पहुंचना ही व्युत्सर्ग तप है।

ध्यान तपः- ''एकाग्र चिन्ता निराधोध्यानम्''।

एक ही विषय पर ध्यान लगाना, चित्त लगाना ही ध्यान तप है। जो मन अनन्त की ओर जा रहा है उसको रोकना, भटकने नहीं देना, आत्म केन्द्रित करना ही ध्यान है। उपरोक्त पांच प्रकार के तप का मुख्य प्रयोजन ही है ध्यान को उपलब्ध करना। आचार्यों ने इसके चार भेद किये हैं- (१) आर्तध्यान (२) रौद्रध्यान (३) धर्म ध्यान (४) शुक्ल ध्यान इनकि भी भेद सोलह है। प्रथम के दो ध्यान अप्रशस्त ध्यान है इन्हें स्वीकार करने की जरूरत नहीं है। इन्हें जीव जन्म के साथ लाता है। पर ये नहीं कि ये जन्म के पहले नहीं थे। ये अनादिकाल से, जीव के साथ हैं, इन्हें अर्जित नहीं करना पड़ा। बाद के दो ध्यान प्रशस्त ध्यान है, जिसे अपनी साधना से देव, शास्त्र, गुरू पर श्रध्दान कर अर्जित किया जाता है। हमारा ध्यान तो है, केवल उसे एकत्र करना है ध्यान सीखा नहीं जाता, बदला जाता है। हम प्रत्येक समय प्रत्येक कार्य जैसे-खाते-पीते, उठते-बैठते, सोते-जागते ध्यान कर रहे हैं। बिना ध्यान के कोई कार्य सम्पन्न नहीं हो सकता। संसार का सृजन तो हमने बहुत किया किन्तु, आत्मा का, परमात्मा का सृजन हमने नहीं किया। संसार सृजन के आर्त, रौद्र, ध्यान, तप है। किन्तु आत्मा के सृजन के लिए है धर्म ध्यान एवं शुक्ल ध्यान। धर्म ध्यान साधन है, शुक्ल ध्यान साध्य है। इन्हें ही प्राप्त करना है। इसलिए **आचार्य कह रहे हैं ध्यान करो! अर्थात् आत्मा की ओर दृष्टि करो।**

भौतिक संसार तो बहुत देखा, अब आध्यात्मिक संसार देखो! रूग्ण

आत्मा का 'ध्यान-औषध' से उपचार करो। अत्यन्त कर्म मल आत्मा में लगे है उन्हें ध्यान के निर्मल जल से शुध्द करो।

ध्यान का अर्थ है- "अन्तस् आत्मा को प्रक्षालित करना।" बाह्य प्रवृत्ति का त्याग कर निवृत्ति में- जाना ही ध्यान है। आत्मा के करीब आकर आत्मा की पुकार सुनना ही ध्यान है। बालक स्वभावी, सरल एवं सीधे व्यक्ति को ही आत्मा में प्रवेश मिलता है।

"ध्यान है बचपन"- ध्यान है अबोधपन। आप स्वयं के बचपन का ध्यान करें- जब तुम्हारा अहंकार नहीं जागा था तब तुम्हें यह भी नहीं मालूम था जीवन मरण क्या है? हीरे एवं कंकड़ समान दिखाई देते थे- स्त्री पुरूष के प्रति समदृष्टि थी थाली में चांद का प्रतिबिम्ब पकड़ते थे ओस को मोती समझकर चाहते थे। किसी के भी घर में बिना अनुमति के घुस जाते थे। मिट्टी के खिलौनों से खेलते थे। रेत के महल बनाते थे और मिटाते थे। सांझ ढलते ही सो जाते थे। उस समय अहंकार, जागृत नहीं हुआ था, सरल बुध्दि थी। किसी का भला-बुरा नहीं सोचते थे। जीवन में सरलता थी। समत्व था। इसीलिए कह रहा हूं कि **ध्यान करने में वे ही सक्षम है जिनके मन में वक्रता नहीं है, उन्हें परमात्मा की बातें सरलता से ही समझ में आती है।**

जिस प्रकार शरीर को साबुन और पानी के माध्यम से धोया जाता है उसी प्रकार आत्मा को भी संयम, तप और ध्यान के माध्यम से धोया जाता है। आत्मा, स्नान के लिए सरोवर सदृश्य है जिसमें आत्मा बार-बार डुबकी लगाकर कर्म मल रहित शुध्द हो जाती है।

ध्यान एकान्त में किया जाता है अतः ध्यान की सिध्दि प्रत्येक आत्मा को नहीं होती। घर में भी नहीं होती। घर त्यागने से हो जाये यह भी जरूरी नहीं। ध्यान सिध्दि के लिए अन्तरंग एवं बहिरंग का त्याग आवश्यक है। ध्यान से संबंधित श्रेष्ठ से श्रेष्ठतम ग्रन्थ मिल सकते हैं, ग्रंथकार मिल सकते हैं, लेकिन अनुभवी कोई विरला ही मिलेगा। ज्ञान-सागर पार करने के उपाय युक्त अनेक ग्रंथ मिलेंगे। उपाय-सिध्दि बतलाने वाले पंडित मिलेंगे, पर उन्हें ज्ञान-सागर में फेंक दिया जाये, तो वे डूब जायेंगे क्योंकि उनके पास कोरा ज्ञान है, मात्र शब्द जाल है। आजकल जब यह सुनने में आता है कि धर्म ज्ञान, ध्यान शिविर लगाये जा रहे हैं तो मात्र हंसी आती है। यह तो उसी प्रकार है जैसे यह कहा जाये कि -

हाथी अपने सिर से हिमालय तोड़ रहा है, हिमालय को कुछ नहीं होगा मात्र हाथी का सिर ही लहूलुहान हो जायेगा। उसी तरह ध्यान शिविर है। ये ध्यान शिविर नहीं है धन शिविर है, अहंकार शिविर है। यदि काम-भोग ध्यान है तो उन्हें मुक्ति भी होना चाहिए। आत्मा का अनुभव भी होना चाहिए।

जिसके लिए लाखों खर्च कर रहे हैं उसे स्थाई क्यों नहीं बना लेते स्थाई बनेगा भी कैसे? जड़ के सद्भाव में ही वृक्ष स्थिर रहता है। तभी उसमें फल-फूल आदि लगते है। ध्यान शिविर लगाने का अर्थ है भोली भाली जनता को गुमराह करना। ध्यान शिविर त्यागियों के लिए नहीं पूंजिपतियों के लिए होता है। आखिर वे अपने पाप का भार कैसे हल्का करें? त्याग वे कर नहीं सकते, वासना में आपाद-कण्ठ डूबे हैं अतः शिविर के नाम पर धर्मात्मा बनने का इससे अच्छा मौका और कब मिल सकता है? भगवान महावीर की स्पष्ट घोषणा है कि आत्म दर्शन अर्थात् ध्यान सिध्दि परिग्रह का पूर्ण त्याग करने के उपरान्त ही होती है।

इसू ने बाइबिल में एक स्थान पर लिखा है कि- "सुई की छेद से हाथी निकल सकता है" यह स्वीकार है किन्तु एक परिग्रही को मुक्ति मिल सकती है यह संभव नहीं है। **गीता में कृष्ण ने अर्जुन से कहा है**- है अर्जुन! प्रज्ञा को प्राप्त करने के लिए विषय-वासना का त्याग आवश्यक है। विषय वासना में डूबे असंयमी को आत्मदर्शन नहीं होते। किसी अज्ञात ने कहा है- जो व्यक्ति गृहस्थ में रहकर आत्म ध्यान की बात करता है समझो मगर को लट्ठ समझकर सागर पार करने की बात कह रहा है। श्री शुभ चन्द्र आचार्य ने 'ज्ञानार्णव' में लिखा है कि खपुष्पमथवा श्रृग्डंम्खरस्थापि प्रतीयते, न पुनदेशकालेऽपि ध्यान सिध्दि गृहस्थाश्रमे"। अर्थात्- कदाचित् आकाश कुसुम अथवा गधे के सींग की उत्पत्ति देखी जा सकती है, लेकिन गृहस्थ को ध्यान सिध्दि नहीं हो सकती।

शायद अब बात समझ में आ गई होगी कि शिविर के माध्यम से आत्मा के दर्शन नहीं होते, बल्कि परिग्रह के पूर्ण त्याग के उपरान्त, आत्मदर्शन होता है। ध्यान के लिए, आत्म दर्शन के लिए शिविर की नहीं त्याग की आवश्यकता है। हा! इतना जरूर स्वीकार है कि १०-१५ दिन के शिविर के माध्यम से धर्म की महिमा समझी जा सकती है। उसे धर्म ज्ञान हो सकता है अनुभव नहीं। यदि आत्म दर्शन घर में सुलभ होते तो, भगवान महावीर और अन्य तेईस तीर्थंकर गृह-त्याग

जंगल की ओर क्यों जाते? ध्यान इतना सरल नहीं, जितना आप लोगों ने समझ रखा है।

क्रोध, मान, माया, लोभ, विषय वासना आदि मल ही आत्म-दर्शन के बाधक तत्व है, दुश्मन है। ध्यान सरोवर में डूबकर अन्तस् सत्ता से इन्हें पथक करना ही ध्यान हैं। भौतिकता के कोलाहल से परे होकर एकान्त में एकाग्रता के साथ ही ध्यान किया जाता है। जिस प्रकार शरीर गन्दा होने पर, हम बिना 'प्रपोगण्डा' या बिना प्रसारण किए एकान्त में जाकर स्नान कर लेते है उसी प्रकार ध्यानी पुरूष भी प्रसार या 'प्रपोगण्डा' नहीं करता, शिविर आदि का आयोजन नहीं करता। यदि सीखने से ध्यान आता तो भगवान महावीर ने अन्य सब कार्य क्यों किए? 'प्रपोगण्डा' क्यों नहीं किया? ध्यानी पुरूष बिना आडम्बर प्रयोजन के अर्न्तध्यान में लीन हो गये? अन्तस् स्नान में लीन हो गए। कर्ममल से रहित हो गए।

" ध्यान है आत्मिक सर्जरी।" इसमें किसी डाक्टर की आवश्यकता नहीं होती, किसी प्रकार के चीर-फाड़ की आवश्यकता नहीं होती- किसी प्रकार के औजारों की आवश्यकता नहीं होती- आवश्यकता होती है मात्र समर्पण की, आपरेशन के पहले रोगी को सचेत कर दिया जाता है कि जो वस्तु कहे वहीं खाना, बाकी का त्याग। यदि हमारी आज्ञा नहीं मानी तो खतरा हो सकता है। सोचनीय प्रश्न है कि मात्र शरीर के आपरेशन के लिए त्याग एवं एकान्त आवश्यक है तब आत्मा के आपरेशन में कितनी सावधानी आवश्यक है? ध्यान एकान्त में, त्याग के उपरान्त ही होता है। जो विषय-वासना, भोगों में लिप्त होकर ध्यान की बातें करते हैं वे मात्र आकाश कुसुम से सुगन्ध की बात करते हैं।

सांसारिक प्रंपचों व समस्त भौतिक सामग्री की आशा का त्याग कर, आत्मिक जगत में प्रवेश करना ही ध्यान है। संसार की मायावी क्षुद्र वस्तुओं के आकर्षण का त्याग कर बोध-दीप जलाकर, स्वयं का पथ प्रशस्त कर राह के कंटकों से हट कर चलना ही ध्यान है। मन की भ्रान्तियों को तोड़ना ही ध्यान है। इन्द्रियां और मन में जो बाहर से आता है। वह स्थाई नहीं है, आत्मा का स्वभाव नहीं है। जब तक बाहरी जगत शून्यन हो जाए, हम उसके प्रति पूर्ण उदासीन न हो जाए, तब तक ध्यान संभव नहीं है।

बाहरी उपलब्धि मानव के साथ नहीं जाती। इन्द्रियों से प्राप्त क्षणिक सुख यहीं छूट जाता है। अतः इन इन्द्रियों के प्रपंचों का त्याग कर भीतर प्रवेश करें। उसके लिए आवश्यक है- भौतिकता से परे हो, मोह माया का अन्तरंग से त्याग। स्वयं विवेक से सोचे- जो आंखो से देखा, कानों से सुना वहीं हमारा है, वहीं सत्य है। आंख-कान हमारे नहीं है। जो आंख-कान पर आकर रूक जाते है, वे सत्य को पाने से वंचित रह जाते है। लेकिन हम सब आंख-कान पर ही रूकते है। सत्य से वहीं तक हमारी पहचान हो पाती है। यह हमारी ना समझी है। यदि कोई हमारे चेहरे में लगे चशमे को ही आंख कह दे तो हम उसे क्या कहेंगे-पागल! मात्र यही दशा हमारी भी है। हमारा सारा परिचय इन्द्रियों से ही है। जहां हमारा मन उलझ कर रह जाता है। मानव मन में धर्म का उद्भव उसी क्षण होता है जब वह इन्द्रियों के द्वार बन्द कर, शरीर से ममत्व भाव त्याग कर, आत्मा में प्रवेश करता है। एक बार आत्मा में प्रवेश करने से उसका आमूल जीवन रूपान्तरित हो जाता है। सत्य का अनुभव करने वाले का, सारा जीवन सौन्दर्य से, शांति से, परम आनन्द के संगीत से प्लावित हो जाता है। जिसे जीवन में सुगन्ध का अनुभव हो गया, उसकी आनन्द तरंगे जनमानस को सहज में प्रवाहित करने लगती है। जिसका सामीप्य पाकर सारा जग शांति एवं शीतलता का अनुभव करता है। आत्मानुभव के बाद आत्मा में हिंसा, बुराई, घृणा द्वेश किसी को स्थान नहीं मिलता। मात्र सहज सुगंधित, सरस, पावन शीतल सुगन्ध रह जाती है।

आत्म ध्यानी को दुःखी नहीं किया जा सकता, सुखी नहीं किया जा सकता। परेशान नहीं किया जा सकता। प्रसन्न नहीं किया जा सकता। क्यों? क्योंकि उसके भीतर समता जागृत हो गई है। जहाँ अन्धकार का विरोध नहीं तो प्रकाश का समर्थन भी नहीं है, जहां सब हट गये हैं, सब की हलन-चलन बन्द है वहीं सम है। उसी का नाम 'ध्यान' है।

ध्यान सीखा नहीं जाता, स्व-पुरूषार्थ द्वारा, त्याग के उपरान्त जागृत किया जाता है। क्योंकि जो सीखा जाता है वह झूठा है। ध्यान का दूसरे से संबंध नहीं है। ध्यान के पूर्व चिन्तन मनन के लिए परालम्ब की आवश्यकता होती है। ध्यान तो स्वयं का परिवर्तन है। ध्यान-पुष्प, अहंकार से शुन्य, निर्दोष, शान्त भूमि पर खिलता है। जहां मन-सागर एकाग्र हो जाए किसी भी प्रकार की तरंग का जन्म न हो, विचार-पक्षी-उडाने लेना बन्द कर दे, चित्त शांत हो जाए, ताकि मन सरोवर में, मन-दर्पण में सत्य का प्रतिबिम्ब

पड़ने लगे, यही ध्यान है।

ध्यान, 'जीवन-यात्री' आत्मा को मोक्ष तक ले जाने वाला है। ध्याता का ध्येय जीवन-नैया को संसार-सागर से पार ले जाना है। ध्यान का अर्थ-शास्त्रों की सच्चाई, पर केवल विश्वास ही नहीं करना वरन् सच्चाई का प्रत्यक्षीकरण कर अपनी अन्तस् चेतना को जगाना और अनुभव द्वारा आत्मा का साक्षात्कार किया जाना। तभी शास्त्र, स्वाध्याय, संयम, तप, सफल है। ध्यान, तप, निर्जरा का असाधारण कारण है। आगम में कहा है- ''तवसा धुगइ कम्मस्य अर्थात् तपस्या से कर्म रूपी रज का विनाश होता है। तत्वार्थ सूत्र में भी कहा गया है-'' तपसा निर्जरा च'' अर्थात् तप से पूर्व संचित कर्मों की निर्जरा होती है। कर्मों का सर्वथा क्षय ही मोक्ष है। और तप ही कर्मों के पूर्ण क्षय में सक्षम है। वर्तमान में अक्ल अजीर्ण व्यक्ति है जो कहते है- ''आत्मा-शुध्द-बुध्द है।'' त्रैकालिक शुध्द है। शरीर को कष्ट देने से क्या होता है। क्या आत्मा शुध्द होती है। गंभीरता से विचार करें, कि दूध से घी प्राप्त करना है तो दूध को गर्म क़रना होगा, गर्म करने के लिए दूध आग पर रखेंगे या पात्र? पात्र को गरम करते है तो दूध स्वयं गरम हो जाता है इसी प्रकार शरीर को तपाने से उसमें स्थित, आत्मा स्वयं शुध्द हो जाती है। जब आत्मा शुध्द भाव से आभ्यन्तर तप को धारण करता है तो उसके कर्म उसी में दग्ध हो जाते है, जैसे आग के द्वारा स्वर्ण का मैल।

धर्म का फल है ध्यान, ध्यान का फल है निर्जरा, निर्जरा का फल है मोक्ष। धर्मात्मा पुरूष को ध्यान का अभ्यास तो करना ही चाहिए। ध्यान अभ्यास और ध्यान सिध्दि में पर्याप्त अन्तर है। ध्यान, धर्म का मौलिक आधार है, स्वयं के भीतर प्रवेश करना है, स्वभाव को प्राप्त करना है।

यदि एक धर्मात्मा निरतिचार वृत्त का पालन करें, पूजा करे, हवन करे, योग साधना करे, किन्तु ध्यान को न अपनाये तो उसको परिपूर्ण फल की प्राप्ति नहीं होगी। वह केवल साधना के बाहर ही बाहर भटका है उसे भीतर प्रवेश का ज्ञान नहीं है या अहंकार में भटका है। धर्म का महत्व तभी है जब वह ध्यान में उतर जाता है। ध्यान देने योग्य बात है कि इसके लिए विश्वविद्यालय या शिविर की आवश्यकता नहीं है, न ही विशेष विचारक होना आवश्यक है, विशेष शास्त्रों का पठन-पाठन भी आवश्यक नहीं है। योगासन भी जरूरी नहीं है। (ध्यान के लिए

शास्त्रों का निषेध नहीं कर रहा हूं) ध्यान के लिए आवश्यक है अन्तरंग-बहिरंग का पूर्ण-त्याग, संय । के प्रति सत्संगता का भाव, होश पूर्वक आचरण, विवेक सहित क्रिया। आचार्य सिध्दान्त चक्रवर्ती श्री **नेमीचन्द** ने ध्याता ध्यान में क्या करे इस बात का चित्रण किया है—

"मा चिट्ठह मा जंपह, मा चिन्तह किं वि होई थिरो"

अप्पा अप्पांम्मि रओं, इणमेव परं हवेक्ताणं (द्रव्य संग्रह")

अर्थात्— है ध्याता तू शरीर से चेष्टा मत कर, वाणी से कुछ भी न बोल और मन से कुछ चिन्तन न कर अपने आप में स्थिर हो जा वहीं तेरा परम ध्यान है उसी से तुझे अमरत्व की प्राप्ति होगी। ध्यान के लिए चेष्टा की आवश्यकता नहीं है, भीतर किसी भी प्रकार के शब्द निर्मित करने की भी जरूरत नहीं है, मन में चिन्तन की जरूरत नहीं है— योग का निरोध कर और अपने आप में स्थिर हो जा।ध्यान का यदि विरोध है तो परिग्रह से, विषय वासना से। लिप्त मन बाहर भाग जाता है बाहर से मल को ले आता है इसलिए, आत्मा के प्रति सचेत हो जाओ तथा वासना के प्रति जड़ बन जाओ, सो जाओ। बोध-दीप जला लो। वहीं परम ध्यान है। जो कुछ भी दिखाई पड़ रहा है वह तुम्हारा नहीं है। जिस-जिस को अपनामाना है उनसे संबंध तोड़ लो, चित्त को उन सबसे मुक्त कर लो, अपने आप में इतना खो जाओ कि तुम बचों, न परमात्मा की याद, उस घड़ी में केवल आत्मा का आल्हाद शेष रह जाये। असीम अपरिमित आनन्द जो व्यक्त न किया जा सके, कहने सुनने की बात न रह जाए, मात्र अमृत की झड़ी लग जाये सच्चिदानन्द अनोखा रूप रह जाये।

"अप्पा अप्पाम्मि रओ, इनमेव परं हवें झाणं" आत्मा स्वयं में रह जाती है, डूब जाती है, बस यही परम ध्यान है।

इस शाश्वत को पाये बिना यहां से विदा मत हो जाना, उससे मिले बिना जीवन का सामना मत बटोर लेना, उसका संगीत सुने बिना जीवन साज तोड़ मत देना। द्रव्य कमाने में लग जाओ, ध्यान द्रव्य न कमा सको ऐसा जीवन में मत करना धर्म राज के 'बहीखाता' में लिखाने योग्य धन, ध्यान है। यहां से पुण्य लेकर अवश्य चलना उसी में जीवन की सफलता है।

आज मिलन गीत कौन गाये!

बरस रहा अक्षय प्यार यहां।

आज वीणा को कौन बजाये!
आत्मा गा रही स्वयं यहां।।

अन्तरंग तप की सिध्दि के लिए, साधना के लिए, बहिरंग तप नितान्त आवश्यक है। बिना बहिरंग तप के अन्तरंग तप कार्यकारी नहीं है। दूध पास में हो, पात्र न हो तो दूध का महत्व नहीं है। बहिरंग तप साधन है तथा अन्तरंग तप साध्य है। बिना अन्तरंग तप प्राप्त किये बहिरंग तप का भी मूल्य नहीं है। मन में प्रश्न उठता होगा- इसका बहिरंग नाम क्यों है? मात्र बाहर से आता होगा इसलिए? पर अन्तरंग तप भी देखने में आता है। ध्यान वैय्यावृत्त आदि देखने में आते है। अन्तरंग तप में भावों की विशेषता होती है तथा बहिरंग में बाह्य साधनों की मुख्यता होती है। सम्यक् एवं मिथ्या दोनों बहिरंग के साधन के रूप में आते हैं। इसलिए इसे बहिरंग तप कहते है। जबकि अन्तरंग को मात्र सम्यक् दृष्टि ही साधता है। बहिरंग तप के ६ भेद है- (१) अनशन (२) अवमौदर्य (३) वृत्ति-परिसंख्यान (४) रस परित्याग (५) विवक्त शैय्यासन (६) काय-क्लेश।

अनशन तपः- जिसने अपने जीवन में अहिंसा, अपरिग्रह, अचौर्य, सत्य और ब्रह्मचर्य पांच महाव्रतों को अंगीकार किया है, उनका पालन कर रहा है, अपनी शक्ति का सदुपयोग कर रहा है, व्यर्थ का आस्त्रव नहीं होने देता मात्र संवर की ओर ही जिसका ध्यान है, जीवन बाहर की भौतिकता में भटक न जाए, भोग के मरूस्थल में खो न जाये, जीवन की शक्ति व्यर्थ न चली जाये, इसलिए अपनी शक्ति का सृजनात्मक उपयोग जो करता है वहीं वास्तव में अनशन कर सकता है। जिसने हेय और उपादेय को, सार और असार को ठीक से पहचान लिया है, सार-सार को ग्रहण करता है, असार का प्रत्येक क्षण संवर करता है, गलत को छोड़कर उपादेय को ग्रहण करता है वही अनशन तप में सफलता पाता है। धनन्जय कवि ने नाम-माला में मुनि शब्द के अनेक पर्यायवाची शब्द बताये है- ऋषि, यति, मुनि, संयत, प्रतिम, तपस्विन, संयमिन, योगिन, वर्णिन, साधु और भिक्षु। मुनि को भिक्षु शब्द से सम्बोधित किया गया है। भिक्षु का सामान्य अर्थ उसकी परिभाषा में भिखारी होता है। जिसे भोजन नहीं मिलता, भूखा ही मरता है, रोटी के टुकड़े के लिए तरसते हुए व्यर्थ में जीवन गंवा देता है। उसे आप भिक्षु कहते है। किन्तु यहां भिक्षु शब्द का गहन अर्थ लिया गया है, जिसके पीछे रोटी भाग रही है वही भिक्षु है, जिससे रोटी कह रही है- मुझे एक वार अपना लो,

ताकि तुम्हारा स्पर्श पाकर मैं कृतार्थ हो जाऊ, लेकिन जो रोटी की ओर देख ही नहीं रहा बल्कि आत्मा को देख रहा है वहीं भिक्षु है। जो रोटी का नहीं परमात्मा के सृजन का भूखा है। ध्यान-अमृत से अपनी प्यास-भूख मिटा रहा है जिसकी प्रत्येक श्वांस उस परम पावन पवित्र परमात्मा के मिलने के लिए मचल रही है, जिसने अनशन तप को स्वीकार किया तो वह रोटी के लिए नहीं आत्मोत्थान के लिए भिक्षु है, तपस्वी है, साधु है, मुनि है।

भगवान महावीर की महान देन है कि भिक्षु के चरणों में चक्रवर्ती को झुका दिया है। यह अलौकिक घटना है, राजो-महाराजों से श्रेष्ठ, पूज्य, उच्च मुनि को रखा है। यह अपने आप में आश्चर्यजनक है कि एक सम्राट चक्रवर्ती मुनि के चरणों में नतमस्तक होता है मुनि सम्राट चक्रवर्ती के चरणों में नहीं। भगवान महावीर कहते है कि **चक्रवर्ती भोग का शिखर है तो मुनि त्याग का असीम शिखर। व्यक्ति भोग से नहीं त्याग से महान बनता है। चक्रवर्ती मात्र अहंकार को एकत्र करता है तो मुनि आत्मिक गुणों को। चक्रवर्ती संसार की भौतिकता में खोया है तो मुनि आत्मा में। पर मुनि स्वयं को बचाने में लीन है।** चक्रवर्ती की यात्रा बाहर की है तो मुनि की यात्रा अर्न्तमन की है।

मुनि शब्द परम आदरणीय है। जो मौन साधना में लीन है, स्वयं के प्रक्षालन में लीन है, स्वयं का मालिक है जिसके पास किंचित भी परिग्रह नहीं है, जिसने तप का मोह त्याग दिया है उसे साधना का उपकरण समझ रहा है, संसार में मेरा कोई नहीं है, इस भेद ज्ञान की रेखा खींच दी है, कोई मेरा नहीं है, मैं अकेला हूं ऐसा एक मुनि सोचता है। लेकिन चक्रवर्ती कहता है- यह संसार मेरा है, इस पर मेरा अधिकार है, मैं इनका सम्राट हूं, वह भी मुनि के चरणों में झुक जाता है। एक चक्रवर्ती अतुल वैभव को त्यागकर मुनि बनना चाहता है किन्तु एक मुनि पद त्याग कर चक्रवर्ती नहीं बनना चाहता। भगवान महावीर के शब्दों में, जो अपनी आत्मा का मालिक है वही मुनि है। और आत्म-मालिक ही अनशन को उपलब्ध कर सकता है। अनशन का अर्थ है "आत्मिक भोजन" बाह्य भौतिक भोजन का त्याग कर आत्मा के निकट आना ही अनशन तप है।

कषाय विषयाहार त्यागो, यत्र विधीयते।
उपवासः स विज्ञेयः, शेषं लंधनकं विदुः।।

अर्थात् उपवास का अर्थ है कि, अन्न ही नहीं, इसके साथ विषय कषाय का त्याग करना। यदि उपवास के उपरान्त आत्मा के करीब न जाकर वासना के करीब पहुंच गए, कषायें और अधिक बढ़ गई तब वह उपवास नहीं लधन है। उपसमीप, वास-रहना, आत्मा के पास रहना उपवास है। उपवास में इन्द्रियों को, इच्छाओं को नहीं रोका, तो वह उपवास नहीं लधन है। अन्न का त्याग ही त्याग नहीं है, अपनी वासनाओं का त्याग भी उपवास में होता है। किसी प्रकार की आकुलता न रहे नेत्रों में भोजन सामग्री न दिखे वहीं उपवास है। आचार्य श्री समन्तभद्र स्वामी रत्नकरण्ड श्रावकाचार में बतला रहे है कि उपवास के दिन आप क्या करें-

पन्नचानां पापानामलं क्रियारम्भ गन्ध पुष्पाणाम्।
स्नानान्ज्जननस्याना मुपवासे परिहति कुर्य्यात्।।
धर्मामृतं सतृष्णः श्रवणाभ्यां पिवतु पाययेद्वान्यान्।
ज्ञान-ध्यान-परोवा भवतू-पवसन्नतन्द्रालुः।।

अर्थात्- **उपवास करने वाला पांच पापों का त्याग करे, शरीर का श्रृंगार न करे, स्नान न करे, सुगन्ध आदि का प्रयोग भी न करे, व्यापार भी न करे।** तो क्या अपना समय राग रंग में व्यतीत करे? नहीं! ये सब पाप आस्रव के कारण है। इनसे दूर रहें, किसी प्रकार की भीड़ भी एकत्र न करे।

"धर्मामृतं सतृष्णः श्रवणाभ्यां पिवतु" स्वयं अपने कानों से धर्म रूपी अमृत का पान करें, रोज तो विष का पान किया है किन्तु उपवास के दिन स्वयं के करीब आओ, अपनी आत्मा का निरीक्षण करो, भीतर जो गन्दगी के नाले बह रहे हैं एकान्त में उसका निरीक्षण करो, उनसे मुक्त होने के लिए धर्मामृत पियो ताकि तुम्हारी चिरप्यास शांत हो सके। अब तक तो उपवास करने वाले साधु संतों की हंसाई की है, निन्दा की है, क्या रखा है? शरीर को सुखाने में? भूखा रहने से क्या होता है? यह तो एक प्रकार से 'आत्म-हत्या' है। अब आप स्वयं निरीक्षण करें एक दिवसीय उपवास के परिणाम का एक दिन भोजन नहीं दिया तो क्या यह मर गया? नहीं। तो मैं क्यों इसके पीछे अपने आपको बरबाद कर रहा हूं? साधु सन्त किस प्रकार अपना जीवन यापन करते हैं उनका भी जीवन है मेरा भी जीवन है। वे सदा सुखी और मैं सदा दुखी रहता हूं लेकिन आज मुझे ज्ञात हो गया कि शरीर ही सब कुछ नहीं है। इस शरीर के अन्दर बैठा है वहीं सब कुछ है धर्म सब कुछ है। "अन्यान्

पाययेत्'' स्वयं धर्मामित् पियें और अन्य को भी पिलावें, अन्य को भी धर्म के मार्मिक रहस्य बतायें। सारा समय धर्म ध्यान पूर्वक व्यतीत करें। आलस्य को किंचित भी स्थान न दे। आत्म चिन्तक है-.

मन चंचल चालाक है, अनन्त इच्छाओं को जन्म देता है उसकी मांग कभी पूरी नहीं होती। मन हमेशा भविष्य की आकांक्षाओं की ओर ले जाता है। यही आकांक्षाएं मानव को गर्त की ओर बेबसी की ओर हृास की ओर ले जाती हैं। वहां तड़फने के लिए छोड़ देती हैं मन के पास सत्यता नहीं होती, तृप्ति का प्याला नहीं होता, वह मात्र आशा दिलाता है, सुन्दरता की ओर आकर्षित करता है। जबकि पास पहुंचने पर मृगतृष्णा सी सुन्दरता-असुन्दरता सिध्द होती है। मन प्रवाहमान है क्षण-क्षण में बदलता है, क्षण-क्षण में मांगता है, यह आगे-आगे ही ले जाता है किन्तु अन्त में पीछे रह जाता है। आशा-आकांक्षा जन्म लेती हैं- एक पूरी नहीं होती कि दूसरी उत्पन्न हो जाती है।

इच्छाओं का जन्म मन में होता है, आवश्यकताओं का शरीर में और, इन दोनों की पूर्ति में जीव का कचूमर निकल जाता है। उदाहरणार्थ- जब भूख लगती है तब शरीर भोजन की मांग करता है क्योंकि शरीर से आवश्यकता ने जन्म लिया, भोजन देने के उपरान्त आवश्यकता समाप्त हो गई, पेट कहता है- बस। जब खाली हो तब भरना बाद में किन्तु, मन कहता है- और। और। क्या मालूम बाद में मिला या नहीं। पेट भोजन की मांग करता है किन्तु मन स्वादिष्ट विशेषण लगा देता है। शरीर कहता है प्यास लगी पानी चाहिए मन कहता है पानी नहीं शर्बत। शरीर की आवश्यकता का जहां अन्त है मन का वहीं प्रारंभ है। आवश्यकता सुन्दर है, इच्छा असुन्दर। पेट रोकता है, इच्छा दौड़ती है। पेट इशारा करता है मन भटकता है।

उपवास का अर्थ है शरीर की अनावश्यक आवश्यकता को समाप्त कर देना, भोजन नहीं देना किन्तु मन कहता है कि, मैं शान्त रहने वाला नहीं हूं मैं चाहता हूं उपवास के बाद कल स्वादिष्ट भोजन मिलें। उपवास का प्रतिफल स्वर्ग मिले। इन आकांक्षाओ को जन्म देना मन का काम है इसलिए उपवास के साथ मन को रोक लेना, प्रभु भजन में लगा लेना।

उपवास का अर्थ है आवश्यकता को कम करना किन्तु मन का अर्थ है इच्छा को बढ़ाना। आवश्यकता कम करना सहज है क्योंकि शरीर मौन है उसे वश में किया जा सकता है। साथ ही यह अत्यधिक नाजुक होता है। यदि आप इसे लम्बे समय के लिए भोजन नहीं देते तो यह समायोजित हो जाता है, गूंगा बन जाता है। उपवास करने पर यह शरीर दो- तीन दिन तक भोजन की रट लगाता है कि- मैं भूखा हूं मुझे भोजन दो। किन्तु इसके बाद शान्त हो जाता है किन्तु मन तो स्वर्ग की कल्पना में खो जाता है।

अनन्त इच्छाओं का मानव स्वयं पोषण करता है। फिर ये मानव का शोषण करती है, ये डायन है जो तड़फा-तड़फा कर मानव को समाप्त कर देती है। आवश्यकताएं सीमित है किन्तु इच्छाएं असीमित है। आपकी आवश्यकता मात्र भोजन, मकान, व्यापार आदि की है, इतनी ही आवश्यकताएं है, शरीर की किन्तु भगवान महावीर की वीतरागता इसे भी स्वीकार नहीं करती। प्रेम के विरोध में ब्रह्मचर्य धर्म का पालन करो, भोजन के विरोध में उपवास करो, गृह के विरोध में गृह त्याग करो, मुनि बनकर विहार करो, घूमो-फिरो, एक स्थान पर मत रूकों नहीं तो उसे भी अपना घर बना लोगे। ममत्व परिणाम जागृत हो जायेगा। मंदिरों में ठहरो तथा विहार करो। इन सब को स्वीकार कर लेने से शरीर की आवश्यकताएं समाप्त हो जाती है। संसार भ्रमण का मार्ग बन्द हो जाता है। परमात्मा का द्वार खुल जाता है। परमात्मा का द्वार तभी खूलता है जब शरीर के साथ मन को जीतकर वश में कर लेते हैं। उपवास से शरीर तथा प्रभु भजन से मन वश में होता है।

उपवास के अंगीकार से शरीर की आवश्यकता समाप्त हो लेकिन, मन की अनन्त इच्छाएं समाप्त न हो तो उपवास सार्थक नहीं हो सकता। इच्छाएं, आवश्यकताओं से विपरीत हैं। दोनों का कार्यक्षेत्र अलग-अलग है। मकान चाहिए यह शरीर की मांग है किन्तु अच्छा, वातानुकूलित, भव्य मकान चाहिए यह मन की इच्छा है। शरीर मात्र मांगता है किन्तु मन उसमें अच्छे बुरे का विशेषण लगा देता है। इच्छा भ्रामक टेढ़ी-मेढ़ी होती है जबकि आवश्यंकता सीधी और सरल होती है। शरीर कहता है स्पर्श करने को प्रेम करने को स्त्री चाहिए तब मन कहता है स्त्री ही नहीं विश्व-सुन्दरी यौवना। शरीर कहता है आराम करने को बिस्तर चाहिए तब मन कहता है 'डनलप' वाला। इच्छाएं हमेशा मानव को असंभव की ओर ले जाती हैं जिसके कारण मानव अपने आप में बैचेन हो जाता

है। शरीर संभव एवं सरल की ओर ले जाता है। यद्यपि मांग दोनों की है। शरीर की भी, मन की भी, किन्तु, मन की मांग खतरनाक है, भयानक है। गर्त में अंधकार में ले जाने वाली है। इच्छाएं मानव को मूर्ख बनाती हैं तथा एक ऐसे यात्रा पर ले जाती हैं जहां प्रकाश नहीं, अन्त नहीं, पूर्णता नहीं वहां विराम कैसे होगा? इसलिए दुःख से, पीड़ा से, भटकन से बचना चाहते हो तो, उपवास के साथ-साथ उनका भी त्याग कर दो, उन्हें भी जड़ से काट दो निर्मूल कर दो ताकि तुम्हारा उपवास सफल हो। इच्छाएं बाधक है, आत्मा के निकट पहुंचाने वाले मार्ग के पत्थर है जो राह रोकती है, बबूल के कांटे सम है जो, घाव भी पैदा करती है। भविष्य की मांग से परिपूरित रहती है किन्तु भविष्य को बनने नहीं देती, उनमें रोड़ा अटकाती है **जहां इच्छा समाप्त होती है वहीं से परमात्मा का सृजन होता है। इच्छा विहीन उपवास ही समयातीत बनाता है, विग्रहातीत बनाता है, कर्मातीत बनाता है।**

"अनशन तप का अर्थ है आत्मा की विशुद्धि।"

अवमौदर्य तपः- यह दूसरे नम्बर का तप है लेकिन इसे अनशन तप से बड़ा तप माना है। अनशन तप में पूर्ण भोजन का त्याग है। सम्पूर्ण भोजन का त्याग करना सरल है, आसान है जल्दी कर देंगे। आचार्य कह रहें है कि सामने पकवानों से सजी थाली आ जाये उसके उपरान्त त्याग करों या भूख से कुछ कम खाऊंगा तभी तुम्हारा त्याग है।

अप्राप्त वस्तु को क्या त्यागे,
प्राप्ति को त्यागे सो त्यागी है।।

जो मिला नहीं उसे क्या त्यागना। त्यागने के बाद भोजन की, पकवान की चाह न करना, केवल त्याग के आनन्द का, अनुभव करना, अपने आप को धन्य समझना कि, मैं आज भोजन से बच गया, आज मैंने रसना इन्द्रिय को जीत लिया. भोजन को मैंने नहीं खाया बल्कि आज मैंने भोजन को खाया है। भोजन ने मुझे नहीं जीता, बल्कि मैंने भोजन को जीता है। अब तक भोजन साध्य और मैं साधन था, किन्तु आज भोजन साधन और मैं साध्य हो गया। अवमौदर्य का अर्थ है- "भूख से कुछ कम खाना।" भोजन से आशक्ति भाव का त्याग करना। जितना आवश्यक था उससे भी कम ग्रहण करना। जितना शरीर चलाने के लिए जरूरी है, इतना ही लेना। अधिक ऊर्जा का निर्माण नहीं होने

देना। जितना तप, ध्यान, स्वाध्याय के लिए आवश्यक है, उतना ही देना। अनशन तप में शरीर को ऊर्जा मिलना बन्द हो जाता है किन्तु अवमौदर्य तप में आवश्यकता अनुसार उसे ऊर्जा मिलती है। जिस प्रकार गाड़ी के लिए पेट्रोल आवश्यक है। उसी तरह शरीर को चलाने के लिए कुछ मात्रा में भोजन आवश्यक है। ज्यादा पेट्रोल देने पर अग्नि भड़क उठेगी। उसी तरह ज्यादा ऊर्जा मिलने पर शरीर का उपयोग बदल जायेगा। आप ही सोचें- आपको अतिरिक्त धन मिल जाये तो उसका क्या करोगे? आपकी वासनाएं नहीं भड़केगी? उसी तरह शरीर में अतिरिक्त शक्ति का संचय होने पर वासना की ओर झुकेंगे। यदि मानव नियमित रूप से पौष्टिक, स्वादिष्ट भोजन ग्रहण करे, तो नियम से उसमें काम भोग प्रवृत्ति बढ़ेगी, क्योंकि अधिकशक्ति उत्पन्न होगी और उसका उपयोग भी आवश्यक हो जायेगा। इसलिए शक्ति सन्तुलन के लिए अवमौदर्य तप को रखा है क्योंकि साधना के लिए शरीर आवश्यक है, बिना शरीर के साधना संभव नहीं है और शरीर की सुरक्षा के लिए भोजन आवश्यक है। लेकिन कितना? उतना ही जो आत्मा को जगाने, रोशन करने में सहयोगी हो। इतना अधिक मत देना कि वासना की दौड़ शुरू हो जाये। आत्मा तक पहुंचा देना ही ऊनोदर तप का कार्य है।

वृत्त परिसंख्यान तपः- आचार्यों ने कहा- कम खाना, इसका य अर्थ नहीं कि भूख लगी और भोजन के लिए दौड़ गये। क्योंकि कम खाओगे तो भूख जल्दी लगेगी इसीलिए, भूख की तीव्रता से सीधे भोजन की ओर मत जाना, विधिपूर्वक नियम लेकर जाना। विधि न मिले तो मन को मलिन मत करना। उस दिन आपने लाभान्तराय कर्म का उदय समझना।

वृत्ति परिसंख्यान तप का अर्थ है- भोजन के प्रति उपेक्षाभाव "असाता वेदनीय कर्म के उदय से भोजन करना पड़ रहा है। स्वयं का विचार करना। स्वयं के द्वारा स्वयं की परीक्षा करना ही वृत्ति परिसंख्यान तप है। यह तप दूसरे तप से और भी बड़ा है- दूसरा तप (अवमौदर्य तप) स्वाश्रित था किन्तु, इसमें भोजन का मिलना कर्म आश्रित है। रागद्वेष जनित कर्म के मलिन संस्कारों को तोड़ने के लिए इस व्रत का पालन करते है।

रस परित्याग तपः- यह चतुर्थ स्थान का तप है। चतुर्थ होते हुए भी अपना प्रथम स्थान रखता है। विधि नियम पूर्वक भोजन

साधकों सन्मुख है, उस समय अपनी रसना इन्द्रियों से पूछो क्या खाना चाहती है? जो मांग हो उसे तुरन्त अस्वीकार कर देना। क्योंकि स्वाद के लिए नहीं शरीर संचालन के लिए खाना है, गढ्ढा समझ कर भर देना। क्योंकि शारीरिक-स्वाद रस का त्याग कर आत्मिक रस पान करना है। आत्मिक रस का आनन्द लेना है।

भोजन एक प्रकार का नहीं होता, इसमें भी कई प्रकार होते है, कुछ भोजन इस प्रकार का होता है जो आत्म प्रवेश में बाधक होता है। बाहर की ओर ही ले जाता है वह रूग्ण भोजन है- वासनाओं को जन्म देता है जैसे- मांस, मदिरा आदि राक्षसी भोजन है, मात्र दानव ही बनाता है। कुछ भोजन इस प्रकार का होता है जो परिणामों को शांत नहीं रहने देता, साथ ही शरीर को पुष्ट बनाने की अपेक्षा उसे और कष्ट देता है, इसमें शुध्द एवं अशुध्द दोनों प्रकार का भोजन है। यह बैचेनी उत्पन्न करता है- इस श्रेणी में अत्याधिक गरिष्ठ भोजन शामिल है।

कुछ भोजन इस प्रकार का होता है कि उसके ग्रहण करने से चैतन्य आत्मा का जन्म ही नहीं होता। वह शरीर को हमेशा बेहोश किये रहता है। रसना इन्द्रियों में उसका ही एक छत्र राज्य होता है जैसे- आलू, प्याज, चाट, मसाला ये रसना इन्द्रियों को अपना दास बना लेते हैं।

कुछ भोजन इस प्रकार का होता है जो आत्मा के अन्तः प्रवेश में परम सहायक होता है नीरस शुध्द आहार। इसे ग्रहण कर शरीर अन्तः प्रवेश एवं अन्तर यात्रा की साधना में लग जाता है। अतः रस परित्याग का अर्थ है ऐसा भोजन जो अन्तर यात्रा में परम सहायक हो, रसना इन्द्रियों की लम्पटता को जीत कर, मात्र शरीर संचालन में सहायक हो, अनिष्ट भावना से रहित, नीरस भोजन।

विविक्त शय्यासन तप :-

साधना करोगेकर्म का क्षय होगा, सिद्धियाँ उपलब्ध होगी। परमात्मा का बीज अभय की भूमि पर अंकुरित होता है। तीन लोक की सम्पदा प्राप्त करने जा रहे हो, भय को जीत लेना। एकान्त में आसन लगाना एकान्त में सोना, उपसर्ग आदि होंगे, विचलित न होना, अपनी साधना का पूरा अधिकांश समय एकान्त में गुजारना, अपनी आत्मा से बातें करना। अब तक सबके साथ रहे, अकेले नहीं रहे, क्योंकि अकेलेपन

में मानव डरता है इसलिये मित्र आदि बना लेता है या शादी कर लेता है। किन्तु अकेले में ही आत्मा का निरीक्षण किया जाता है। अकेले में भय लगता है क्योंकि अकेले चलते हुए भी हमारा मस्तिष्क हमें अकेला नहीं रहने देता। मनुष्य अकेला है, अकेला होते हुए भी वह अकेला नहीं रह सकता। ढोल की खाल की तरह जो उसे घेरे है वह है समान समाज एकांकी चेतना की विध्वंसक इकाई है। हम स्वयं को गुप्त नहीं रख सकते और प्रगढ कर संकटों को आमंत्रित करते रहते हैं, और ऐसा नहीं होता तो, एकान्त में किया गया पाप, अपराध, कमजोरी प्रगट होकर अपनी दुश्मन नहीं बनती। अब तक तो हम भीड़ में रहकर पापों को छुपाते रहे, किन्तु अब एकान्त में रहकर पापों को उघाड़ना, त्याग करना और अन्तर्मन में गमन का प्रयास करना चाहिए।

एकान्त में रहकर अपने आपको देखना, जंगल में रहकर परिवार जन की याद न करना, साथ ही एकान्त का अँर्थ है स्नेही जनों की यादों का त्याग कर 'स्व' आत्मा का दर्शन करना।

एकान्त का यह अर्थ नहीं कि परिवार जन बुरे हैं। ये न बुरे हैं न अच्छे हैं। अच्छे या बुरे ये तो मानव अपनी मनोकामना के अनुसार विशेषण लगता है। सत्य की उपलब्धि मात्र जंगल में होती है। ऐसी बात भी नहीं है यदि यह सम्भव है तो जंगली जानवरों एवं वृक्षों को सत्य की उपलब्धि हो जाती? किन्तु ऐसा भी नहीं है। परमात्मा तो केवल कामी, भोगी, विषयी-कषायी के पास आने से डरता है। भौतिक आकर्षण मन को बांध न ले इसलिए एकान्त साधना पर बल दिया जाता है। एकान्त में परिवार मित्रों से अलग रहकर हमेशा भय से जागते रहते हो इसलिए भी साधना पर बल दिया जाता है। यदि जंगल में भी इष्ट मित्रों की याद बनी रही, परिवार जन की याद बनी रही, तो वह एकान्त - एकान्त न रहा। एकान्त का अर्थ है अपने को भीड़ से पृथक कर लेना। अन्दर क्रोध मान माया लोभ की जो भीड़ है, उसका भी पूर्णतया त्याग कर देना इन्हें द्रव्य एवं भाव दोनों प्रकार से छोड़ देना। एकान्त में रहकर भयभीत न होना। आत्म बल से साधना के अतल गहरे तक उतर जाना ही विविक्त शय्यासन तप है।

काय - क्लेश तप :-

जिस शरीर की अनन्त कामनाओं के पीछे परमात्मा को बिसरा दिया, उस शरीर की दासता त्यागना, उसका श्रृंगार नहीं करना, शरीराश्रित मत चलना, बल्कि शरीर को आत्माश्रित कर देना शरीर के गुलाम नहीं मालिक बनकर रहना। इसकी काफी सेवा की, मखमल पर लिटाया, अब शिला पर 'लिटाना। इस भौतिकता की ठण्डी-ठण्डी बयार दी, अब अनन्त, असीम, आकाश की हवा से दिगम्बरत्व बना साधना के पथ में लगा देना। इसे काफी रसना इन्द्रिय द्वारा भोग कराया अब अनशन तप करवाना। निःसंक्लेश भाव से गर्मी में शिला खण्ड पर, ठण्डी में नदी के तीर पर, वर्षा में वृक्ष तले खड़ा रहना। निर्मल शान्त चित्त से साक्षी पूर्वक देखना और उत्साह पूर्वक सहन करना ही काय क्लेश तप हैं।

काय क्लेश तप का अर्थ है, शरीर मेरा नहीं है, मात्र आत्मा ही मेरी है। अब मैं शरीर के लिए नहीं, शरीर मेरे लिए है। यह साधना करने के लिए मिला है। अतः मैं इसका सदुपयोग कर रहा हूँ।

"शरीर तो मात्र एक बहता हुआ प्रवाह है जो इसे किनारा मान लेते हैं; वे उसमें डूब जाते हैं और समाप्त हो जाते हैं। किन्तु इसे जन्म देने वाला अमृतत्व है जो इसे पहचान लेता है, त्याग में, साधना में उतर जाता है वह शाश्वत् जीवन को उपलब्ध कर लेता है।

भगवान महावीर इस बात के द्योतक हैं कि शरीर सब कुछ नहीं है आत्मा सब कुछ है। जिस प्रकार मैने अहिंसा व्रतों को पालकर, उत्कृष्ट साधना के माध्यम से, परम तत्व को पाया है, उसी तरह तुम भी पा सकते हो।

भगवान बाहुबली १२ वर्ष तक आत्म ध्यान में लीन रहे, उन्होंने आत्म रस को प्राप्त कर लिया था। आत्म चिन्तन, आत्म-ध्यान में इतने गहरे पहुँच गये थे कि, शरीर के ऊपर साँप, बिच्छु, कीड़े-मकोड़े ने अपने-अपने रहने का स्थान बना लिया। शरीर पर मिट्टी जम गई, लताएँ उग गई फिर भी आत्म ध्यान से विचलित नहीं हुए।

बालमुनि गज कुमार। जिनके सिर पर धधकती हुई अंगारों से युक्त सिगड़ी रख दी गई, फिर भी विचलित नहीं हुए। अल्पायु में इतनी दुःसाहस, कठोर साधना एक आत्म ज्ञानी ही कर सकता है।

सुकुमाल मुनि! जिन्हें कि स्वयं का बाल यदि बिस्तर में गिर आयें तो चुभता था। ककड़ी के नाम से जुकाम हो जाता था- जब आत्म साधना में गहरे उतरे तो शरीर का भी मान नहीं रहा, सियालिनी पैर खा रही है, शरीर पर उपसर्ग हो रहा है, पर शरीर के प्रति इतने निर्ममत्व हो चुके हैं कि उसका, किंचित भी ख्याल नहीं किया।

जीवन रस प्राप्त करना स्वयं पर निर्भर करता है। मानव चांहे तो इस क्षण भंगुर शरीर से शाश्वत् चेतन आत्मा को प्राप्त कर सकता है। गहन अन्धकार युक्त रात्रि में धवल आलोक के दर्शन कर सकता है। फिर प्रकाश में अन्धकार के दर्शन कर सकता है। जो अन्धकार में प्रकाश के दर्शन करते हैं वे शरीर के तल पर नहीं, आत्मा के तल पर मिलते हैं। अभी-अभी कहा है- सर्जरी क्या है?

काय क्लेश का अर्थ है गहरी सर्जरी करने वाला-डाक्टर। कोई डाक्टर भी इतनी गहरी सर्जरी में सक्षम नहीं है। क्योंकि यह सर्जरी शरीर से नहीं आत्मा से सम्बन्धित है। इसमें हड्डी-माँस-मज्जा नहीं काटता, मात्र-आत्मा में चिपके हुए कर्म स्कन्धों को काटता है। किसी प्रकार के औजारों की जरूरत नहीं होती। जरूरत है मात्र, संयम की, सम्यक् साधना की, सम्यक् काय क्लेश की। इससे बड़ी महत्वपूर्ण चिकित्सा आत्मा की और नहीं है। और यह चिकित्सा तभी सम्भव है जब सहज भाव से, अन्तरंग बहिरंग परिग्रह का त्याग हो जाता है, तब निश्चित कर्म संस्कार आत्मा से अलग हो जाते हैं।

ऊँचाइयों एवं गहराइयों को छूने की शक्ति मानव में आज भी विद्यमान है। किन्तु, ये शक्तियाँ सुपुप्त हैं। इनका प्रयोग मानव न्यूनता को प्राप्त करने में व्यय कर देता है, इसीलिए वह अपने समक्ष हीनता का अनुभव करता जा रहा है। अपने ही हाथों दीनता एवं हीनता को प्राप्त करने से बड़ा दूसरा कोई पाप नहीं है।

भौतिक जगत के आकर्षण के कारण ही मानवीय शक्तियों का ह्रास हो रहा है। और आत्मा कर्म मल से मलीन होती जा रही है। मानवीय शक्ति की अग्नि पर राख पड़ गई है जो कर्म-मल को जलाने में सक्षम नहीं है। मनुष्य अपनी शक्ति का प्रयोग एक साथ दो जगहों के लिए नहीं कर सकता जब भी प्रयोग होगा, एक ही जगह के लिए

होगा। मानव दृष्टि में तप का महत्व भले ही क्षीण हो गया हो किन्तु संसार के समस्त धर्मों ने किसी न किसी रूप में इसे स्वीकार है। इसकी आराधना की है

"तपो मं हृदयं साक्षादस्मऽहं तपसोऽहं"

अर्थात यह तप प्रत्यक्ष मेरा ह्रदय है और मैं भी तप का हृदय हूँ। तप और मैं एक रूप हैं। अब आप ही सोचिए। यह सृष्टिकर्ता परमात्मा का वचन है कि मेरा दर्शन वहीं मानव कर सकता है जिसने तप के माध्यम से, अपनी वासनाओं को जलाकर राख कर दिया हो। तप का हृदय कहाँ है अर्थात्, आत्मा को तपा कर निखारना आत्मा का स्वाभाव है। तप को कितनी श्रेष्ठ एवं उच्च श्रेणी में रखा गया है। आप प्रत्येक समय तपस्या कर रहे हैं। बिना तप के कोई भी वस्तु प्राप्त नहीं होती।

गायन वादन में प्रवीण होने के लिए, एक कलाकार, एक ही अलाप को घंटो तक कई दिनों तक घोटते रहते हैं। प्रवीणता के पश्चात कहते हैं ये मेरी तपस्या का फल है। इसके फलस्वरूप मैं एक अच्छा कलाकार बन गया- इसके पीछे मैंने दिन-रात एक किये हैं। तब इसका फल पाया है। सारंगी सीखने वाला प्रतिदिन, प्रातः, सांझ, तीन-चार घण्टों तक आसन लगाकर, सांरगी पर उन्हीं स्वरों का वर्षों तक अभ्यास करता है, तब कहीं जाकर सांरगी की संगीत साधना में सफलता प्राप्त करता है।

विद्यार्थी घंटो एक पदार्थ पर प्रयोगशाला में शोध करता है। कब दिन ढल जाता है पता नहीं चलता, जब चपरासी आकर कहता है, प्रयोगशाला बन्द करने का समय हो गया, तब उसे होश आता है। विद्यार्थी की तपस्या का स्थान विद्यालय, महाविद्यालय, प्रयोशाला आदि स्थान है।

वैज्ञानिक भी किसी वस्तु के अन्वेषण के पीछे अपना समग्र जीवन व्यतीत कर देते हैं चार्ल्स डार्विन "बीगल" नामक जहाज पर एक बार जो चढ़ा तो सात वर्षो के बाद आया। वहाँ उसने गहन परिश्रम किया। रात-दिन सृष्टि के निरीक्षण में रत् रहा।

आयजेक न्यूटन जब भी अपनी प्रयोगशाला में जाता था तो

क्षुधा-तृषा तक भूल जाता था। गैलीलियो और आइंस्टाइन ने भी अपनी धुन में मगन रहते थे। ये सभी अपने कार्य क्षेत्र के तपस्वी माने गये है।

आज देश में ६० लाख से अधिक ईसाई उपदेशक स्वधर्म का प्रचार कर रहे हैं। गहन अरण्य स्थानों में जाकर, वहाँ के लोगों को सेवा-भाव से आर्कषित कर अपनी जाति का बना लेते हैं। अपने देश ईष्ट-मित्रों, सखा, अन्न-जलवायु, सबका मोह त्याग कर अपनी स्वेच्छा से वर्षों रहते हैं। वन्य प्राणी यज्ञ नृशंस की बहुविध सेवा करते हैं। यदि यही परिश्रम आत्मोथान के लिए करें तो उनका कल्याण साथ ही विश्व का कल्याण हो जायेगा।

वेद परम्परा में चन्द्रायण व्रत का बहुत महत्व है। मुसलमानों में रोजा का अपना विशेष स्थान है। रोजा के समय चालीस दिन तक चना खाना, आयात का जाप करना, इनका मुख्य उद्देश्य रहता है। पाँचो इन्द्रियाँ रोजा करती हैं। किसी एक इन्द्रिय का गलत प्रयोग होने पर उस इन्द्रिय का रोजा टूट जाता है। रमजान के समय ये दिन में गले के नीचे थूक भी नहीं गुटकते। प्रत्येक धर्मानुयायी अपने धर्मानुसार तपस्या करते हैं।

तप की महिमा ही ऐसी है इसीलिए, महर्षियों, तपस्वियों, और साधू-सन्तों ने इसे स्वीकार किया है।

तप का अर्थ है तपाना। किसे? चेतन या अचेतन को? दोनों ही तपने के बाद निखरते हैं। पाषाण युक्त सोने को तपाने के बाद ही प्रखर शुद्ध किया जाता है। साथ ही विशेष आकार में ढ़ाला जाता है। उसी प्रकार अपने जीवन को विशेष आकार देने के लिए, व्यवस्थित करने के लिए, शरीर को कष्ट देना ही तप है। तप के तीन भेद किये हैं -

(१) सात्विक तप (२) राजस तप (३) तापस तप

सात्विक तपः-

देह विषयक सुख का पूर्णतया त्याग करके, आत्म साधना में लीन

हो जाना, नर से नारायण बनने की साधना में उतर जाना ही सात्विक तप है। जो अपनी आत्मा को निखारने में लग गए, समस्त जगत् के प्राणियों के अभयदान में तत्पर हो गये, वे ही तपस्वी हैं। चरम त्याग को अपनाकर अन्तर आत्मा के सृजन में लग जाना ही सात्विक तप है। भगवान महावीर, राम ने सात्विक तप को अपना कर ही विश्व को अभयदान दिया। परमात्म तत्व का अनुभव किया। सात्विक तप को ग्रहण करने वाला चन्दन के समान शीतल और परोपकारी होता है। चन्दन स्वयं शीतल होता है, सुगन्धित होता है तथा दूसरों को भी शीतल एवं सुगन्धित करता है। जिस कुल्हाड़ी से चन्दन काटा जाता है। कटने के उपरान्त कुल्हाड़ी के मुख को भी सुगन्धित कर देता है इसी प्रकार सम्यक साधक सात्विक तप को धारण करता है।

राजस तप :-

इसका नशा बहुत खराब होता है। अहंकार पूरित होता है। हमेशा दूसरों को नीचा दिखाने की भावना को जन्म देता है। राज्य, धन, वैभव, शस्त्र, कीर्ति, लोकप्रियता विश्व में प्रतिष्ठा अधिकार कैसे प्राप्त हो इन सब की उपलब्धि के लिए किया गया तप राजस तप कहलाता है। मान, सम्मान, अहंकार का पोषण होता है।

तामस तप:-

यह दूसरों का नाश करने के लिये किया जाता है। ईर्ष्या, द्वेष, मात्सर्य के भावों से किया गया तप तामस तप कहलाता है। पंचेन्द्रियों का दास बनकर निकृष्ट लालसाओं को पूर्ण करने के लिए जो तपस्या की जाती है, उसे तामस तप कहते हैं। रावण कहता था- राम की मृत्यु हो जाये। रावण का लक्ष्य मात्र राम को मारना था, चोर, लुटेरों को कुकर्म करते समय काफी कष्टों को सहना पड़ता है; घण्टों चौकसी करनी पड़ती है, कठिन से कठिन स्थानों पर चढ़ना पड़ता है। प्राणों की बाजी लगानी पडँती है। कई तपसी द्वेष भाव से तपस्या करते हैं, धुनि लगाकर पंचाग्नि तप को करते हैं। उनका अभिप्राय मात्र दूसरों को कष्ट पहुँचाना रहता है, इस प्रकार की तपस्या को तामस तप कहते हैं।

भगवान महावीर ने राजस एवं तामस तप को मिथ्यातप कहा है। सम्यक् तप उसे माना है जिसमें साधक, आत्म-ज्ञान की भावना से ओत-प्रोत दृढ़ प्रतिज्ञ होता है। मन में किसी प्रकार की चाह न हो, निर्मोही बनकर बाईस परिषहों को उत्साह पूर्वक सहन करके साधना करता है- वही सम्यक् सात्विक तप है।

तप के अभाव में आत्म उन्नति सम्भव नहीं है, चाहे भौतिक सम्पदा हो या लौकिक, वैभव हो या आध्यात्मिक वैभव हो या आलौकिक सम्पदा हो, बिना श्रम के, बिना मूल्य के प्राप्त नहीं होती। सुख, वैभव ऐश्वर्य, उन्हें ही मिलता है जिसके पास तपस्या- द्रव्य का पुण्य हो। मानव के पतन का क्या कारण है? तप का अभाव तप का उल्टा होता है- पत। पत का अर्थ है पतन। एक विद्यार्थी जब ज्ञान प्राप्ति में तपस्या का त्याग कर देता है तब, उत्तीर्ण नहीं हो पाता। बड़ा-छोटा कोई भी काम करें उनकी उपलब्धि के लिए में तपस्या छुपी होती है।

एक किसान तेज धूप में दिन भर काम करता है, रात को खेत की रखवाली करता है तब कहीं जाकर फसल प्राप्त करता है। किसान की तीन चार माह की तपस्या के बाद अन्न प्राप्त करता है। तब आप सोचिये! क्या आपको सांसारिक वैभव बिना तपस्या के प्राप्त हो जायेंगे या हुए हैं? नहीं!

प्रेम साधक प्रेमी-प्रेमीका घण्टों एकान्त में एक दूसरे का इन्तजार करते हैं, बैठे रहते हैं तब कहीं उन्हें क्षणिक क्षण भंगुर दैहिक सुख की प्राप्ति होती है, उसमें भी उन्हें भय लगा रहता है। इस लौकिक प्रेम के लिए जब तपस्या करनी पड़ती है तब अलौकिक अक्षय प्रेम के लिए तप तो निश्चित ही जरूरी है।

प्रत्येक व्यक्ति तपस्या का स्थान अलग-अलग है-

गृहस्थ की तपस्या का स्थान घर है।
विद्यार्थी की तपस्या का स्थान विद्यालय है।
वैज्ञानिकों की तपस्या का स्थान प्रयोगशाला है।
व्यापारियोंकी तपस्या का स्थान दुकान है।
भौगियों की तपस्या का स्थान वैश्यालय है।

प्रेमियों की तपस्या का स्थान एकान्त है।
चोरों की तपस्या का स्थान जंगल है।
भक्त की तपस्या का स्थान मंदिर है।

साधु की तपस्या का स्थान पर्वत, गुफा और वन है।

नेता की तपस्या का स्थान चौराहे हैं जहां भाषण एवं भूख-हड़ताल करते हैं।

देश को गुलामी की दासता से मुक्त कराने के लिए, गांधी जी अनशन तप कर, अंग्रेजों के शासन तख्त को हिला देते थे। अनशन तप के बाद वे स्वादिष्ट-पटरस व्यंजन नहीं लेते थे बल्कि, अपनी इच्छाओ पर अंकुश रखते थे। और गांधी की अहिंसा का परिणाम है-''स्वतंत्रता'' **जब इतना विशाल समुदाय वाला देश अहिंसा के बल पर स्वतन्त्र हो सकता है तो क्या तप, त्याग, संयम, अहिंसा के माध्यम से हमारी आत्मा स्वतंत्र नहीं हो सकती?** तपश्चरण के माधयम से क्या सिद्ध नहीं हो सकते? अर्थात् संसार की पूर्ण सम्यक् उपलब्धि का जनक तप ही है। उदाहरणार्थ- यदि आप अपनी मांग सरकार के समक्ष रखें, सरकार स्वीकार न करें, आप उसें स्वीकार कराने के लिए क्या करते हैं? ''भूख हड़ताल'' इसके परिणाम स्वरुप आपकी मांग स्वीकार कर ली जाती है। तब क्या तप के माध्यम से आत्मा की मांग पूर्ति न होगी। अवश्य होगी। बशर्ते आपका तप सम्यक् हो।

एक बार गांधी से किसी ने पूछा-तप का क्या अर्थ है? क्या महत्व है? तब गांधीजी ने कहा-तपस्या का वास्तविक अर्थ एवं महत्व जानना चाहते हो तो जैनियों के पास जाओं! भगवान महावीर का आचरण जानो, देखो!

नेताजी सुभाषचन्द्र बोस से किसी ने एक दिन पूछा, आप सुबह-शाम, आधा-आधा घण्टा क्या करते हैं? उन्होंने कहा-मैं अपनी बैटरी में चार्ज ड़ालता हूँ, और जब यह डिस्चार्ज हो जाती है तब चार्ज कर लिया करता हूं। आपने यह सब कहाँ से सीखा? पुनः प्रश्न हुआ- उन्होंने कहा- जैनियों से सीखा। वास्तव में संसार के लिए भगवान महावीर की बहुत बड़ी देन है।

"त्याग संयम का जनक है संयम तप का जनक है, तप अहिंसा का जनक है।"

"नर देह मानव की महानतम पूंजी है। जिसमें आत्मिक सम्पदा को उपार्जन करने के लिए, तप रुपी व्यापार किया जाता है। जो इस स्वर्णिम लक्ष्य की प्राप्ति का लाभ नहीं उठा पाते है, वे मात्र पछताते रह जाते है।"

तप कच्चे माल को पक्का बनाने वाली फेक्ट्री है। जिनालय स्थान, इंजीनियर आचार्य, उपाध्याय, सर्व साधु है।"

एक दिन धरती माँ से मिट्टी ने पूछा- उन्नति का क्या उपाय है? उत्तर मिला-"तपस्या"। मिट्टी ने पुनः प्रश्न किया- तपस्या क्या चीज है? धरती माँ ने उत्तर दिया- सुख-दुःख को सहज भाव से, समता भाव से स्वीकार करना ही तपस्या है। मिट्टी ने कहा- माँ क्या मैं इस तपस्या को कर सकती हूँ? माँ ने कहा- तू ही क्या संसार के प्रत्येक प्राणी इसे कर सकते है। इसे जो भी सहज भाव से अपनाता है- जगत पूज्य बन जाता है, संसार की सर्वश्रेष्ठ आत्मा बन जाता है, सदा के लिए मुक्त हो जाता है, उसका आवागमन सदैव के लिए समाप्त हो जाता है।

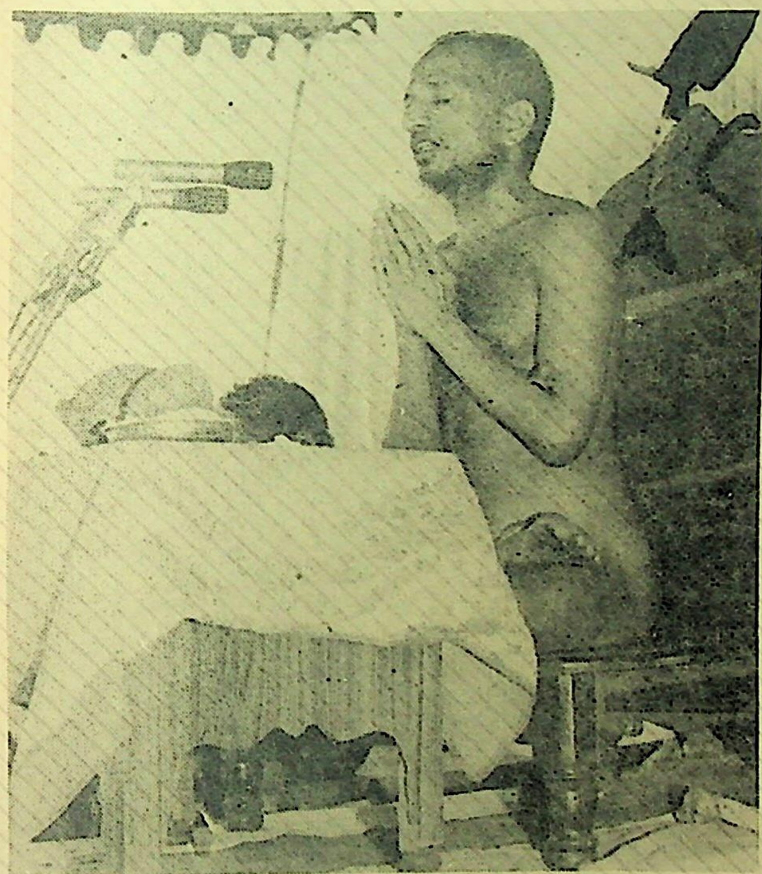
समस्त प्राणी अपने जीवन के स्वयं जिम्मेदार है, कोई दूसरा नहीं। जितना वह पाप करने, भोग करने के लिए स्वतन्त्र है। उतना ही पुण्य करने, तपस्या करने के लिए भी स्वतन्त्र है। स्वयं पापों को जन्म देता है तो स्वयं भोगता भी है। स्वयं पापों को जन्म दे सकते है तो स्वयं पुण्य को जन्म देकर पाप काट भी सकते है।

बज्रमणी (हीरा) पत्थर से पैदा होता है और पत्थर काटने के ही काम में आता है। उसी प्रकार जिस शरीर के द्वारा पाप कमाया जाता है उसी शरीर से पाप निर्मूल भी किया जाता है। दूसरों को लक्ष्य करके जो पाप किया जाता है वह घूम फिर कर स्वयं तक आ पहुँचता है। पाप करते वक्त लगता है दूसरों के लिए कह रहे हैं, दूसरों के लिए कर रहे है किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं होता। किसी को गाली देते है, डराते है, धमकाते है, भयभीत करते हैं और महसूस करते है कि सामने वाला ड़र रहा है हमारी अधीनता स्वीकार कर रहा है किन्तु वास्तव में ऐसा भी नहीं होता। मात्र ऊपर से देखने में आता है, क्रोध करने वाला,

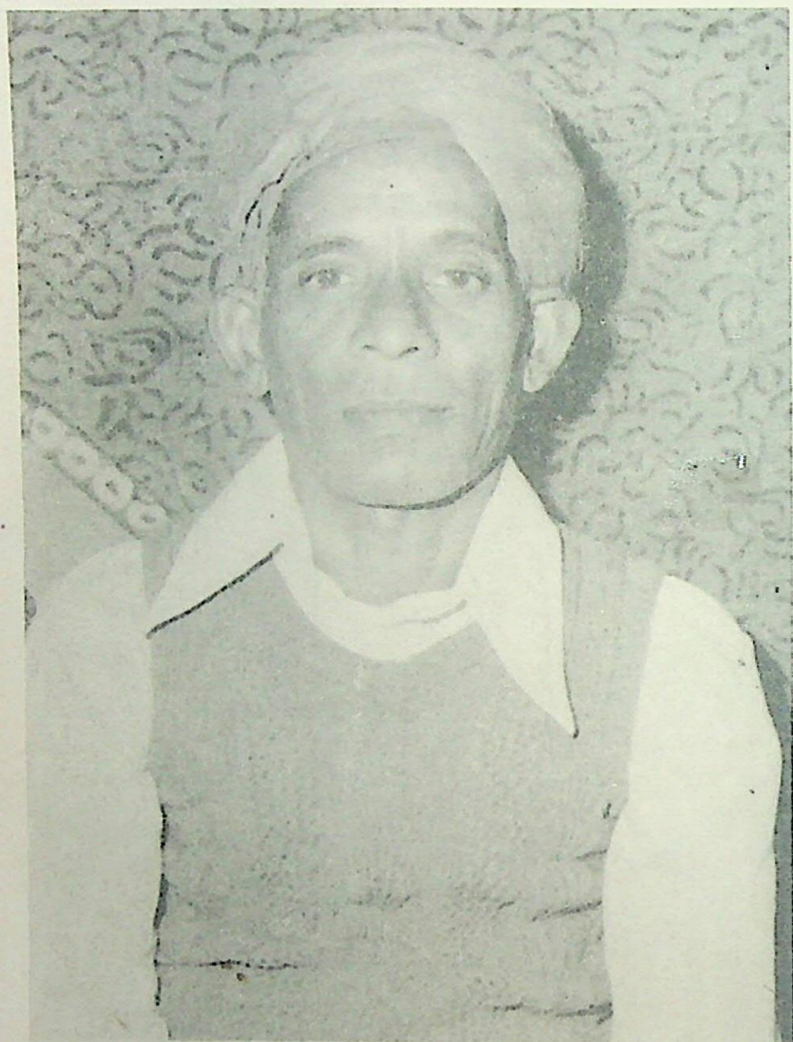
कषाय का दास बनता चला जाता है। वे ही गालियाँ वजन बन कर लौट आती है। ताकि अगली बार क्रोध में भावना और बढ़ जावे। और यह क्रोध निखर कर, नहाकर लौटता है। अपने साथ जहर लेकर आता है ताकि अगले क्षण अधिक शक्ति के साथ क्रोध कर सके। और यदि अहिंसा का व्यापार भी इसी तरह से किया जा सके तो आत्मा निखर जाती है। इसके ऊपर पुरस्कारों की वर्षा होने लगती है, पुण्य का भंडार भरने लगता है। सम्यक् भावना के साथ कार्य किये गये हैं तो वही पुण्य, परम्परा से मुक्ति का कारण बन जाता है।

यदि संसारी प्राणी एक बार स्मरण कर ले, कि- पाप मैने किये हैं, मुझे भोगने पड़ेंगे। कोई दूसरा इससे छुटकारा नहीं दिला सकता। फिर किसका इन्तजार करूँ? किसकी प्रतीक्षा करूँ? यहाँ बचाने वाला कौन आयेगा? न कभी आया है, न कभी आयेगा। मैं ये सब किसे लिए कर रहा हूँ, मैं स्वयं इसका जिम्मेदार हूँ यदि यह बात तीर के समान सीने में चुभ जाये, सोते जागते प्रत्येक समय ध्यान में आ जाए मन दीप से प्रकाशित हो जाये तो शायद उसके कदम पाप की ओर नहीं उठेंगे। फिर वह सरलता से पाप नहीं कर सकता। बार-बार स्वयं को जिम्मेदार ठहरायेगा और सोचेगा मैं क्यों पाप करुँ। फूंक-फूंक कर कदम रखेगा। उसी तरह जिस तरह दूध का जला छाछ भी फूँक-फूंक कर पीता है। मैं आज जो दूसरों के साथ कर कर रहा हूँ वे ही लोग वैसा ही मेरे साथ भी करेंगे। दूसरा तो सिर्फ एक आड़ है। बहाना है। चिट्ठियाँ जो आपने लिखी हैं, उन पर पता तो दूसरों का है बाक्स में जाकर, सील मोहर लगने के बाद, अपना रूप बिगाड़ कर आखिर अपने ही पास तो आयेगी क्यों कि उन पर पता तो मैंने अपना ही लिखा है। बस, इसी तरह, इस जगत् में किये गये सारे कृत्यों का फल भी मुझे ही भोगना है। अन्य कोई दूसरा नहीं भोगेगा।

उत्तम त्याग



आचार्य पुष्पदन्त सागरजी महाराज



दोसी अजबलाल चुन्नीलाल परतापुर

८. उत्तम त्याग धर्म

''मन की तपन न मिटा सकेंगे
वासना के ईंधन।
वासना के त्याग से
मिलेगा जीवन का धन।
होंगे वे कितने सुखद क्षण,
कर पाये यदि,
आत्मा की सकल सत्ता को
सकल समर्पण।।''

आज उत्तम त्याग का दिन है (घबड़ा मत जाइयेगा, मैं आपसे कुछ त्याग नहीं करवाऊंगा)। वैसे भी फिलहाल आप सभी ने घर का त्याग किया है। जब आपने घर का त्याग किया तभी आपको प्रवचन सुनने मिला। याने आपको त्याग तो करना पड़ा। किन्तु यह उत्तम त्याग नहीं है।

धर्म की इमारत त्याग की नींव पर ही खड़ी होती है। त्याग के बिना कोई भी धर्म जीवित नहीं रह सकता। धर्म तथा आत्मा को जीवित रखने के लिए त्याग अत्यन्त आवश्यक है। यद्यपि आत्मा अरूपी है, अविनश्वर है किन्तु जड़ पदार्थों की संगति से आत्मा भी वैसी ही हो जाती है। इसीलिये आत्म स्वभाव को पाने के लिये, त्याग धर्म को महत्व दिया गया है। आत्म स्वभाव की प्राप्ति में त्याग अत्यन्त आवश्यक है।

त्याग का अर्थ है- ''विकारी भावों का परित्याग करना।'' जिन जिन बाह्य कारणों से आत्मा में विकास पैदा हो रहा है, उन सबका परित्याग करना।

त्यांग का अर्थ है वस्तु के त्याग के साथ इसके प्रति ममत्व भाव का भी त्याग करना। त्यागी हुई वस्तु बार-बार याद न आये, उसका विचार न आता हो तो समझ लेना कि त्याग उत्तम है। सबसे पहले ममत्व परिणामों को छोड़ना जरूरी है, ताकि वस्तुओं को छोड़ते समय मन में दुख न हो। दुख वस्तु के रहने या न रहने से नहीं आता, बल्कि उसके प्रति ममत्व भावों के कारण आता है।

एक घटना सुनाता हूँ- एक बार एक व्यक्ति के घर में आग लग गई। वह छाती पीट कर रोने लगा। आसपास अच्छी खासी भीड़ जमा हो गई। भीड़ में से एक व्यक्ति उसके पास आकर कहने लगा घबराओं मत! तुम्हारा कुछ भी नहीं गया है। कल ही तुम्हारे बेटे नें यह मकान बेच दिया है। लिखापढ़ी हो गई है पैसे भी शायद मिल गये हैं, अब तुम्हारा मकान यह नहीं है।

मकान मालिक एकदम चुप हो गया आँखों के आँसू सूख गये। वह पूर्ण स्वस्थ हो गया, लोगों से कहने लगा- अरे! मैं कितना मुर्ख था, व्यर्थ रो रहा था।

तभी अचानक सेठजी का लड़का दौड़ता हुआ आया और कहने लगा पिताजी मकान जल रहा है, और आप खड़े-खड़े देख रहे हैं जल्दी बुझाइये! सेठजी कहते हैं मकान बिक चुका है न?

लड़के ने कहा- मकान बिकने की केवल बात हुई है लिखा-पढ़ी भी नहीं हुई। अरे यह अपना ही मकान जल रहा है। पिता फिर छाती पीटकर रोने लगा। मकान वही, आदमी वही, पर एक परिस्थिति है जब वह रो रहा है, दुःखी हो रहा है और एक स्थिति जब उसे कोई फर्क नहीं पड़ रहा है। मकान तो वहीं का वहीं है। पर अब उसमें ममत्व परिणाम जुड़ गये हैं। **यही ममत्व, दुःख ले आया, आंसू ले आया, परेशानियाँ ले आया। जितना ममत्व बढ़ेगा, दुःख भी उतना ही बढ़ता जायेगा। जितना ममत्व भाव कम होगा, उतना ही दुअख का सागर सिमट कर ''अल्प रह जायेगा।**

अगर आपकी पत्नी बीमार है तो आप चिन्तित हो जाते हैं किन्तु दूसरे की पत्नी के बिमार होने पर आपको चिन्ता नहीं होती। यानि ममत्व की शिलायें हटने पर शान्ति के झरने फूट पड़ते हैं। हमें वस्तु कें त्याग के साथ उसके प्रति ममत्व परिणामों का भी त्याग करना चाहिए। सही मायने में त्याग का अर्थ है ''अपनी आत्मा से बड़ा कुछ भी नहीं है।''

अन्ततः इस आत्मा में सब कुछ समा जाता है। मोक्ष, निर्वाण, ब्रह्म सब कुछ आत्मा में ही है।

संसार की समस्त भौतिक सामग्रीं आत्मा के सामने नगण्य है। आत्मा ही है जो संसार में समस्त सामग्री की खोज करती है खोज करने वाला हमेशा बड़ा होता है तथा खोजी जाने वाली वस्तु छोटी होती है। यदि आप हिमालय पर चढ़कर वहाँ खड़े हो जायें तो आप हिमालय से भी ऊंचे हो जायेंगे, और हिमाचल छोटा हो जायेगा। जो सांसारिक वस्तुओं की खोज करता है वह बड़ा है और वस्तुएँ छोटी हैं। जो बड़ा है वह हमारे ग्रहण करने योग्य है।

संसार की भौतिक सामग्री आत्मा के समाने नगण्य है, जो मूल है वह हमारी आत्मा है। त्याग का अर्थ "Return to the nature" (आत्मा की ओर वापस आना) जो अपना है ही नहीं उसके पीछे व्यर्थ क्यों भटकना? जो प्रत्येक क्षण में समाप्त हो रहा है, गल रहा है। उन सबसे अपने आपको मुक्त कर लेना ही त्याग है।

हमें हर समय भय लगता रहता है कि हम बीमार न हो जायें, वृद्ध न हो जायें; प्रियजन का वियोग न हो जाये, सम्पत्ति न छूट जाये, यश धूमिल न हो जाये, मौत न आ जाये। अब हमें मालूम है कि प्रकृति का शाश्वत तो चलेगा ही बुढ़ापा मृत्यु सब ही आना है, फिर भी हम इनसे भयभीत रहते हैं। डरतें हैं कि कहीं यह न हो जाये, वह न हो जाये।

जिनका वियोग होना है, उनसे ममत्व भावों को ही तज दो! ये सब अन्तर्गत में बाधक है। ये राह की सीढ़ियाँ नहीं, बल्कि अवरोधक शिलायें हैं। इन सबके त्याग के उपरान्त ही आत्मा के पास आ सकतें हैं।

आप धन के अधिक से अधिक संग्रह की लालसा मन में दबाये रखते हैं। जब बीमारी आयेगी तो डाक्टर को पैसा देकर इलाज करा लेंगे स्वस्थ हो जायेंगे, और मौत को भगा देंगे। बुढ़ापा आयेगा तो उसे भी प्लास्टिक सर्जरी से जीत लेंगे, शत्रुओं से अपनी रक्षा कर लेंगे। किन्तु ये सब (धन) जीवन के रक्षक नहीं बल्कि भक्षक है। यदि धन के माध्यम से जीवन अमर बनता तो विश्व के पूंजी पति आज अजर-अमर होते। धन सम्पत्ति के माध्यम से आज तक किसी को जीवनदान न मिला है और न मिलेगा। जीवन को अभय मिलता है त्याग के माध्यम से।

त्याग को अपनाने के बाद ही, जीवन में 'स्थिति-प्रज्ञता' का जन्म होता है। आत्म-ज्योति निर्धूम और अकंप हो जाती है।

त्याग का अर्थ है- "एक ऐसी अग्नि का संयोग जो व्यर्थ का सब कुछ जला कर राख कर दे।"

इस प्रकार की अग्नि प्रज्जवलित हो जाये इस आत्मा में, कि शरीर का, पद का, सम्मान का, सम्पत्ति का, संग्रह का, सारा अहं, सारी आकांक्षायें जल कर राख हो जायें, मात्र एक चेतन आत्मा ही रह जाये। सब व्यर्थ की वस्तुएँ खो जाये, केवल कुंदन रूप आत्मा की प्राप्ति हो जाये। संसार की किसी भी वस्तु के प्रति ममत्व भाव अपने मन में न रह जाये। जैसा हमें प्रकृति ने पैदा किया है वैसे ही यथाजात मुद्रा को हम उपलब्ध हो जायें। केवल जीवन में अंतर्यात्रा ही शेष रह जाये।

जीवन की इसी अन्तर्यात्रा के पथिक बनने के लिए भगवान महावीर ने बहुत ही सुन्दर, सहज और क्रमिक साधना पद्धति बताई है। जैसी किसी दर्शनकार ने नहीं बताई।

"यदि किसी भी अर्न्तयात्रा की लहर आपकी आत्मा में उठे तो उसे छोड़ना नहीं, पकड़ लेना और साधना में उतर जाना।"

व्रत नियम आपको जीवन को ऊपर उठाने में सहायक होंगे। आत्म सच्चाई को जानने में परम सहायक सिद्ध होंगे। व्रत नियम अपनाते समय यह ध्यान रखना कि ये अन्तरंग से अपनाये जायें बाहरी दिखावे के लिये नहीं। प्रशंसा चाहते हो तो व्रत नियम मत लेना।
आत्मा के कल्याण हेतु विधि-पूर्वक नियम का पालन करने वाले का कल्याण ही होता है, पतन नहीं।

आत्म-साधना की एक सुनियोजित योजना है, उसे मैं संक्षेप में बतलाना चाहता हूँ। एक श्रावक किस क्रम से अपनी साधना में आगे बढ़ता है, इसे आचार्य श्री समन्त भद्र ने 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार" में बताया है।

"श्रावक पदानि देवै-रेकादशदेशितानि येषु खलु।
स्वगुणाः पूर्व गुणैः सह सन्तिष्ठन्ते क्रम विवृद्धा।।

— सर्वज्ञ देव ने श्रावकों की ग्यारह प्रतिमायें (ग्यारह कक्षायें) बताई हैं। इनमें "स्वगुणा पूर्णगुणैः सह" याने अगली प्रतिमा धारण करने वाले को पहले की प्रतिमाओं की क्रियाओं का भलीभाँति पालन

करना आवश्यक है। ऐसा न हो कि ''आगे पाठ पीछे सपाट''। आगे का सब आगे रह जाये पीछे का सब पीछे छूट जाये। यदि प्रथम प्रतिमा का पालन विधिवत् न हुआ तो आगे की प्रतिमाओं का भी यथायोग्य पालन नहीं हो पायेगा। प्रथम प्रतिमा नींव है शेष प्रतिमा उस पर खड़ी दीवारें हैं।

कॉलेज की पढ़ाई के लिए प्राम्भिक कक्षाओं की पढ़ाई भी जरूरी है। मूल के अभाव में वृक्ष का टिका रहना असम्भव है। यदि ग्यारह में एक का अंक निकाल दिया जाये तो जो शेष बचेगा वह कितना दुर्बल हो जायेगा। ग्यारह में एक निकाल देने पर दस नहीं एक बचेगा और उस अकेले एक की उपयोगिता भी शून्य के बराबर रह जायेगी। जो एक को ही नहीं साध सकेगा। इसीलिये आचार्य कह रहे हैं कि प्रथम प्रतिमा का सम्बन्ध अन्तिम प्रतिमा तक है, अतः इसका सावधानी पूर्वक पालन करना है।

''क्रम विवृद्धा'' याने क्रम से आगे बढ़ना। अक्रम को नहीं अपनाना, नहीं तो कहीं के भी नहीं रहोगे। गृह त्याग आपने कर दिया है पर परिग्रह का, आरम्भ का त्याग नहीं किया तो यह अक्रम हो गया। क्रम से त्याग करना ताकि व्रतों का पालन सही रूप से हो सके। पहली कक्षा पास की नहीं और अगली कक्षा में नाम लिखाने पहुँच गये। रिश्वत देकर आप आगे की कक्षा में पहुँच गये तो भी योग्यता नहीं आ पायेगी।

यहाँ पर प्रतिमा का अर्थ है स्वयं को जिनेन्द्र भगवान की प्रतिमा के समान सभी विकारी भावों को त्यागना, शुद्धता की ओर प्रयाण करना। याने व्यवहार संयम के माध्यम से चिर-प्रसुप्त आत्मा को जगाना, कर्म संस्कारों को आत्मा से अलग करके आत्मा को शुद्ध स्वरूप देना। जिस प्रकार प्रतिमा अपने आप में स्थिर होती है। उसी प्रकार अपनी आत्मा को भी स्थिर बनाना। प्रतिमा शब्द जिस धातु से बना है प्रतिमा भी उसी धातु से बना हुआ शब्द है। प्रतिमा ग्रहण करके अपनी आत्म-प्रतिभा को जाग्रत करना ही वास्तविक संयम है।

सर्वज्ञ के द्वारा जो ग्यारह प्रतिमायें बतलाई गईं हैं वे इस प्रकार हैं- दर्शन प्रतिमा, व्रत प्रतिमा, सामायिक प्रतिमा, प्रोषध प्रतिमा, सचित त्याग प्रतिमा, रात्रि मुक्ति त्याग प्रतिमा, ब्रह्मचर्य प्रतिमा, आरम्य त्याग प्रतिमा, परिग्रह त्याग प्रतिमा, अनुमति त्याग प्रतिमा, उदृष्टि त्याग प्रतिमा।

दर्शन प्रतिमाः-

''सम्यग्दर्शन शुद्धः संसार शरीर भोग निर्विण्णः ।
पंच गुरु चरण शरणों दार्शनिक स्तत्व पथ गृम्हः ।।६.२।।

अर्थातः- प्रथम प्रतिमा को स्वीकार करने वाला २५ दोषों से रहित सम्यग्दर्शन का धारक, संसार, शरीर भोगों से उदासीन रहता है। पंच परमेष्ठी का ध्यान करने वाला अष्ट मूलगुण का धारी ही दर्शन प्रतिमा धारी कहलाता है।

सम्यग्दृष्टि का लक्षण :-

संसार शरीर भोगों से उदासीन रहता है। वह सोचता है कि पंचेन्द्रियों के भोगों को अनन्तों अनन्त बार भोग चुका है। जीवन की प्रत्येक सुबह परिचित से ही परिचय करवाती है। अपरिचित से परिचय नहीं करवाती। हम पुनः-पुनः वही दोहराते आ रहे हैं कुछ भी नया अवतरित नहीं हुआ। वही सुबह, वही शाम, वही बीबी, बच्चे, वही मकान, वही लोग, कुछ भी नया नहीं है। जागने के पूर्व ही कानों में आवाज गूँजती है- उठो, देर हो रही है। कब तक सोते रहोगे। रोजाना सोओ! जागो, दुकान खोलो, धन कमाओं यही जीवन चक्र है। सम्यग्दृष्टि इस चक्र को तोड़ना प्रारम्भ कर देता है। संसार शरीर भोगों से उदासीन व्यक्ति का जीवन कमल वत् हो जाता है। भोगों में रचता पचता नहीं है। इसके लिये ''निर्विष्णा'' शब्द का प्रयोग किया गया है। 'विरक्त' शब्द का नहीं। सम्यग्दर्शन के सद्भाव में उदासीन है, विरक्त नहीं - यह इसका अर्थ हुआ। वह अविरत सम्यग्दृष्टि है। इसका अर्थ यह भी मत लेना की वह पाँच पापों को करने में तत्पर रहता है। पंच पापों का त्याग नहीं किया है फिर भी पापों को करने में तत्पर नहीं है, बल्कि उन पापों को करने में भयभीत रहता है। परिग्रह का त्याग नहीं करता किन्तु परिग्रह का संचय भी नहीं करता, बल्कि उससे मुक्त होने का प्रयास करता है।

दार्शनिक सम्यग्दृष्टि :-

शुद्ध सम्यग्यदृष्टि को अर्थात् पंचम गुणस्थानवर्ती को आचार्य दार्शनिक कह रहे है, जिसके दर्शन में विशुद्धी आ गई है, जो केवल पंच परमेष्ठी का दीवाना, हो गया, रागी द्वेषी गुरूओं की शरण को त्याग दिया है। जो पच्चीस दोषों से रहित हो गया है। हर किसी की बात मानना जिसने

छोड़ दिया है, हर जगह माथा झुकाना जिसने छोड़ दिया है। नित्य पंच परमेष्ठी का ही ध्यान करता है। जिसकी हर साँस वीतरागता का ही स्मरण करती है वही दार्शनिक श्रावक है। दार्शनिक श्रावक भेड़-चाल को छोड़ के, भीड़ को छोड़कर यर्थाथ की सच्ची राह अपनाता है।

जिसने एक ऐसे हृदय को खोज लिया है कि जिसके साथ अनन्त की यात्रा पर निकल सके वही दार्शनिक श्रावक है।

जिसने ऐसे देवताओं की शरण लेना छोड़ दिया है जो आकाँक्षाओं से भरे हैं, जो स्तुति से प्रसन्न और निन्दा से नाखुश होते हैं। जो वीतरागी देव की शरण में स्वयं को समर्पित कर देते हैं वे, दार्शनिक श्रावक हैं।

भीड़ के माध्यम से सत्य की ओर पहुँचा नहीं जा सकता। रागी-द्वेषी देवताओं के पास बहुत भीड़ होती है। यदि तुम्हे भीड़ एकत्र करना है तो कहीं भी झाड़ के नीचे या नदी के किनारे पत्थर पर लाल रंग पोत दो और उस पतथ्र का गुणगान कर दो उस पर दो चार फूल या चढ़ावा चढ़ा दो। थोड़ी देर बाद देखोगे कि वहां श्रद्धालुओं की भीड़ लग गई है बस यही भेड़चाल है।

भीड़ का अर्थ है जो विवेक को समाप्त कर दे, आत्मा में श्रद्धा का अभाव कर दे। आत्म दायित्व को निभाने न दे, बुद्धि को बहका दे, सत्य की ओर जाने ही न दे। भीड़ देखरक व्यक्ति यह नहीं समझ पाता कि यह कार्य मूर्खतापूर्ण है। वह भी भीड़ का समर्थन करने लग जाता है।

जिसने भीड़ का समर्थन छोड दिया है केवल सच्चे देव, शास्त्र, गुरू की उपासना में लगा हुआ है, उपास्य बनने की ओर जिसके अर्हनिश प्रयत्न है। वह दार्शनिक श्रावक है।

"जानता हूँ बाग में दो दिन रहेंगे फूल,
जब तक उन्हें हवा मिलती रहेगी अनुकूल।
सोने तक ही आंखों में रहेंगे सपने,
जागने पर सामने पड़ी मिलेगी धूल"।।

सम्य.दृष्टि जानता है कि यह सब पुण्य पाप का खेल है, इन सबके पीछे मैं अपने अमूल्य क्षणों को क्यों खोऊं! और वह उदासीनता

सम्यग्दर्शन मूल है, ज्ञान, शाखा और पत्तियाँ है, चारित्र फल है तथा मोक्षफल है। इन तीनों की एकता के उपरान्त ही मोक्ष की प्राप्ति होती है।

सम्यग्दर्शन से कार्य संस्कार ढ़ीले पड़ जाते हैं, ज्ञान से संवर होता है तथा चरित्र से निर्जरा होती है और कर्म संस्करों का निरोध होता है।

जैसे होली के दिन किसी ने आपके चेहरे पर पेण्ट (paint) लगा दिया, तब क्या आप उसे यूं ही छुड़ा देंगे? उसे छुड़ाने के लिये आपको उस पर मिट्टी का तेल लगाना पड़ेगा। कपड़े से रगड़ना पड़ेगा। तब शरीर स्वच्छ हो जायेगा। बस यही प्रक्रिया सम्यग्दृष्टि की है। अनादिकालीन संस्कार सम्यग्दर्शन का स्पर्श पाते ही क्षीण हो जाते हैं; तथा चरित्र के माध्यम से क्रमशः घटते जाते हैं।

सम्यग्दर्शन है बरसात, ज्ञान है बिजली की कौंध, और शीतलता है चरित्र। बिना सम्यग्दर्शन के इनका महत्व नहीं है।

व्रत प्रतिमा :-

निरति क्रमण मुणव्रत - पञ्चकमपि शील सप्तकं चापि।
धारथते निः शल्यों, योऽ सौ व्रतिनां मतो व्रतिकः ।।१३८।।

अर्थातः- व्रत प्रतिमा का धारी श्रावक निशल्य होता है, पाँच अणुव्रत और सात शीलव्रतों का अतिचार रहित पालन करता है।

अभी तक वह अष्ट मूलगुण का पालन निर्दोष और निरविचार रूप से करता है। पांच अणुव्रतों की रक्षा हेतु चारों ओर बाड़ी लगा देता है उसी प्रकार श्रावक अपने पंचाणुव्रतो के निर्दोष पालन के लिये शीलव्रतों की बाड़ लगा लेता है। बिना बाड़ लगाये खेत की फसल को मवेशी नष्ट कर देते हैं, कुचल देते हैं। इसी प्रकार बिना शील व्रतों के ग्रहण किये व्रतों के पालन में निर्दोषता नहीं रहती। श्रावक दूसरी प्रतिमा धारण करते ही शील व्रतों की बाड़ी लगा देता है, और पाँच अणुव्रतों को निरतिचार पालन करता है। शीलव्रत, अणुव्रतों की सुरक्षा का कार्य करते हैं। व्रत प्रतिमा में अष्टमूलगुणों का पालन करना ही नहा होता है बल्कि "स्वगुणा पूर्व गुणैः सह" का पालन कर रहा है।

वह अपने जीवन को नियमित बना लेता है, जीवन में मर्यादित वस्तु का उपभोग करता है, पल-पल में नियम लेता है भोजन सवारी शैय्या, स्नान सुगन्ध आदि का नियम बना लेता है जैसे सुबह के भोजन करने के उपरान्त नियम ले लिया कि अब शाम तक भोजन का त्याग है। दोपहर में नहीं सोऊंगा, साबुन का उपयोग नहीं करूंगा। इस प्रकार व्रत प्रतिमा का धारी एक-एक मिनट तक, एक-एक घण्टे तक, एक-एक महीने तक, एक-एक वर्ष तक स्वयं को नियम से बाँध लेता है। अनावश्यक वस्तु का त्याग कर देता है, अपने जीवन को सीमा में कद करके आनन्दपूर्वक जीवन यापन करता है।

निः शल्यों व्रतीः-

वही व्यक्ति वापस में प्रतिमाधारी कहलाने के योग्य है जिसके जीवन में वास्तव में कोइ शल्य नहीं रह गई हो। जोड़ने को कुछ नहीं बचा सब छोड़ना ही है। जो काँटे आत्मा में अहंकार के, ममकार के, आकाँक्षा, वासना के चुभते थे उन्हें दूर करता है। यदि शल्य आत्मा में बैठी रहे तो धर्म का प्रवेश नहीं हो सकेगा। अगर बात-बात में नाराज होगा, अहंकार से भरा रहेगा तो शल्य रहित नहीं हो सकता। निरहंकारी को कुछ भी नहीं चुभता।

"निशल्यता" बहुत ही सुन्दर शब्द चुना है आचार्य समन्त भद्र ने बहुत ही सोच समझ कर रखा है। कहीं ऐसा न हो कि व्रती बनने के बाद अहंकार से भर जाओ। मान सम्मान से भर जाओ। मानव अपने आपको उस समय अपमानित महसूस करता है जब उसे मान-सम्मान की चाहना होती है। जहाँ निशल्यता होती है वहाँ मान-सम्मान सब एक हो जाता है। भविष्य की समस्त आकांक्षाए समाप्त हो जाती हैं। शल्य के अभाव में ही वास्तविक व्रतों का पालन होता है

गाली उसे ही चुभती है जो अहंकार से भरा होता है। गाली देने वाले को हम नहीं रोक सकते स्वयं को रोका जा सकता है। जिन कारणों से गाली चुभती है उन्हें अलग किंया जा सकता है। जिस स्थान में आकर गाली रूकती है उस रिक्त स्थान को भरा जा सकता है। संयम के माध्यम से आचार्य कहते हैं जिनके कारण विवाद उत्पन्न होता है, उन्हें निकाल दो अर्थात निःशल्य बन जाओ। भविष्य की आकांक्षायें जो बहका रही हैं उन्हें निकाल दो। माया मिथ्या और निदान इन तीनों को शल्य कहा है। यदि इन तीनों का आत्मा में सद्भाव रहा तो, व्रतों का

पालन असंभव हो जाता है। निदान शल्य बहुत ही खतरनाक है। यह जीव हरकार्य किसी न किसी आकाँक्षा से भरकर ही करता है। यह जीव आकाँक्षाओं से भरकर लोभ वश मायाचारी करता है, कुदेवों की पूजा भक्ति आदि भी करता है, इसीलिये आचार्य कह रहे हैं कि व्रतों के पेड़ पौधों को पल्लवित करना चाहते हो तो इन तीन शिलाओं को भूमि से उखाड़ देना ताकि सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चरित्र का वृक्ष उग सके।

तृतीय "सामायिक प्रतिमा" का धारी नियम से विधिवत् आत्म परिणामों की निर्मलता तथा कर्म निर्जरा हेतु समताधारण करके दिन में तीन बार यथाजात मुद्रा को धारण करके सामायिक करता है। अपनी आत्मा का चिंतवन करता है, प्रतिमा में लगे हुए अतिचारों को दूर करने के लिए निन्दा गर्हा करता है। सामायिक करने की अभ्यास रू साधना प्रथम प्रतिमा से ही शुरु हो जाती है किन्तु नियमवद्ध सामायिक तीसरी प्रतिमा से होता है।

चौथी प्रतिमा "प्रौषध प्रतिमा" है, जिसका धारी संसार शरीर भोगों से उदासीन होने के पश्चात अष्टमी, चतुदर्शी पर्वादि के समय एकाशन या उपवास आदि करता है। तथा अपने जीवन का अधिकांश समय भगवान की पूजा भक्ति में लगता है। शरीर की दासता को छोड़कर परमात्मा को पाने में लीन हो जाता है।

पाँचवी "सचित त्याग" प्रतिमा वाला अदवा-तद्वा वस्तुओं का सेवन नहीं करता। भोजन स्वाद के लिये नहीं बल्कि आत्म साधना के लिये शरीर आवश्यक है इसलिये प्रत्येक वस्तु को प्रासुक करके ग्रहण करता है। अभक्ष्य वस्तुयें नहीं खाता। छटवी "रात्रि मुक्ति त्याग" प्रतिमा का धारी अपने परिणामों की उत्तरोत्तर उन्नति के लिए चारों प्रकार के भोजन का रात्रि में त्याग कर देता है।

सातवीं "ब्रह्मचर्य" प्रतिमा का धारी स्वयं को संकुचित कर लेता है। वह अपनी ऊर्जा का प्रयोग काम-वासना में नहीं करता, संसार का सृजन नहीं करता। बल्कि अपनी आत्मा का सृजन करता है। ब्रह्मचार्य प्रतिमा को धारण कर स्वयं के ब्रह्मा को जागृत करने में संलग्न हो जाता है।

आठवीं "आरम्भ त्याग" प्रतिमा का धारी सोचता है कि अब किसके लिए जीऊ? किसके लिये कमाऊँ? जब स्वयं के लिये ही कुछ

नहीं कर रहा हूं तो व्यर्थ की आशा क्यों करूं? अन्य के लिये क्यों करूं? इस तरह के विचारों को मन में लाता हुआ वह सब तरह के आरम्भ का त्याग कर देता है।

नवमी "परिग्रह त्याग" प्रतिमा का धारी अपने जीवन की उपयोगी वस्तुओं को छोड़कर अन्य समस्त परिग्रह का त्याग कर देता है। जो वस्तुएँ पास में रखता है उनमें भी आसक्ति नहीं रखता है इस प्रकार वह परिग्रह का त्यागी बन जाता है।

दसवीं "अनुमति त्याग" प्रतिमा का धारी न संसार बढ़ाने आदि के कार्य स्वयं करता है और न ही अन्य से कराता है।

ग्यारहवीं "उद्दिष्टि त्याग" प्रतिमा पहली से लेकर दसवीं तक की प्रतिमाओं का फल है। इतना सब कुछ करने वाला अब घर में नहीं रहता और त्यागियों के समान भिक्षावृत्ति द्वारा भोजन करता है।

इस प्रकार एक मुमुक्षु धीरे-धीरे अपने जीवन में त्याग को अपनाकर यथाजात दिगम्बर रूप धारण कर लेता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि तप और त्याग की कठिन साधना का क्रमिक रूप हमें भगवान महावीर की बहुत बड़ी देन है। एक श्रावक उपरोक्त पड़ावों को, आयामों को पार करता हुआ अपने गंतव्य को प्राप्त कर लेता है।

जब एक साधक अनन्त की यात्रा में निकल पड़ता है आत्म ध्यान में उतर जाता है तो उसके जीवन में एक अद्भुत घटना घटती है, उसका स्वरूप निखरने लगता है।

यह कैसी विडम्बना है कि हम जीव होकर भी जीवन्त का अनुभव नहीं कर पा रहे हैं। हम लोगों ने स्वयं पर इतना अधिक भार लाद दिया है कि हमें आत्मा का पता नहीं चल पा रहा है। हमारा जीवन एक अनगढ़ा पत्थर है जिसे तप त्याग और सयंम के द्वारा गढ़ा जा सकता है। अनन्त मुक्ति का, ज्योति का, हम भी अनुभव कर सकते हैं क्योंकि हमारे अन्दर यह योग्यता विद्यमान है। अपनी योग्यता को हमने वासनाओं से रागद्वेष से ढ़ांक रखा है।

भगवान महावीर की आत्मा भी पहले कर्मों से आच्छादित थी वे कोई बने बनाये भगवान न हीं थे, उन्होंने भी तप त्याग और संयम से अपने कर्मों को नष्ट किया था उनकी अनुभव गम्य दिव्य देशना में उत्तम त्याग का संदेश है। भौतिकता से मोह छोड़ना, पर पदार्थ से मोह छोड़ना ही आत्मा की अराधना करना है। बाहर जो कुछ दिखा रहे हैं वह मूल्यवान नहीं है बल्कि भीतर जौं कुछ है वही मूल्यवान है।

भगवान महावीर की देशना इस बात की द्योतक है कि यदि एक बीज वृक्ष बन सकता है तो सभी बीज वृक्ष बन सकते हैं। एक वृक्ष पथिकों को छाया प्रदान कर सकता है तो सभी वृक्ष पथिकों को छाया दे सकते हैं। जब एक आदमी भगवान बन सकता है तो हममें भी वह शक्ति है। लेकिन कब? जब हम अन्तरंग के भावों के साथ उस त्याग को अपना लें।

जगत में वही पुरूष दानी है जो स्वेच्छा से अपने जीवन में त्याग को अपना लेता है। जो हर समय धन वैभव से धीरे-धीरे छूटने का प्रयास करते रहते हैं और यही भावना भाते रहते हैं।

"तोड़ लूंगा हरेक से अपना रिश्ता,
बिछड़ने की नौबत न आने पायेगी।
मैं खुद कयामत का कर रहा इंतजार,
मौत कब आकर द्वार खटखटायेगी"।।

जो ज्ञानी होता है वह कुछ भी छूटने से पहले ही छोड़ देता है। मौत आकर छुड़ाये, परेशान करे, इससे पहले ही वह छोड़ देता है। समझदार व्यापारी इन्कम टैक्स, सैल टैक्स ऑफिसर को अपने घर पर नहीं आने देता। वह अपने सारे कागजात वहीं पहुँचा देता है। कहते हैं कि बूढ़ों के मरने का गम नहीं होता गम इस बात का होता है कि मौत ने आज घर देख लिया। ज्ञानी जीव मौत को अपने घर बुलाता ही नहीं है स्वयं उठ कर मौत के घर आ जाता है। जिससे मौत स्वयं पानी-पानी हो जाती है।

"ज्ञानी त्याग से नहीं विषय राग से डरता है।" अज्ञानी त्याग से डरता है, राग का आवरण बनाता है, लेकिन मौत आकर सब कुछ छीन लेती है। अज्ञानी जीव की हालत उस वृक्ष की तरह है जो अपने पत्ते

नहीं गिराना चाहता और जिसके पत्ते जबरदस्ती तोड़ देने पर वह पी
होता है, ज्ञानी जीव उस वृक्ष की तरह है जो तूफान आँधी आने
पूर्व ही अपने पत्ते गिरा देता है। न वृक्ष पीड़ित होता है और न शा
पीड़ित होती है। खुद को बहलाना था गैरों को बहलाता रहा। स्वयं
गीत सुनाता था और को सुनाता रहा।

ज्ञानी सोचता है कि स्वयं को प्राप्त करने का अवसर मिला
लेकिन समय व्यर्थ खोता रहा। ज्ञानी जीव किसी से कुछ कहता न
है। स्वयं ही अपनी अनुभूतियों को भोगता रहता है।

''चाहकर भी अनुभूति बताई न गई,
सत्य को शब्द की पोशाक पहनाई न गई।
इतनी लीन हो गई स्वयं में आत्मा कि,
अपनी कहनी स्वयं से सुनाई न गई''।।

एक बार एक गुरू और शिष्य कहीं जा रहे थे। गुरू काफी वृ
थे इसलिए सामान का झोला युवा शिष्य को पकड़ा दिया किन्तु कुछ
देर बाद वह झोला फिर वापस ले लिया। जंगल आ गया था, साम
से कुछ आदमी आते हुए दिखे। गुरू ने झोला अपनी छाती से ल
लिया और कुछ भयभीत हो गये। शिष्य ने गुरू की दशा भांप क
कहा- आप इतने भयभीत क्यों है? हम तो साधु है! हमें क्या भ
आप इतने भयभीत क्यो हैं? शिष्य मन ही मन सोचता है कि गुरू इत
भयाक्रान्त क्यों है? आखिर कौनसी मूल्यवान वस्तु इन्होंने अपनी झो
में छिपा रखा है। आज इन्हें क्या हो गया है?

कुछ दूर चलने के बाद गुरू ने फिर पूछा गांव कितनी दूर है
कोई खतरा तो नहीं है।

सामने कुछ दूरी पर कुँआ दिखाई पड़ा, गुरू शिष्य दोनों व
रूक गये। गुरू ने शिष्य को अपना झोला पकड़ाते हुए कहा कि इ
सावधानी से रखना। मैं हाथ मुँह धोकर पानी पी लूँ। इस बीच शि
ने झोला खोला तो उसमें उसे दिखाई पड़ी वह चीज जो गुरू के भ
का कारण थी- सोने की ईंट। उसने ईंट बाहर फेंक दी और उसके स्थ
पर ईंट पत्थर उठा कर भर दिया। गुरू ने ठीक से पानी भी नहीं पि
और शिष्य के हाथ से झोला ले लिया।

सोने की ईंट रखने वाला कब चैन से रहा भी पाया है। भीतर से वह सदा अशांत ही रहता है।

गुरू ने झोला उठाया और आगे बढ़ गया। बेचारे शिष्य से पानी पीते भी न बना। बेचारे गुरू को पता नहीं थां कि झोली में ईंट पत्थर हैं फिर भी छाती से लगा कर चल रहे हैं।

(आप दृष्टान्त सुनकर हँस रहे हैं।) क्या आप स्वयं उस साधु से कम हैं। क्या आप भी ईंट पत्थर को छाती से लगाकर नहीं रखे हैं।

अब गुरू और शिष्य आगे बढ़ते हैं। रात का अंधकार बढ़ने लगता है। गुरु अत्यन्त भयभीत दिखाई पड़ते हैं। शिष्य कहता है कि आप भयभीत न होइये मैने खतरा बाहर फेंक दिया है, आप बेफिक्र रहिये।

साधु एकदम घबरा जाता है, और जल्दी से झोले में हाथ डाला तो उसमें मिट्टी की ईंट मिली। कुछ क्षण के लिए साधु स्तब्ध रह जाता है। कुछ देर बाद उन्होंने ईंट पत्थर फेंक दिया और मुस्कुराकर कहा- तुमने हमारी आँख खोल दी। शिष्य ने कहा- आपने यह क्या किया! गुरु ने कहा मिट्टी की चीज मिट्टी को दे दी। गुरू ने कहा कि तुम महान हो। शिष्य ने कहा आप महान हैं, आपने मुझे एक शब्द भी नहीं कहा! ईंट पत्थर फेंक दी। गुरू ने कहा तुमने सोने की ईंट फेंकी और मैंने ईंट पत्थर ही फेंका है।

जिसे संसार की वस्तु पत्थर के समान लगती है, वह उनका त्याग कर देता है। चौबीसों तीर्थंकर राजपुत्र थे सबने पत्थर समझ कर राज्य सत्ता को छोड़ दिया मन में किंचित भी मलाल नहीं किया। ज्ञानी पुरूषों की महिमा निराली होती है।

त्याग का अर्थ है- त्यागने के भाव से परिपूरित हो जाना, आनन्द पूर्वक त्यागना, बिना शर्त के त्यागना, त्यागने के बाद पाने का किंचित भी भाव न करना। जहाँ त्यागने के बाद पाने का किंचित भी भाव नहीं रहता है वहाँ बूँद भर त्यागने पर भी सागर जैसा सुख मिलता है।

''क्षितिगतमिव वटबीज पात्रगतं दानमल्यमपि काले।
कलतिच्छाया विलंब बहुफल मिष्ट शरीरमृताम ।।५.११६।।

अर्थात- उपजाऊ भूमि पर बोया हुआ छोटा वट बीज फल के साथ घनी छाया प्रदान करता है उसी प्रकार भाव सहित सुपात्र को दिया हुआ थोड़ा सा दान दाता को विशाल ऐश्वर्य प्रदान करता है।

भगवान महावीर ने दान चार प्रकार का बताया है- आहारदान, अभयदान, औषधदान, ज्ञानदान। अपनी आमदनी में से शुद्ध मन में जो दान दिया जाता है उससे प्रेम, करूणा, वात्सल्य, उदारता, शीलवचन और आनन्द ही आनन्द अपने आप उत्पन्न हो जाता है।

वास्तव में सच्चा त्याग कषायों के त्याग को कहा जाता है। अपने अन्दर जो कचरा है उसका मन, वचन, काय से त्याग करना ही सच्चा त्याग है। जहाँ कषायों का त्याग हो जाता है वहाँ याचना नहीं होती, पराधीनता नहीं होती वहां केवल शांति होती है, सहनशीलता होती है, द्वेष नहीं अद्वैत होता है।

एक बार एक भिखारी ब्रह्म मुहूर्त में भीख माँगने निकला। राजा की सवारी सामने से आ रही थी, भिखारी ने सोचा इससे अच्छा मौका और कब मिलेगा? उसने झट अपनी झोली में अन्न के कुछ दाने डाले और झोली राजा के सामने फैला दी। आपको एक बहुत ही मनोरंजक बात बताना चाहता हूं, जब कोई भिखारी आपके द्वार पहुँचता है तो भीख माँगने के पूर्व अपनी झोली में अन्न के थोड़े से दाने डाल देता है या कुछ पैसे हाथ में दिखाते हुए हाथ फैला देता है। तब आपको भीख देनी ही पड़ती है क्योंकि आपसे पहले दूसरे लोगों ने भी तो उसे भीख दी है। अपने अहंकार से उस समय आप अनजाने ही पुण्यकर लेते हैं, कहीं मैं छोटा न बन जाऊं।

वैसे भिखारी भी बहुत होशियार होते हैं जब आप दो चार मित्रों के बीच खड़े रहते हैं, तब ही वे आपसे भीख मांगते हैं, आप पैसा नहीं देना चाहते तब भिखारी की आप बखिया उधेड़ने लगते हैं, ये काम-धाम कुछ करते नहीं है, आलसी हैं, इन्हें पैसा देना भी पाप है। अगर आप अहंकार से भरे होते हैं तो अपनी पाकेट से पर्स निकाल कर कुछ बड़े नोट इधर-उधर करते हैं और दस, पाँच पैसे निकाल कर उन्हें थमा देते हैं। दान देते समय मन ही मन यह भी कहते हैं कि बेटे अकेले में आता तो तेरी मजा बताता। मजबूरी में दान करना पड़ता है, चार दोस्त क्या कहेंगे? चंदा माँगने वालों का भी यही हाल है, चार लोग जब आपकी दुकान पर बैठे होंगे, तब अचानक ये छापामार की तरह पहुँच जायेंगे। और आपको चंदा देना ही पड़ता है।

हां। तो उस भिखारी ने राजा के सामने झोली फैला दी। तब राजा ने उसे भीख नहीं दी बल्कि उससे भीख मांगने लगा। बेचारा भिखारी अचम्भे में पड़ गया कि आज राजा मुझसे भीख माँग रहा है। कहीं मैं स्वप्न तो नहीं देख रहा हूं? राजा ने कहा घबराओ मत मैं यहां का सम्राट ही हूँ। आज ज्योतिषी ने कहा है कि जो तुम्हें पहला भिखारी मिले तुम उससे भीख मांग लेना, अन्यथा तुम्हारा जीवन और राज्य दोनों संकट में पड़ जायेंगे। यह सुनकर भिखारी किंकर्तव्यविमूढ़ रह गया। उसने झोली के अन्न के कुछ दाने निकालकर राजा को दे दिये, और जल्दी से आगे बढ़ गया।

राजा की सवारी आगे निकल गई। भिखारी भीख माँगने लगा उस दिन उसे बहुत ज्यादा भीख मिली। इतना अनाज मिला कि उसकी झोली पूरी भरने के बाद भी बच रहा था। लेकिन फिर भी भिखारी था कि उसकी उदासी जा नहीं रही थी। उसे अधिक भीख मिलने की प्रसन्नता नहीं थी। बहुत उदास था। भिखमंगों के पास खुशी होती कहां है, सदा रोते ही रहते हैं ये सदा सपनों में जीते हैं और सपनों के महल में ही रहते हैं।

उसने राजा को देखकर कितने स्वप्न सजाये थे पर वे सब टूट गये। क्या से क्या हो गया! जिसने जीवन भर माँगा हो और दूसरो को कुछ देना पड़ जाये तो उदास होना स्वाभाविक है। राजा तो अन्न के दाने लेकर चला गया पर उसके मन में एक घाव कर गया। इतनी सारी भीख मिलने के बाद भी उसे अन्न का वह दाना खटक रहा था।

हम भी एक तरह से भिखारी हैं, जो जिन्दगी भर दूसरों से पाने की आशा लगाये रखते हैं, और कुछ त्यागने का अवसर आता है तो घोर दुःख उठाते हैं। भिखारी भी दो तरह के होते हैं- पहले जिनके पास भोजन है पर भूख नहीं और दूसरे- जिनके पास भूख है पर भोजन नहीं। जिन्हें हमेशा तृष्णा की भूख लगी रहती है वे संसार के सबसे बड़े भिखारी हैं, ऐसे लोगों को सारे संसार की सम्पदा मिल जाये फिर भी भूख नहीं मिटती।

तो--------वह भिखारी चेहरे पर उदासी लिये घर पहुंचा। जहाँ पत्नी उसका इंतजार कर रही थी। इतनी सारी भिक्षा पत्नी ने कभी नहीं देखी थी, खुश हो गई, पर पति की उदासी का कारण न समझ सकी। उसने जब पूछा तो भिखारी ने बताया कि आज की भीख में थोड़ी कमी है, इससे भी ज्यादा मिलता पर राजा ने थोड़ा सा दान में माँग लिया।

पत्नी ने अनाज की थैली उलट दी दाने बिखर पड़े, अचानक पत्नी की आंखे चमक उठी, उसने ढेर में कुछ दाने स्वर्ण के देखे। जब पति ने यह देखा तो वह छाती पीट कर रोने लगा । कहने लगा, मैंने सारा अनाज राजा को दान में क्यों नहीं दे दिया! अब क्या करुं मैं लूट गया।

बंधुओं! हमारा भी हाल कहीं उस भिखारी की ही तरह तो नहीं। हम भी मौकों को खो देते हैं, उसके व्यतीत हो जाने पर पश्चाताप करते हैं। हमारा जिनागम जिनेन्द्र भगवान की प्रतिमा हमसे मौन रूप में कह रही है कि जो भूल उस भिखारी ने एक बार की, वही भूल हम बरा-बार यूं दोहराते चले जा रहे हैं।

हम जीवन में दूसरे के प्रति जो करूणा, प्रेम, दया के भाव करते हैं। वह हमारे लिए स्वर्ण बन जाता है और इन भावों को अगर रोक देते हैं तो वह मिट्टी बन जाता है। उत्तम त्याग धर्म का अर्थ है आत्मिक प्रेम का दान, वात्सल्य, करूणा का दान त्याग का अर्थ है; दूसरों को खुले दिल से बाँटना।

जिनके पास जीवन है, सौन्दर्य है, यौवन है किन्तु त्याग नहीं है वे संसार के सबसे बड़े भिखारी हैं। जो त्याग का निषेध करता है, तथा यह कहता है कि हमारा मन शुद्ध है, हम तो भावों से त्याग कर देते हैं तथा जो त्याग को जड़ की क्रिया कहकर भोगों में जम्पापात लेता रहता है, उससे बड़ा अज्ञानी और कोई नहीं है। ऐसा तो तीन काल में भी नहीं हो सकता कि अन्तरंग में त्याग बना रहे और बाहर से त्याग न हो।

यदि बदलियाँ पानी से भरी हों तो वे नियम से कहीं न कहीं बरसेंगी यदि फूलों, में सुवास होगी वे अवश्य ही महकेंगे। वर्तमान में त्याग का रूप बदल गया है, जीवन आधुनिकता में ढ़ल गया है। वैज्ञानिक युग सीना तानकर सामने आ रहा है, जीवन में हर कार्य में मशीनों ने स्थान ले लिया है। लोगों ने धर्म देवालय आदि का त्याग कर दिया है। लोग विज्ञान की कसौटी पर धर्म को तौलना चाहते हैं अपने अनुरूप धर्म को मोड़ना चाहते हैं। कुछ तो ऐसी भी विचारधारा बना रहे होंगे कि त्याग भी हम मशीनों के माध्यम से कर लेंगे, इतना ध्यान रखना कि त्याग मशीनों से संभव नहीं है, और फिर भी आप नहीं माने तो यह भी ध्यान रखना कि मुक्ति मशीनों को मिलेगी आपको नहीं।

दुनिया में त्याग बहुत बड़ी चीज है। यदि वृक्ष फलों का त्याग करना बंद कर दे, तो संसार की स्थिति क्या होगी! यदि नदी का जल बहना बंद कर दे एक स्थान पर इकट्ठा हो जाये तो उस पर काई जम जायेगी। उसका स्वाद बदल जायेगा। कुँआ पानी देना बंद कर दे तो हमारी हालत क्या होगी! गाय दूध देना बंद कर दे! दैनिक क्रिया में मल विसर्जन ही रूक जाये तभी आप सोचिये, कितने परेशान हो जायेंगे। डाक्टरों के चक्कर काटेंगे। डाक्टर इंजेक्शन लगायेगा तो आप हंस कर लगवा लेंगे। डाक्टर भोजन का त्याग करायेगा तो आप खुशी-खुशी कर देंगे। जब शरीर के लिए त्याग इतना जरूरी है तब आत्मिक विकास के लिए त्याग कितना जरूरी होगा आप खुद ही सोचिये।

गांधीजी ने इस देश को स्वतन्त्रता दिलाई है स्वतन्त्रता त्याग के उपरान्त ही मिली है। आत्मा को भी स्वतन्त्रता त्याग के उपरान्त ही मिलेगी। आचरण के अभाव में धर्म का अभाव हो जाता है। धर्म के अभाव में संस्कृति का अभाव हो जाता है जिससे अचार-विचार में हीनता आने लगती है। तथा अराजकता फैलने लगती है तथा अज्ञानियों की बहुलता होने लगती है। अज्ञानियों और हीन आचरण वालों से धर्म का नियम से अभाव होने लगता है।

आचरण हैवान को इंसान बना देता है,
माली वीरान को गुलिस्तान बना देता है।
मैं आप बीती कहता हूँ दूसरे की नहीं,
त्याग इंसान को भगवान बना देता है।।

धर्म आत्मा का स्वभाव है जिसका अनुभव मानव स्वयं के केन्द्र पर निर्विकल्प समाधि में करता है। निर्विकल्प समाधि, त्याग, तप, संयम से प्राप्त होती है। परम समाधि ही आत्मा का रूप है। इसे कहीं खोजने नहीं जाना पड़ता भीतर ही विद्यमान है।

आत्मा की और वे ही मुड़ सकते हैं जो उत्तम त्याग अपना कर अन्तरंग और बहिरंग परिग्रह का त्याग करते हैं। जो यश पाने के लिए अहंकार की पुष्टि के लिए त्याग करते हैं वे आत्मा का अनुभव नहीं कर सकते, वे बाहर ही बाहर भटकते रहते हैं। तथा जो अन्तरंग से परिग्रह का त्याग करता है, वह आत्मा का अनुभव करता है।

एक बार श्रवण कुमार अपने माता-पिता को कांवर में बिठाये हुए, पसीने से लथपथ, एक गाँव से गुजर रहे थे। धूप तेज थी, जेठ मास की गर्मी थी। एक बुजुर्ग ने देखा तो उन्हें दया आ गई और श्रवण कुमार के पास आकर प्यार से कहा, बेटा धूप बहुत है तुम पसीने से लथपथ हो और इतना बोझ उठाये हो, कुछ सुस्ता लो।

श्रवण कुमार ने सुना, और बौखला कर कहा- बोझ आपके लिए होगा। ये मेरे माता-पिता हैं, और मुझे इन्हें अपने कंधे पर लेकर तीरथ कराने का सौभाग्य मिला है। जहाँ पर आनन्द है, सहजता है वहाँ थकान नहीं रहती। श्रवण का उत्तर सुनकर चुप हो गये।

सही बात है जहाँ अहंकार होता है तो थोड़ा सा कार्य भी बोझ बन जाता है पर जहाँ त्याग है आनन्द है वहाँ पर बोझ नहीं रहता।

"हरेक बात किसी से सुनाई न गई,
पर की ओर दृष्टि हमसे उठाई न गई।
सयंम संग गुजरी सुबह शाम इस तरह मेरी,
पीर जो कुछ भी सही, किसी से बताई न गई"।।

जिनके जीवन में आनन्द नहीं है। खुशी नहीं है वे दर-दर भटक कर रोते हैं। जो जीवन में त्याग नहीं अपना पाते उन्हें बुराई और दोष ही दूसरों में दिखाई पड़ता है। वे लोग अपनी तराजू लेकर त्यागियों को तौलने पहुँच जाते हैं।

लोग साधु संतो को देखकर हंसते हैं उनका, उनकी साधना का माखौल उड़ाते हैं। यदि एक बार स्वयं के ऊपर भी हँस लें तो सारा का सारा जीवन संवर जायेगा। हम ऊपर से हँसते हैं लेकिन भीतर वेदना के आँसू भरे रहते हैं। जब आप किसी को दुखी देखते हैं तो उसका मन बहलाने के लिए कहते हैं, चलो सिनेमा चलेंगे, बगीचा चलेंगे, घूमने चलेंगे! लेकिन ये सब दुख बढ़ाने के साधन हैं। आप यह नहीं कहेंगे कि सांसारिक वस्तु दुखदायी है चलो आत्म साधना करेंगे।

भगवान महावीर ने सत्य को सच्चा निमन्त्रण त्याग करने के उपरान्त ही दिया है। जिसका अन्तस्थल सत्य से भर जाता है उसका जीवन स्वयं बदल जाता है।

अक्सर लोग मेरे पास आ कर पूछते है कि मन में अशांति रहता है। क्या करुं! भई! अशांति का एक ही कारण है कि जो तुम्हारा अपना नहीं है उसे अपना मत समझो। अशांति के साधनों को अलग कर दो तो मन शान्त हो जायेगा।

एक बार एक युवक को मेरे पास लाया गया जिसे शराब पीने की लत थी। मैंने पूछा- क्यों भई! क्या इरादा है? उसने धीरे से कहा- महाराज! धीरे-धीरे छोड़ दूंगा। अरे! धीरे-धीरे क्या छोड़ोगे। अगर तुम्हारे चारों तरफ आग लगी है तो क्या तुम धीरे-धीरे निकलोगे। तुम्हें आंखे सत्य को देखने के लिये मिली हैं। अगर तुम उसे बंद करके बैठे हो, तो यह तुम्हारा दुर्भाग्य है।

एक व्यक्ति गन्दे कमरे में बंद है, जिसकी दीवारों पर कालिख पुती हुई है तथा चारों ओर से बदबू आ रही है। उस कमरे में एकमात्र खिड़की है जिसे खोल कर वह बाहर देख सकता है। स्वच्छ आसमान, चांद सितारों को देख सकता है। किन्तु वह उसी कमरे में पड़ा रहना चाहे बाहर की स्वतन्त्रता से उसे लगाव न हो तो आप क्या करेंगे।

हमारा दुर्भाग्य है कि हम त्याग की खिड़की नहीं खोलते और वास्तव में जो आनन्द है उससे परिचित नहीं होते। जिन्होंने अपने अंधकारमय जीवन में त्याग की खिड़की ख़ोली है उन्हें ही सुरभित वायु मिली है। अहंकार के कारण हम अपनी खिड़की खोलना नहीं चाहते।

एक बार एक अंधा भिखारी अपने अंधे होने की तख्ती लगाये बैठा था। किसी ने् उसके कटोरे में पैसा डाला भिखारी ने पैसा हाथ में उठाकर देखा और दाता से कहा यह पैसा तो खोटा है। दूसरा पैसा दो। दाता ने कहा-वाह!। तुम्हें कैसे पता चला कि यह खोटा है। तब भिखारी कहा कि अंधा मैं नहीं मेरा दोस्त है वह पिक्चर देखने गया है और मैं तो गूंगा बहरा हूँ।

आप समझ गये होंगे मेरी बात अंधा परिवार पिक्चर देखने गया है, गूंगा-बहरा बोल रहा है, सुन रहा है। आजकल के त्यागी। दाता

ऐसे ही हम। योग्य पात्र का ध्यान नहीं रखते। दान करते हैं तो अखबार वाले के पास दौड़ते हैं, मंदिरों की दीवारों पर नाम छप जाये, फोटो खींच जाये, लोगों में वाह-वाही हो जाये, ऊँचा आसन मिल जाये। कुछ भी पता नहीं चलता कि वास्तव में मन में क्या है, और बाहर क्या है। भगवान महावीर ने अपनी साधना पद्धति में इसे स्वीकार नहीं किया है उन्होंने वास्तविक त्याग उसे ही कहा है जहाँ किंचित भी अहंकार नहीं है। अहंकार सहित त्याग से पुण्य का आस्रव तो हो सकेगा, किन्तु ऐसा त्याग मोक्ष बंध में कारण नहीं हो सकता। जिसने अपनी समस्त इच्छाओं का त्याग कर दिया वही मोक्षमार्गी है।

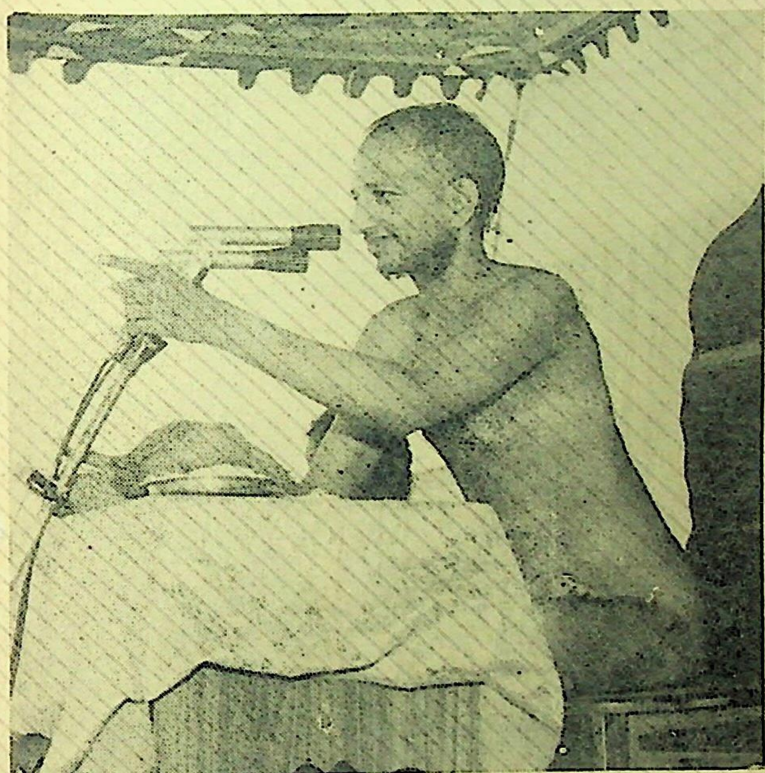
याचना और मांग का पूर्ण अभाव होना उत्तम त्याग है। त्याग अन्तरात्मा में उतरने की प्रथम सीढ़ी है वहां मान-सम्मान की शर्त कैसी!

अन्त में, मैं भगवान से प्रार्थना करता हूँ कि आप भी त्याग की भावना से ओत-प्रोत हो जाये और त्याग आपके जीवन की आवश्यक पुकार बन जाये ताकि जीवन में उत्तम त्याग हो सके।

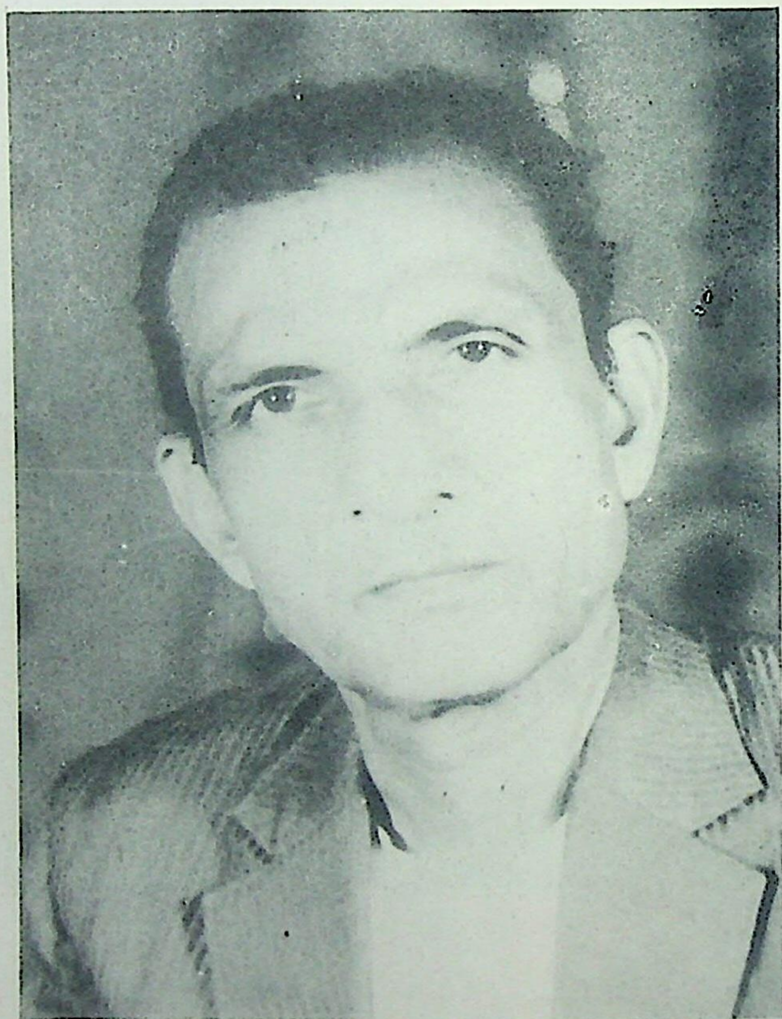
"त्याग कर त्याग दूँ, तयगूं भव की रीत।
धीरे-धीरे कर सँकू, मुक्ति रमा से प्रीत ।।१।।
त्याग मार्ग पर सब चलो, रोग शोक मिट जाये,
नन्हीं जान की यह कली, खिलत-किलत खिल जाये।।२।।

उत्तम त्याग धर्म की जय

उत्तम आकिंचन



आचार्य पुष्पदन्त सागरजी महाराज



मैयावत माणकलाल पन्नालाल पालौदावाले परतापुर

९. उत्तम आकिंचन धर्म

नास्ति किंचनास्येव्यकिंचनः वस्य भावः कर्म वा आकिंचन्यम् सर्वार्थसिध्दि।।९६।।

मेरा मेरे से अतिरिक्त कुछ भी नहीं है इसी भाव का नाम आकिंचन है। आज रिक्त होने का दिन है। सहित से रहित होने का, युक्त से मुक्त होने का, साथ से बिछुड़ने का और संयोग से वियोग होने का दिन है।

आकिंचन धर्म हमें तृण मात्र भी परिग्रह न रखने की शिक्षा देता है। वह प्राणी की वास्तक्वि स्थिति से परिचित कराता हैः-

"आप अकैला अवतरै, मरे अकेला होय।
यो कभी या जीव का, साथी सगा न कोय।।"

इस सत्य का ज्ञान और जीवन में परिणति ही आकिंचन धर्म की प्रतीति है। आज अपनी आत्मा के अस्तित्व और स्वभाव पर विचार कीजिए। वह तो मात्र ज्ञाता और दृष्टा है। 'स्व', पर से उसे कोई प्रयोजन नहीं। उसका कोई शत्रु या मित्र नहीं। वह राग-द्वेष से रहित है।

परन्तु वह मुक्त होते हुए भी युक्त है। स्वतंत्र होते हुए भी पराधीन है। और यही कारण है कि उसे शिवधाम से वंचित शरीर परिवर्तन और जन्म-जन्मान्तरण कर चर्तुगति भ्रमण करना पड़ रहा है।

आचार्य अमित गति सामायिक पाठ में कहते हैंः-
" यस्यास्ति नैक्यं वपुषाऽपि सार्ध्दम्,
तस्यास्ति किं पुत्र-कलत्र मित्रैः।
पृथकृते चर्माणि रोमकूपाः
कुतोहि तिष्ठन्ति शरीर मध्येः।।

जिसका शरीर के साथ भी एकत्व नहीं है उसका तो पुत्र, स्त्री या मित्रों के साथ एकत्व कैसे संभव है। चर्म के शरीर से पृथक कर देने पर रोमकूप (छिद्र) शरीर में कैसे रह सकते है?

जो कुछ तुम्हारा है वह अंतस में विद्यमान है। बाह्य में आसक्ति ही भ्रमण का कारण है। आज हमें 'स्व' को अंगीकार करना है। स्व के स्वरूप को जानना है। पर से मूर्छा को हटाना है। जिन वासनाओं और अहंकारों ने हमें मूर्छित कर रखा है। उनसे छुटकारा पाना है ताकि हमें 'स्व' के वास्तविक अस्तित्व और स्वरूप का बोध हो सके।

कार्तिकेयानुप्रेक्षा में स्पष्ट उल्लेख है कि-
''विविहेण जो विवर्ज्जई, चेयण मियरंच सव्वहा सगं।
लोय विवहार विरहों, णिग्गंयहं हृवे तस्स।।''

जो चेतन, अचेतन दोनों प्रकार के परिग्रहों को मन, वचन, काय, कृत, कारित, अनुमोदना करके सर्वथा छोड़ देता है तथा जो लोक व्यवहार तक से विरक्त रहता है वह उत्तम आकिंचन धर्म का धारी है।

यदि तूने 'स्व' को पहचान लिया, 'स्व' की सत्ता को जान लिया, उसके वास्तविक स्वरूप से परिचित हो गया तो तू सुप्तावस्था को त्याग कर जागृत हो जायेगा। मूर्छा भंग हो जायेगी।

ऐ जीव! क्या कारण है कि तू अन्तस् की आवाज को विस्मृत बाह्य के कोलाहल में भटक गया है। आत्मज्ञान से भ्रमित छल छद्म ज्ञान का रसिक हो गया है। आत्म कल्याण के सचेतक उपदेष्टा की अमृतवाणी का विस्मरण कर संसारी छलिया की मोहक वाचालता में फंस गया है।

आचार्य कुमुदचन्द्रजी भी कल्याण मंदिर स्त्रोत में ऐसी ही जिज्ञासा प्रगट करते है।

'' अस्मित्रपारभव- वारिनिधौ मुनीश,
मन्ये न मे श्रवण गोचरतां गतोऽसि।
आकर्णिते तु तव गोत्र पवित्र मन्त्रे,
किं वाविपद्-विषधरी, सविधां समेति।।''

हे मुनीन्द्र! इस अपार संसार सागर में परिभ्रमण करते हुए मुझे अनन्तकाल हो गया, परन्तु मालुम होता है आपका पवित्र नाम कभी भी

प्रतिगोचर नहीं हुआ। क्योंकि यदि आपके नाम का पवित्र मन्त्र कभी सुनने में आया होता तो फिर क्या यह विषयान्त रूपी काली नागिन मेरे पास आती? कभी नहीं।

आप दर्पण में अपना प्रतिबिम्ब देखने के अभ्यस्त हो गये हैं। आपका वास्तविक प्रतिबिम्ब आपकी आत्मा में विद्यमान है। पर निन्दा से दुःखी होना, दूसरों के द्वारा प्रशंसा किये जाने पर खुशी मनाना, वञ्चना से परेशान होना, यह सब इसी का परिणाम है। अतः अंतस् के दर्पण में सत्य के दर्शन करने का प्रयास कीजिये।

एक शाला में एक मास्टर साहब थे। व्यक्तित्व, मिलन सरिता के कारण काफी लोकप्रिय थे जिससे उनके छात्र ही नहीं नगरवासी भी उन्हें सम्मान देते थे। एकाएक उनकी पत्नी का स्वर्गवास हो गया। पत्नी से वियुक्त वे दुःखी हो गये।

यौवनकाल में ही पत्नी का वियोग वे सहन नहीं कर सके। वे स्वयं बीमार रहने लगे और एक दिन मृत्यु को प्राप्त हुए। देवयोग से उनका दाहसंस्कार उसी स्थान पर हुआ जहां उनकी पत्नी का हुआ था। नगर के अनेक नागरिक और छात्र उनकी शवयात्रा में आये थे और उसकी चिता पर फूल बरसा रहे थे।

पत्नी वियोग मृत यह मास्टर मरकर भूत बन गया था और खुद की अर्थी में इतने सारे लोगों को एकत्रित देख हँस रहा था। उसे जीवित अवस्था में अपनी ऐसी महान लोकप्रियता पर गर्व हो रहा था। उसे दुख भी हो रहा था कि पत्नी वियोग से दुःखी वह इतने दिन बीमार, व्यथित, जीवित क्यों रहा? मास्टर साहब भूत बनकर यह सब देख रहे थे और खुश हो रहे है। मानव स्वयं भी ऐसा ही दर्शक बनकर अपनी दुर्दशा देख रहा है और भुगत रहा है।

दूसरों की सलाह पर काम करने वाला, दूसरों की राय से जीने वाला, पर प्रशंसा खुश और पर निन्दा में दुःखी रहने वाला यह संसारी प्राणी कतरन जोड़कर उसकी कमीज बनाकर पहनने वाला है जिसके कपड़े की, रंग का, पतले या मोटे की, गुण और धर्म की निश्चितता भ्रमोत्पादक है। अतः हमें आत्म दृष्टा बनना होगा, कतरने, पहनना छोड़ना होगा।

हम 'पर' को ही वास्तविक समझ बैठे हैं। हमारा निर्णय बहुमत के अधीन है। हम भीड़ को ही अपना समझ बैठे है और हमेशा से ही उसके हाथों लुटते चले आ रहे हैं।

एक वैश्या अधिकतम भीड़ एकत्रित कर स्वयं को रूपवती सुन्दरी मानने लगती है।

एक नेता अधिक भीड़ एकत्रित कर अपनी लोकप्रियता प्रमाणित करता है।

आप भी अपने परिवार के साथ सिनेमा देखने या अन्यत्र कहीं भी जाते हैं। सुन्दर वस्त्र व आकर्षक व्यक्तित्व बनाकर निकलते हैं वास्तव में चित्रपट देखने जा रहे थे मगर रास्ते में लोग आपको देखना शुरू कर देते हैं। अर्थात् दृश्य और दर्शक दोनों ही आप हैं बन्धुओं! आप दृश्य नहीं दर्शक बनने का प्रयास कीजिये।

हम जाने अनजाने कर्मों का बंध बांधते चले जा रहें है। रिश्ते, नातों में, धन वैभव में, छिद्रान्वेषण और चापलूसी में अपना जीवन व्यर्थ खो रहें है। अनादिकाल से इसमें ही उलझे हुए है अभी तक यह भी बोध नहीं हो पाया कि मैं अकेला हूं बाकी सब 'पर' है। 'पर' से मेरा कुछ भी संबंध नहीं है। जो कुछ है वह सब कृत्रिम है।

एक कुत्ता एक बार शीश महल में घुस गया जिसकी दीवारें काँच ही काँच की थी। वह जिस ओर देखता उसे अपना ही प्रतिबिंब दिखाई देता था। परन्तु वास्तविकता से अज्ञात वह उन शीशों में अनेक कुत्ते देख रहा था। सो जातिस्वभाव के अनुसार उन कुत्तों पर भौंकने लगा। भौंकते भौंकते उसका प्राणान्त हो गया।

बन्धुओ! हम सब अपने-अपने जीवन में उसी कुत्ते के समान है। 'स्व' को भूलकर पर से हम इसी प्रकार लड़ रहे है और अपना जीवन व्यर्थ नष्ट कर रहे है।

एक बार एक लगभग साठ वर्षीय सज्जन मेरे पास आये। काफी गंभीर दिखाई दे रहे थे। देखते ही देखते रोने लगा। मैने सोचा-काफी

दुःखी है शायद विपत्तियों से ग्रस्त वैराग्य उत्पन्न हो गया है और जल्दी ही संसार से मुक्त हो जाना चाहते है सो एकाएक पूछ लिया कि आपके इस प्रकार दुःखी होकर रोने का क्या कारण है? परन्तु वे आसपास बैठे लोगों को देखकर मौन रहे। जब सब लोग चले गये तो मौन तोड़कर बोले कि महाराज मेरी ग्यारह पुत्रियाँ और एक पुत्र है। पत्नी का देहावसान हो गया है। पुत्र भी मर चुका है। पत्नी और पुत्र वियोग से मैं बहुत दुःखी हूं।

मैने कहा कि यह तो गतानुगतिक लोक के समान होता ही चला आया है। संसार में यह कोई नई बात नहीं है। परन्तु उनके मन में तो कुछ और ही था। वे बोले कि महाराज मुझे कोई ऐसा मन्त्र दे दीजिये जिससे मेरा पुनः विवाह हो जाय। जो सदा मेरे साथ जीवित रहे। पुत्र रत्न की प्राप्ति हो और मैं सुखी रहूं।

मैं सन्नाटे में था परन्तु श्रध्दालु का आग्रह जानकर उसे एक मुक्तक लिखकर दिया और उसे पढ़ने और याद करने को कहा-

''पत्नी की याद में जीवन गुजर गया,
फोटो चली गई बस फ्रेम रह गया।''

सज्जन चुपचाप चले गये। मैं सोचता रहा इस स्वर्णिम अवसर के बारे में जो उन्हें प्राप्त हुआ है। यदि वे आकिंचन बन जाते। प्रकृति ने तो उन्हें आकिंचन बना ही दिया था। अंतरंग से भी वे अकिंचन धारण कर लेते, तो वास्तव में अपना कल्याण कर लेते।

एक बार दो भाई धनोपार्जन हेतु देशान्तर में निकले। भाग्योदय से अधिक सम्पत्ति उपार्जित कर ली। दोनों ने सारी सम्पत्ति से एक बहुमूल्य रत्न खरीद लिया। धन की सुरक्षा का ध्यान था। बड़े भाई ने उस रत्न को अपने पास कपड़ों में छिपाकर रख लिया। पानी के जहाज में दोनों सफर कर रहे है। बड़े भाई के मन में विचार आया कि घर वापिस पहुंचने पर इस रत्न का आधा हिस्सा छोटे भाई को देना होगा। जबकि अर्थोपार्जन में, मैंने अधिक श्रम किया है। अतः क्यों न छोटे भाई को समुद्र में गिरा दूं। बंटवारे से बच जाऊंगा व रत्न पर एक मात्र मेरा अधिकार रहेगा। परन्तु पुनः भ्रातृप्रेम जाग्रत हुआ। सोचाकि इस रत्न को रखने से ही उसमें ये कुत्सित विचार आ रहे है। अतः निश्चय कर उसने वह रत्न छोटे भाई को रखने के लिए दे दिया।

रत्न पास में रखते ही छोटा भाई के हृदय में भी स्वार्थी विचार पनपने लगे। वह रत्न का एकमात्र अधिकारी बनने, व बड़े भाई के सर्वनाश का विचार करने लगा। परन्तु पुनः विवेक ने उसे भी यह अनुमति नहीं दी। यह रत्न ही भाई के सर्वनाश के विचार को जन्म दे रहा है ऐसा सोचकर रत्न बड़े भाई को लौटाते हुए बोला कि- यह रत्न हम दोनों की शत्रुता का कारण है। रत्न मेरे पास रहा तो मैं आपका कुछ भी अनर्थ कर सकता हूं अतः कृपया इस रत्न को आप ही रखिये।

बड़े भाई ने रत्न रख तो लिया परन्तु घर पहुंचते ही बहिन के पास रख दिया। रत्न पाकर बहिन के परिणाम भी बदलने लगे। वह दोनों भाइयों को भोजन में विष देकर रत्न पर एकाधिकार प्राप्त करने का विचार करने लगी। अचानक दोनों भी उसके पास आकर बैठ गये। प्रेम पूर्वक बातचीत करने लगे। दोनों भाइयों के अगाध निश्छल प्रेम से प्रभावित उसके नेत्र अश्रु विहृल हो गये।

बहिन ने रत्न निकाला और भाइयों के सामने फेंककर कहा कि यह रत्न अशुभ विचार उत्पन्न करता है। मैं इसे अपने पास रखना उचित नहीं समझती अन्यथा कुछ भी अनर्थ हो जायेगा।

दोनों भाई उस रत्न को रखकर उसका प्रभाव देख चुके थे। बहिन की आपबीती सुनकर निश्चय किया कि गरीबी में प्रेम पूर्वक जीना अधिक उपयुक्त होगा परन्तु इस रत्न को रखकर सर्वनाश उचित नहीं सो उन्होंने उस रत्न को समुद्र में फेंककर बुराइयों को हमेशा-हमेशा के लिए समाप्त कर दिया।

बन्धुओं! आप ऐसे ही रत्नों को सीने से चिपकाये बैठे है। आपका विवेक सुप्त हो गया है, आप दुःखी है, परेशान है, दिन रात अशांत है परन्तु रत्न से ममत्व नहीं छोड़ पा रहे है। ऐसा सोना किस काम का जो कान काटे ऐसा विवेक भी जागृत नहीं हो पा रहा है।

अशान्ति, विग्रह से मुक्त होना चाहते हो, संचय की भावना त्यागना होगी। 'पर' के संचय में अशान्ति है, दुःख है, बैचेनी है यदि संचय ही करना है तो अन्तरात्मा के अतुलनीय वैभव को जानो उसे संचित करो। अनन्त चतुष्टय के धनी वीतरागी मुद्रा को धारण करो।

मानव जीवन कमल पुष्प पर स्थित ओस की बूंदों के सदृश्य है। सूर्योदय होते ही सूर्य की पहली किरण ही उसे सुखा देगी उसके अस्तित्व को समाप्त कर देगी। अतः उचित है कि सूर्य के सुखाने से पहले ही हम सीप के मुख में पहुंचकर मोती बन जाय। आकिंचन धर्मधारण कर चिरन्तन सुख प्राप्त कर ले।

एक फकीर था। जीवन भर भिक्षा मांगता रहा। काफी धन एकत्रित कर लिया। अन्त समय आया जानकर उसने विचार किया कि क्यों ना मैं यह धन किसी गरीब को दरिद्र को दे दूं। अतः उसने घोषणा कर दी कि जो सबसे अधिक दरिद्र है वह मेरा धन मुझसे ले जाये। अनेक व्यक्ति आये और फकीर से धन देने को कहा। परन्तु वे सभी धन पाने के योग्य नहीं थे। वे दरिद्र बनकर धोखा दे रहे थे।

अचानक फकीर ने मार्ग में एक विशाल जुलूस आते हुए देखा। राजा साहब की सवारी आ रही थी। राजा की प्रजा उनके दर्शन करने हेतु दौड़े चले आ रहे थे। काफी जन समूह सवारी के आगे पीछे चल रहा था।

फकीर ने अचानक अपने सारे धन की थैली राजा की ओर उछाल कर फेंकी। व राजा से बोला कि- महाराज मेरा समय निकट है व अपना सारा धन किसी दरिद्र को देने की इच्छा है। आपसे बड़ा दरिद्र दूसरा कोई हो नहीं सकता अतः आप ही इसके अधिकारी है। राजा प्रश्नवाचक मुद्रा में उसकी ओर देखता रहा। फकीर ने स्पष्ट किया कि आप सम्राट हो सकते है। विशाल खजाने के मालिक भी होंगे परन्तु संतुष्ट नहीं है। वैभव वृध्दि का लालसा, दिग्विजय की तृष्णा आपने अहर्निश दुःखी बना रखी है। वर्तमान से असन्तुष्ट और अधिक पाने की लालसा से व्यथित है। अतः आप सम्पन्नता में भी विपन्न है अतः आपसे अधिक दरिद्र अन्य कोई नहीं है।

वास्तव में दरिद्रता 'पर' के प्रति मोह या 'मूर्छा' बढ़ाने में है व सम्पन्नता 'स्व' के दिव्य कोश की अनुभूति में है। एक बार एक राजा साहब को वैराग्य हो गया। वे वीतरागी दिगम्बर साधु बन गये। जंगल जाकर ध्यान लगाकर बैठ गये। एकाएक आंख खुली। सामने एक चमकते हुए हीरे पर दृष्टि गई। सोचा कोई मुसाफिर यहां से आगे गया है उसी का हीरा गिर गया। बेचारा परेशान होगा। अतः क्यों न इसे अपने पास रख लूं। खोजने आयेगा तब उसे दे दूंगा। पुनः सोचने लगा कि व्यर्थ

रत्न पास में रखते ही छोटा भाई के हृदय में भी स्वार्थी विचार पनपने लगे। वह रत्न का एकमात्र अधिकारी बनने, व बड़े भाई के सर्वनाश का विचार करने लगा। परन्तु पुनः विवेक ने उसे भी यह अनुमति नहीं दी। यह रत्न ही भाई के सर्वनाश के विचार को जन्म दे रहा है ऐसा सोचकर रत्न बड़े भाई को लौटाते हुए बोला कि- यह रत्न हम दोनों की शत्रुता का कारण है। रत्न मेरे पास रहा तो मैं आपका कुछ भी अनर्थ कर सकता हूं अतः कृपया इस रत्न को आप ही रखिये।

बड़े भाई ने रत्न रख तो लिया परन्तु घर पहुंचते ही बहिन के पास रख दिया। रत्न पाकर बहिन के परिणाम भी बदलने लगे। वह दोनों भाइयों को भोजन में विष देकर रत्न पर एकाधिकार प्राप्त करने का विचार करने लगी। अचानक दोनों भी उसके पास आकर बैठ गये। प्रेम पूर्वक बातचीत करने लगे। दोनों भाइयों के अगाध निश्छल प्रेम से प्रभावित उसके नेत्र अश्रु विह्वल हो गये।

बहिन ने रत्न निकाला और भाइयों के सामने फेंककर कहा कि यह रत्न अशुभ विचार उत्पन्न करता है। मैं इसे अपने पास रखना उचित नहीं समझती अन्यथा कुछ भी अनर्थ हो जायेगा।

दोनों भाई उस रत्न को रखकर उसका प्रभाव देख चुके थे। बहिन की आपबीती सुनकर निश्चय किया कि गरीबी में प्रेम पूर्वक जीना अधिक उपयुक्त होगा परन्तु इस रत्न को रखकर सर्वनाश उचित नहीं सो उन्होंने उस रत्न को समुद्र में फेंककर बुराइयों को हमेशा-हमेशा के लिए समाप्त कर दिया।

बन्धुओं! आप ऐसे ही रत्नों को सीने से चिपकाय बैठे है। आपका विवेक सुप्त हो गया है, आप दुःखी है, परेशान है, दिन रात अशांत है परन्तु रत्न से ममत्व नहीं छोड़ पा रहे है। ऐसा सोना किस काम का जो कान काटे ऐसा विवेक भी जागृत नहीं हो पा रहा है।

अशान्ति, विग्रह से मुक्त होना चाहते हो, संचय की भावना त्यागना होगी। 'पर' के संचय में अशान्ति है, दुःख है, बैचेनी है यदि संचय ही करना है तो अन्तरात्मा के अतुलनीय वैभव को जानो उसे संचित करो। अनन्त चतुष्टय के धनी वीतरागी मुद्रा को धारण करो।

मानव जीवन कमल पुष्प पर स्थित ओस की बूंदों के सदृश्य है। सूर्योदय होते ही सूर्य की पहली किरण ही उसे सुखा देगी उसके अस्तित्व को समाप्त कर देगी। अतः उचित है कि सूर्य के सुखाने से पहले ही हम सीप के मुख में पहुंचकर मोती बन जाय। आकिंचन धर्मधारण कर चिरंतन सुख प्राप्त कर ले।

एक फकीर था। जीवन भर भिक्षा मांगता रहा। काफी धन एकत्रित कर लिया। अन्त समय आया जानकर उसने विचार किया कि क्यों ना मैं यह धन किसी गरीब को दरिद्र को दे दूं। अतः उसने घोषणा कर दी कि जो सबसे अधिक दरिद्र है वह मेरा धन मुझसे ले जाये। अनेक व्यक्ति आये और फकीर से धन देने को कहा। परन्तु वे सभी धन पाने के योग्य नहीं थे। वे दरिद्र बनकर धोखा दे रहे थे।

अचानक फकीर ने मार्ग में एक विशाल जुलूस आते हुए देखा। राजा साहब की सवारी आ रही थी। राजा की प्रजा उनके दर्शन करने हेतु दौड़े चले आ रहे थे। काफी जन समूह सवारी के आगे पीछे चल रहा था।

फकीर ने अचानक अपने सारे धन की थैली राजा की ओर उछाल कर फेंकी। व राजा से बोला कि- महाराज मेरा समय निकट है व अपना सारा धन किसी दरिद्र को देने की इच्छा है। आपसे बड़ा दरिद्र दूसरा कोई हो नहीं सकता अतः आप ही इसके अधिकारी है। राजा प्रश्नवाचक मुद्रा में उसकी ओर देखता रहा। फकीर ने स्पष्ट किया कि आप सम्राट हो सकते है। विशाल खजाने के मालिक भी होंगे परन्तु संतुष्ट नहीं है। वैभव वृध्दि का लालसा, दिग्विजय की तृष्णा आपने अहर्निश दुःखी बना रखी है। वर्तमान से असन्तुष्ट और अधिक पाने की लालसा से व्यथित है। अतः आप सम्पन्नता में भी विपन्न है अतः आपसे अधिक दरिद्र अन्य कोई नहीं है।

वास्तव में दरिद्रता 'पर' के प्रति मोह या 'मूर्छा' बढ़ाने में है व सम्पन्नता 'स्व' के दिव्य कोश की अनुभूति में है। एक बार एक राजा साहब को वैराग्य हो गया। वे वीतरागी दिगम्बर साधु बन गये। जंगल जाकर ध्यान लगाकर बैठ गये। एकाएक आंख खुली। सामने एक चमकते हुए हीरे पर दृष्टि गई। सोचा कोई मुसाफिर यहां से आगे गया है उसी का हीरा गिर गया। बेचारा परेशान होगा। अतः क्यों न इसे अपने पास रख लूं। खोजने आयेगा तब उसे दे दूंगा। पुनः सोचने लगा कि व्यर्थ

ही मैं एक हीरे के लिए इतना बेचैन हो गया हूं। फिर अनेक हीरे तो मैं पाकर भी छोड़ चुका हूँ। साधु पुनः ध्यान मग्न हो गये।

अचानक दो मुसाफिर उस मार्ग से निकले। दोनों की दृष्टि हीरे पर गई। दोनों उसे उठाने के लिये झुके। व उसे पाने के लिए आपस में लड़ने लगे। तलवार युध्द शुरू हो गया व लड़ते-लड़ते एक दूसरे के प्राण ले लिये।

मुनि के सन्मुख यह द्वन्द चल रहा था व दोनों हीरे पर अपना अधिकार बताते हुए एक दूसरे का प्राणान्त कर रहे थे। और वह हीरा अपनी वैसी ही चमक के साथ सबका ध्यान आकर्षित कर रहा था। मानों वह कह रहा था कि जो मेरे जाल में फंसेगा उसका ऐसा ही हाल होगा। वास्तव में वह हीरा किसी का नहीं था, न रहा है और न रहेगा। हम ही है जो उस पर अपना स्वामित्व बताकर अपनी मृत्यु पाकर बदलते रहते है।

बन्धुओ! आप अपने दैहिक जीवन में दिन में श्रम करते है रात्रि में विश्राम। परन्तु जब आप रात्रि मे यात्रा करते है तब आपको टिकिट भी लेनी पड़ती है सामान व स्वयं की रक्षा हेतु सावधान भी रहना पड़ता है तभी आप गन्तव्य स्थान पर पहुँचते है।

मुनि ने भी अपने गन्तव्य स्थान के बारे में सोचा कि यदि सच्चिदानन्द प्राप्त करना है तो अन्तरंग की ज्योति को जगाना होगा। बाह्य पदार्थों से अचेत रहना होगा। अभी तक यही किया है अब बाह्य प्रदर्शन नहीं आत्मदर्शन करना है। आत्म दर्शन ही श्रेयस्कर है अतः पुनः ध्यान मग्न हो गये।

सिकन्दर जीवन पर्यन्त विश्व विजय हेतु उपक्रम करता है। जीवन भर अशान्त रहा महत्वाकांक्षी जो था पर मृत्यु के समय अपने निकटवालों शसे कहा शवयात्रा निकालते समय मेरे दोनों हाथ बाहर निकाल देना। मुट्ठी बन्द हो तो खोलकर ले जाना।

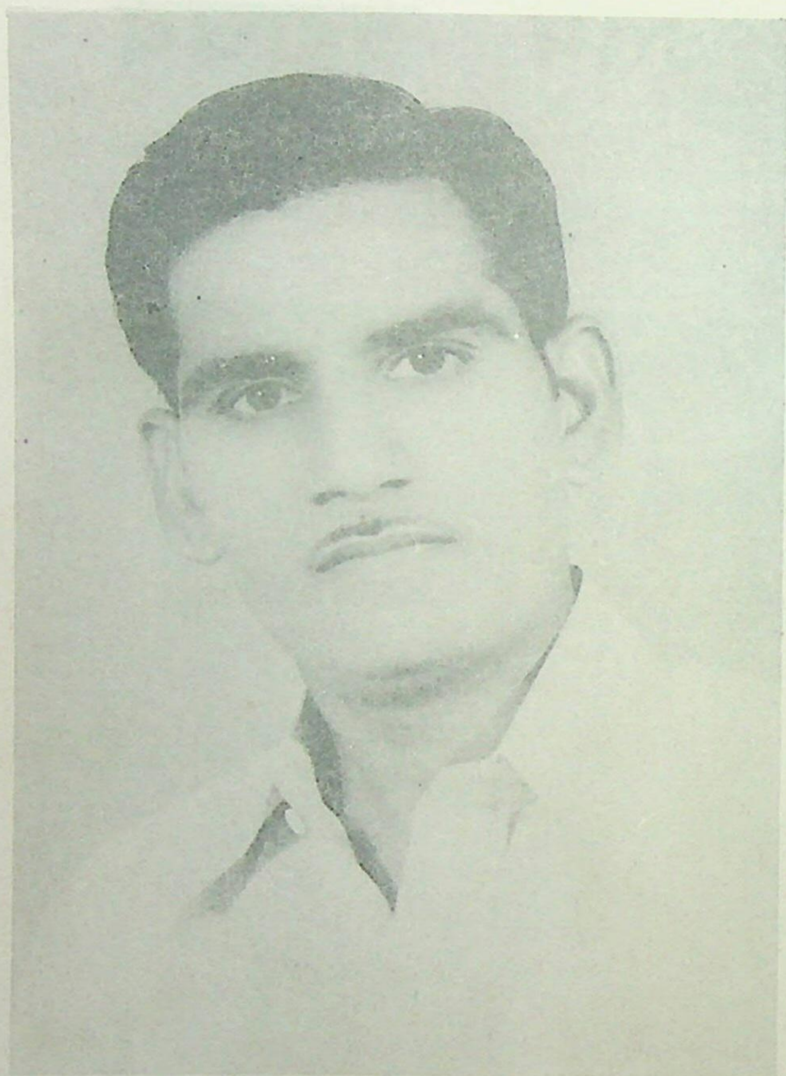
सिकन्दर को मरते समय वास्तविकता का आभास हो गया था अतः वह लोगों को सावधान करना चाहता था कि सर्व वैभव सम्पन्न सम्राट भी खाली हाथ वापिस जा रहा है।

आकिंचन धर्म का आशय यहीं है कि बाह्य से रहित आत्म साधना से सहित होना चाहिए। इन्द्रिय निग्रह करना, इच्छाओं को दमन करना, शारीरिक भोगों से उदासीन एकान्त में आत्मा का साक्षात्कार करना, जीवन के कोलाहल से दूर, अशान्ति से आत्मचिन्तन से युक्त होना ही आकिंचन धर्म का स्वरूप है वहीं अमिट शांति प्रदायक है।

उत्तम ब्रह्मचर्य



आचार्य पुष्पदन्त सागरजी महाराज



कोरावत रमणलाल कचरचन्द परतापुर

उत्तम ब्रह्मचर्य

मणिमय मनहर निज अनुभव में
झग-झग, झग-झग करती है।
तमों रजों अरू सतों गुणों की
गण को क्षण में हरती है।
समय-समय पर समयसार मय
चिन्मय निज ध्रुव मणिका को
नमता मम् निर्भय मस्तक
तज मृणमय जड़मय मणिका को।।

धर्म प्रेमी बन्धुओं,!

पतित से पावन बनने वाली आज तक जितनी भी आत्मायें हैं, सभी ने ब्रह्मचर्य की उपासना की है, उसे अन्तर में उतारा है। ब्रह्मचर्य की उपासना का शुभ अवसर मात्र मानव को उपलब्ध होता है। अन्य किसी भव में यह सम्भव नहीं है, क्योंकि बुद्धि का पूर्ण विकास, सोचने समझने की शक्ति, मानव के ही पास है। पशुओं के पास इस प्रकार के विकास की शक्ति नहीं है।

मानव जीवन की सफलता ब्रह्मचर्य की उपासना में है। विषय वासना, दुःख का, मृत्यु का कारण है। ये वासनायें मात्र दुःख का कारण ही नहीं, अपितु दुःखों का एक निगूढ़ सागर भी है। जिसकी कोई थाह नहीं, कोई अन्त नहीं, मात्र भटकन है, भुलावा है और गहन मायामयी जाल है। जिसमें उलझकर मानव अपनी जीवन-लीला समाप्त कर लेता है। विषय वासना मृत्यु है किन्तु, ब्रह्मचर्य! जीवन है, आनन्द है, सुख-सागर है अपार-अपरम्पार सागर है। यदि आप इस अपार सागर की यात्रा करना चाहते हैं, अनन्त असीम सुख चाहते हैं, तो आज अपनायें या कल या कभी भी अपनाएँ आपको इसे (ब्रह्मचर्य) अपनाना ही पड़ेगा। ब्रह्मचर्य की उपासना के बिना अनन्त सुख की उपलब्धि स्वप्न में भी सम्भव नहीं है। रोग से निवृत्ति के लिए औषधपान करना अत्यन्त आवश्यक होता

है, क्योंकि बिना औषध के रोग गया नहीं होता। वर्तमान में हमारी आत्मा भी रोग ग्रस्त है, इसे निरोग करने के लिए औषध का सेवन करना ही होगा।

आज तक जितनी भी आत्माएं निरोगी हुई, अनन्त सुख की भोक्ता बनी, उन सबने इसका आदर किया, अपने जीवन में अपनाया, इसे अपने जीवन में सर्वोच्चि स्थान दिया। ब्रह्मचर्य ही आज तक पूज्य बना। संसार की भोग सामग्री नहीं, किन्तु वर्तमान में समयानुसार व्यक्तियों में परिवर्तन आ गया है। लोगों की दृष्टि में ब्रह्मचर्य आज भी पूज्य है किन्तु पूजा भोग्य सामग्री की हो रही है। भौतिक सामग्री की उपासना के माध्यम से चेतना की उपासना नहीं हो सकती। आत्मा की उपासना के लिए ब्रह्मचर्य लेना होगा। आपके मन में प्रश्न उठ सकता है- ब्रह्म्चर्य क्या है?

बन्धुओं! ब्रह्मचर्य का अर्थ है, अपनी परोन्मुखी उपयोग की धारा को स्व की ओर मोड़ना, बर्हिदृष्टि, अन्तर दृष्टि बन जाये बाह्य पथ अन्तरपथ बन जाये। बहिर्जगत् शून्य हो जाये, अन्तरजगत् जागृत हो, चैतन्य हो जाये, अनन्त की यात्रा करने वाली उपयोग की धारा सीमित होकर स्व की ओर मुड़ जाये यही "ब्रह्मचर्य" है।

"ब्रहमे आत्मनि चरति इति ब्रह्मचर्य :"

पाँचों इन्द्रियों को निरस्त कर देना, उन पर विजय प्राप्त कर आत्मा का एक क्षत्र शासन करना, अपनी शुद्ध आत्मा में रमण करना, क्षण भर के लिये भी अपनी दृष्टि बाहर नहीं जाना, उसका आचरण करना ही ब्रह्मचर्य है। जो शील के अट्ठारह हजार अति चारों से रहित पालन करते हैं वहीं वास्तविक ब्रह्मचर्य पालन है।

ब्रह्मचर्य का अर्थ भोगों से निवृत्ति भी नहीं अपितु भोगों के साथ एकीकरण तथा रोगों से निवृत्ति है। जिसको आपने आज तक 'भोग' समझा है वह तो मात्र रोग का मूल कारण है किन्तु मैं यहाँ पर जिसकी बात कर रहा हूँ वह है "चेतन आत्मा का भोग" ब्रह्मचर्य, यानि जीवन का स्रोत, वास्तविक जीवन उपलब्ध कराने वाला परम सहायक मित्र, जीवन इमारत बनाने वाला कुशलकारीगर, जीवन बगिया संवारने वाला योग्य माली, अनन्त कालीन पराधीनता की जंजीरों को तोड़ने वाला अदम्य

सामर्थी योद्धा। आत्मा की सोई हुई निधि से मिलन कराता था : कोई न तो वह है ब्रह्मचर्य- बाहर जाती हुई स्वयं की शक्ति को भीतर की ओर बढ़ाना, अपनी शक्ति का वास्तविक सदुपयोग करना ही ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य का अर्थ है- ब्रह्मा का सृजन करना, आत्मा का सृजन करना। अब संसार का नहीं। आज तक अपनी शक्ति का दुरूपयोग करके, संसार का ही निर्माण किया था किन्तु, अब संसार की संतति का विच्छेद कर देना, हमेशा-हमेशा के लिए तोड़ देना उससे सम्बन्ध त्याग देना, तथा अपनी स्वकीय अन्तर आत्मा से साक्षात् करने का सुअवसर प्राप्त कर लेना है।

अनन्तकाल से इस जीव पर अब्रह्म का भूत सवार है, जो मात्र पाप बुद्धि की ओर ले जाता है क्योंकि पहाड़ से नीचे की ओर आने में विशेष परिश्रम की आवश्यकता नहीं है। जरा पांव फिसला की नीचे की ओर आ गये। किन्तु पहाड़ पर चढ़ने के लिए परिश्रम करना पड़ता है। उस समय सांस फूलती है, पसीना आता है, प्यास लगती है, अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। कहने का अर्थ इतना है कि, निम्नता की ओर आने में श्रम भी नहीं लगता, समय भी नहीं लगता किन्तु श्रेष्ठता की ओर आने में परिश्रम के साथ-साथ समय भी लगता है। व्यवहारिक दृष्टि से देखे तो ऊँचाई पर चढ़ने के लिए कम से कम शरीर में शक्ति की आवश्यकता होती है। शक्ति-संचय के लिए संयम का पालन करना, काम विकारों को जीतना ही ब्रह्मचर्य पालन करना है। तीन लोक की सम्पदा को ले डूबने वाले अब्रह्म का त्याग कर ब्रह्म को प्राप्त करना सहज नहीं है। भर्तृहरि ने इस संदर्भ में कहा है कि— .

एक अत्यन्त क्षीण कुत्ता दो दिन से भूखा, प्यासा, घायल, शरीर से रक्त, मवाद बह रहा है, जिस पर कीड़े भिन-भिना रहे हैं, एक आँख खराब, लूला-लंगड़ा, गले में मटके सा मुखाग्र लटक रहा, सारी देह खाज-खुजली युक्त, ऐसी दयनीय स्थिति में सड़क के किनारे पड़ा था। सड़क पर गुजरने वाले लोग उसकी दयनीय स्थिति पर शोक प्रगट कर कह रहें थे कि— यह अब कुछ ही क्षणों का मेहमान है। यहाँ सड़क पर ही दम तोड़ देगा। यहाँ का सारा वातावरण गन्दा हो जायेगा, दुर्गन्ध से भर जायेगा इसलिए मरने के पहले ही इसे यहाँ से हटा देना चाहिए। बस! इस प्रकार की चर्चा चल ही रही थी कि, वहाँ से एक कुतिया गुजरी। उसे देखकर वह मृत प्रायः कुत्ता काम विकार से पीड़ित हो गया, उसके वशीभूत हो कुतिया के पीछे लग गया। नाना व्याधियों से ग्रस्त, कुछ क्षणों का मेहमान उस कुत्ते की काम भावना ने उसकी मति भ्रष्ट कर दी। काम-वासना जब जागृत होती है तब शरीर की शक्ति के

साथ-साथ मति भी भ्रष्ट हो जाती है। सारा विवेक समाप्त हो जाता है। क्षीण, शक्ति विहीन मानव जीवन में भोगों की दासता स्वीकार कर, उनकी गुलामी करता रहता है। उसके जीवन में अन्धकार के अलावा कुछ भी नहीं होता, सारा जीवन व्यतीत हो जाता है किन्तु क्षणिक भी, आलोक का आगमन नहीं होता। वह अपनी जीवन निधि को यूँ ही काम भोगों में लुटा देता है। जिस शक्ति के माध्यम से अनन्त असीम निधि के दर्शन होने चाहिये थे उसे तो प्राप्त नहीं कर पाता बल्कि, क्षुद्र भोगों से अपने जीवन की श्रृंखला को अवश्य ही समाप्त कर लेता है। वैसे यह काम भोगों की अक्षुण्य श्रृंखला अनादिकाल से चली आ रहीं है। इस अक्षुण्य श्रृंखला को तोड़ना ही तो ब्रह्मचर्य की उपासना करना है, जीवन को श्रेष्ठ बनाना है।

निरतिचार ब्रह्मचर्य का पालन करने के लिए शब्द से, रूप से, गंध से, रस से, स्पर्श से इन समस्त प्रकार की इंन्द्रियों के समस्त विषयों को मन-वचन-काय से त्याग कर देना, समस्त इन्द्रियों का निषेध कर देना, उनकी दासता को हमेशा-हमेशा के लिए तोड़ देना, स्वयं के मालिक बन जाना, उन पर अपना प्रभुत्व स्थापित करना स्वयं का एकाधिकार करना ही ब्रह्मचर्यहै।

काम वासना ही केवल काम वासना नहीं है, कामेन्द्रियाँ ही मात्र कामेन्द्रियाँ नहीं है सभी इन्द्रियां, कामेन्द्रियाँ है। काम वासना की पूर्ति किसी भी इन्द्रिय के माध्यम से की जा सकती है। जैसेः- किसी के शरीर को मात्र हाथों से छूना ही छूना नहीं है। उसे देखते है तब आप अवश्य ही उसे छू लेते हैं, आप उसे आंखों से छू लेते हैं, आँखों के माध्यम से ही काम वासना को पूर्ण कर लेते हैं। प्रेमी और प्रेमिका अपना सारा जीवन मात्र एक दूसरे को देखने-देखने में ही व्यतीत कर देते हैं। एक दूसरे से मिले नहीं मात्र देखने से ही काम वासना की पूर्ति कर लेते हैं। आँख के एक मात्र इशारे पर ही अनेंक अप्रत्याशित घटनायें घट जाती है। किसी की मधुर आवाज पर आपके कान उधर चले जाते हैं तब आप अपने कान से, अपने प्रिय को छू लेते है। जैसे :- आपकी प्रेयसी कहीं दूर है, साथ ही सुंदर गायिका है, तब आप उसके मधुर गीत सुनकर खुश हो जाते हैं । आपके इष्ट के दूर होने पर फोन पर मात्र शब्द सुनकर ही आप फोन के ही अनेक स्पर्श ले लेते हैं। क्योंकि आपके कानों में प्रेयसी के मधुर वचन रस घोल रहें हैं आपकी वासनाओं को जागृत कर रहे हैं। आप बाहर से भले ही दूर

है किन्तु ध्यान के माध्यम से बिल्कुल करीब होते है। अर्थात् कान के माध्यम से निरंतर छूते रहते है। जब कोई आपके पास से मधुर गन्ध लगाकर गुजर जाता है तो नाक उसे छू लेती है। कहने का तात्पर्य यह कि हाथ तो मात्र स्थूल रूप से छूने का कार्य करते हैं। यदि इन सब क्रियाओं के पीछे आपका ध्यान लगा रहता है इनमें इष्ट-अनिष्ट की कल्पना करते रहते हैं तो आप दोषी ठहरते है। यदि इनमें आप रस नहीं लेते इष्ट-अनिष्ट की कल्पना नहीं करते, तब आपका त्याग, आपकाब्रह्मचर्य पालन वास्तविक कहलाता है। इसलिए, जब वासना का, भोगों का, त्याग किया है, तब इसे पूर्ण रूप से त्याग कर देना चाहिए। स्पर्श से भी, कान से भी, घ्राण से भी, चक्षु इन्द्रिय से भी रुप आदि का पूर्ण त्याग कर देना चाहिए।

अब इन्द्रियों के माध्यम से किसी भी प्रकार का भोग नहीं होना चाहिए। जब काम वासना ज़ागृत होती है, तब वह अपनी क्षुधा की खाद्य सामग्री की तलाश करना प्रारम्भ कर देती है। वह काम वासना किसी न किसी प्रकार से दूसरों को अपनी ओर आकर्षित करती है। काम-वासना के आकर्षण के तरीके भिन्न-भिन्न होते हैं। जैसे फूल काम वासना से उत्पीड़ित होकर अपनी गन्ध के माध्यम से भौरों को आकर्षित करते हैं, ताकि, भौरे आयें और रस पान करें। दूसरे फूलों पर बैठकर वे मकरन्द छोड़ देते हैं, जिससे उनकी काम वास़ना शान्त होती है। जब वृक्षों में वासना जागृत होती है तो फलों के माध्यम से पक्षियों को आकर्षित कर लेते हैं, और अपनी काम वासना की पूर्ति करते हैं। अब तो विज्ञान ने भी सिद्ध कर दिया है कि जिस खेत में औरतें काम करती हैं वहाँ की भूमि पर पैदावार अधिक होती है। फूलों के वृक्ष के पास कोई स्त्री खड़ी हो जाये तो वह वृक्ष खुशी से झूम जाता है। उसमें फूल अधिक खिल जाते हैं। जब कोयल के अन्दर काम वासना जागृत होती है तो वह गीतों के माध्यम से उसकी पूर्ति करती है। मयूर काम वासना से पीड़ित होने पर नाचने लगता है उस वक्त उसके पसीने की बूँद पीकर मोरनी अपनी वासना शान्त करती है। इस प्रकार काम वासना सभी में है तृप्त करने के साधन अलग हैं।

संसारी मानव की दो प्रकार की भूख है प्रथम शरीर की भूख, जो रोटी से पूरी होती है। मकान से पूरी होती है, मिलन से पूरी होती है, आलिंगन यानी शरीर का मिलन जो मात्र संसार का कारण है, दुःख का कारण है, पीड़ा का कारण है, सुख नहीं अपितु सुखाभास का कारण है। जब आप भोजन करते हैं तब आप अपने शरीर की सुरक्षा करते

है तथा जब आप काम वासना करते हैं तब आप अपनी जाति की सुरक्षा करते हैं अपने नाम की सुरक्षा करते हैं, अपनी पीढ़ी की सुरक्षा करते हैं, यदि आप भोजन करना बन्द कर दें तो शरीर का मरण होगा, शरीर क्षीण होगा और एक दिन समाप्त हो जायेगा। यदि कामवासना को बन्द कर दे तो जाति का मरण होगा, पीढ़ी का मरण होगा, अहंकार का मरण होगा।

संसारी प्राणी की दूसरी भूख है-मिलन। प्रथम बाह्य मिलन दूसरा अन्तरंग मिलन। अन्तरंग मिलन का अर्थ है अपनी शक्ति बाहर की ओर न ले जाकर मात्र भीतर की ओर ले जाना। यदि आपकी शक्ति अन्दर की ओर बहना प्रारम्भ कर देती है तो परमात्मा का सृजन होना प्रारम्भ हो जाता है। यदि आप की शक्ति अन्दर की ओर बहती है तो स्वयं की खोज करती है। स्वयं की खोज करने का अर्थ-ब्रह्मचर्य को जीवन में स्वीकार करना, अंगीकार करना, उसका पूर्ण रुपेण पालन करना। ब्रह्मचर्य का अर्थ है स्वयं को पाना धर्म को उपलब्ध हो जाना, अपने आप को पा जाना, अपने स्वयं के मालिक हो जाना। काम वासना का अर्थ है अपने से दूर चले जाना, दूसरे के पास चले जाना, अपने से बाहर दूसरे को प्राप्त करने की कोशिश करना। अधर्म को प्राप्त करना, संसार का सृजन करना, संसार की सुरक्षा करना, इसलिए काम वासना से बढ़कर दूसरा अधर्म नहीं है। तथा ब्रह्मचर्य से बढ़कर दूसरा श्रेष्ठ धर्म नहीं है। **जो शक्ति संसार के प्राणियों को जन्म देने में काम आती है, वह शक्ति स्वयं को भगवान बनाने में काम आती है। जिससे वास्तविक आत्मा का सृजन होता है। अन्तरंग का मिलन ही इस जीव के लिए परम श्रेयस्कर है।**

मानव में आत्म-ध्वंस एवं आत्म-सृजन दोनों ही प्रकार की शक्तियाँ विद्यमान है। वह अपना विकास एवं विनाश दोनों ही कर सकता है। इन दोनों विकल्पों में किसी भी एक को चुनने में पूर्ण रुपेण स्वतन्त्र है। यही स्वयं के प्रति उत्तरदायित्व पूर्ण करना है उसका अपने प्रति प्रेम ही ब्रह्मचर्य या प्रेम का उद्भव है। जितना अधिक मानव स्वयं की आत्मा से प्रेम करता है, उतना ही काम-वासनाओं से मुक्त हो जाता है। आत्म घाव से मुक्त हो जाता है। क्योंकि काम वासना आत्मघात का मुख्य कारण है, जिसे अधर्म की कोटि में रखा गया है। जहां पर अधर्म होता है, वहां हिंसा का समर्थन करना, राग-द्वेष, स्वमेव हो जाता है। स्वयं की सत्ता और अनन्त सम्भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए , स्वयं के

विकास के लिए आत्मा के प्रति प्रेम होना, आत्मसंयम का होना ज़रूरी है। आत्म प्रेम के अभाव में मानव की समस्त चेष्टायें निष्फल हो जाती हैं, पाप बन जाती हैं, काम वासना का रूप ले लेती है। इस प्रकार आत्म ध्वंस एवं आत्म सृजन, धर्म और अधर्म, पुण्य और पाप, शुभ और अशुभ इन सबके स्रोत मानव के भीतर ही विद्यमान हैं। यह शक्तियाँ परमात्मा में हैं तथा अन्य किसी भी लोक में नहीं अपितु स्वयं में भी हैं।

ब्रह्मचर्य की गहन अनुभूति ही जीवन में परिवर्तन लाती है। स्वयं के जीवन को संवारने के उत्तरदायित्व के प्रति हमें सजग करती है, फिर मानव जन्म के अन्दर अन्तर्निहित बीज (परमात्मा को) विकसित होने लगता है। विशेष उदात्त तत्वों का विकास शुरू हो जाता है। जो इस प्रकार के सतत् सजृण में लग जाते हैं जो इस बोध को पा लेते हैं वे प्रतिक्षण स्वयं को नया ही पाते हैं परिवर्तित ही पाते हैं। इस सतत् से ही जीवन के सुख आनन्द को पाया जाता है। अन्धकार एवं कुहासों से डूबी आँखे फिर धवल प्रकाश देने वाले सूर्य के दर्शन करने में स्वयं को समर्थ पाती हैं, पाती ही क्या? स्वयं अपने अन्दर सूर्य को निर्मित कर लेती हैं। ब्रह्मचर्य मनुष्य को प्रतिक्षण और प्रतिपल नया करता है और स्वयं को सतत् जन्म देता है, परमात्मा के फूल को खिलाता है। मानव के हृदय को भरने म ब्रह्मचर्य ही पूर्ण सक्षम है। इसके अतिरिक्त उन्हें अपने जीवन में संकल्प करना होगा कि ब्रह्मचर्य के अतिरिक्त अन्य अक्षम है। इसलिए जो शांति चाहते हैं, संतृप्ति चाहते हैं, उन्हें अपने जीवन में संकल्प करना होगा कि, ब्रह्मचर्य के अतिरिक्त और मुझे कुछ नहीं चाहिए। गीताकार कहते हैं कि—

क्षेयान् स्वधर्मो विगुणाः
स्वधर्म निधनं क्षेयः परधर्मो भयावहः ।।

स्वधर्म-स्वगुण अर्थात् आत्मा का निज रूप ही श्रेयस्कर है और पर धर्म अर्थात् वैभाविक परिणति भयंकर है। स्वधर्म में मरण करना भी कल्याण कर है। अधर्म मनुष्य को दुर्गति और दुरावस्था में ले जाता है। ब्रह्मचर्य आत्मा का स्वभाव है, वही स्वधर्म है तथा काम वासनाएं, आत्मा का विभाव है, वही परधर्म है। परधर्म ही जीव का शत्रु है। स्वधर्म जीव का परम मित्र है। परधर्म जीव को भव-भव में भटकाने वाला शत्रु

है। शत्रु एवं मित्र दोनों के निर्माण कर्ता हम स्वयं ही है कोई दूसरा नहीं।

"आप भले तो जग भला"

आप भले हैं, सद्विचार वाले हैं, निर्मल परिणामी है तो सारासंसार आपके लिए भला है। आप भले नहीं हैं, सद्परिणामी नहीं हैं वासनायें आपके अन्दर अपना अधिकार जमाए बैठी हैं, आपके हृदय में घृणा तथा द्वेष की ज्वालाएँ जल रही हैं, धधक रही हैं तो भव-संसार के एक किनारे से दूसरे किनारे तक कहीं भी जायें, आपको कहीं भी अच्छाई या भलाई नहीं मिलेगी। यदि मिले भी तो आप उसे घृणा की दृष्टि से देखेंगे। क्योंकि आपने अपनी आंखों में विकारी भावों का चश्मा चढ़ा रखा है ज़ो आपकी आत्मा को विकारों और वासनाओं की तीव्रता के कारण मलिन बनाता है। वह स्वयं अपना शत्रु बन जाता है। सारा संसार भी उसे शत्रु के रूप में दिखाई देने लग जाता है। जिसने अपनी अन्तर-आत्मा को स्वच्छता से मित्र बना लिया उसने समस्त संसार को अपना मित्र बना लिया। शास्त्र में बड़े ही सुन्दर ढंग से इसका वर्णन किया गया है-

"अप्पा नई वैयरणी, अप्पा ये कूड़ सामली।
अप्पा काय दुट्टा धेप्पू अप्पा ये वन्दणं वरणं।।
अप्पा कत्ता विकत्ता य दुहाण य सहाण य।
अप्पा मित्तममित्तं च दुप्पट्ठियं सुपटिठओ।।"
"उन्तराध्यन् शास्त्र"

वैतरणी नदी और कोई नहीं यह आत्मा ही है। आत्मा ही काम धेनु गाय है और नन्दनवन भी आत्मा ही है। आत्मा ही दुखों एवं सुखों का कर्ता है और हर्ता है। तुम स्वयं ही अपने मित्र हो, और स्वयं ही अपने शत्रु हो, जब तुम अधर्म की राह पर चलते हो तो, स्वयं के दुश्मन बन जाते हो।

"यादृशी दृष्टि तादृशी सृष्टि।"

जैसी दृष्टि होती है अर्थात जिस मनुष्य का जैसा दृष्टिकोण होता है उसके लिए वैसी सृष्टि भी हो जाती है कहने का तात्पर्य यह है कि कोई पूछे सृष्टि भली है या बुरी? इस बात के लिए स्वयं उससे पूछ

तो तुम्हारी दृष्टि कैसी है? अच्छी है या बुरी? यदि अच्छी होगी तो सृष्टि अच्छी नजर आयेगी और बुरी होगी तो सृष्टि बुरी नजर आयेगी।

बाहर मे आपको जो संघर्ष नजर आ रहा है वास्तव में देखे तो मूल संघर्ष तो अन्तर्वृत्तियों के कारण से ही रहा है। जीवन में जो बाहर के शत्रु और मित्र दिखाई देते हैं, और उनसे संघर्षरत दिखाई दे रहा है वह संघर्ष वास्तव में बाहर का नहीं अपितु भीतर का है।

गीता में एक प्रश्न उठाया गया है—

'धर्म क्षेत्रे, कुरूक्षेत्रे समवेत्ता युगुत्सवः।
मामलाः पाण्ड़वाश्चैव किम कुर्वति संजय।।''

धर्मक्षेत्र में, कुरू क्षेत्र में लड़ने के अभिलाषी कौरव पाण्डव आये तो हैं संजय उन्होंने क्या किया? यह धृतराष्ट्र का प्रश्न है और इसी प्रश्न के उत्तर में गीता की रचना हो गई। यह प्रश्न तो बन्धुओं! कुरूक्षेत्र के बारे में किया गया है जो मात्र एक ऐतिहासिक घटना बन कर रह गई। किन्तु इस युध्द भूमि की लड़ाई का मैदान तो यह जीवन का क्षेत्र है, इसमें भी कौरव-पाण्डव प्रत्येक समय लड़ रहे हैं।

मैं तो सोचता हूं कौरव पाण्डव तो भूमि के चन्द टुकड़ों के लिए लड़े थे। अच्छी या बुरी घटना तो उसी युग में समाप्त हो गई पर अपना अमिट इतिहास ही छोड़ गई। किन्तु हमारे जीवन का महाभारत तो अनादि काल से चला आ रहा है और आगे समाप्ति के लक्षण दिखाई भी नहीं दे रहे हैं। क्योंकि हमारी वासनामयी अनन्त इच्छाएं अपना साम्राज्य फैलाये हुए हैं। उन्होंने हमारे समस्त कुरूक्षेत्र रूपी हृदय पर कब्जा कर रखा है। उसमें अच्छी-बुरी वृत्तियां ही कौरव पाण्डव हैं, उनका जो द्वन्द चल रहा है वह महाभारत है। पाण्डव के रूप में अच्छी वृत्तियां तथा कौरव के रूप में बुरी वृत्तियां काम कर रही हैं, संयम कृष्ण के रूप में सारथी बनकर रक्षा कर रहे हैं।

जब तक मानव इस लड़ाई में विजय प्राप्त नहीं कर लेता अर्थात्

अपने मन पर पूर्ण अंकुश नहीं जमा लेना, तब तक हमारी लड़ाई समाप्त नहीं हो सकती। समस्त दार्शनिकों- वैज्ञानिकों का एक मात्र यही कहना है कि "यर्त्पिण्डे तद् ब्रम्हाण्डे।" जो पिण्ड में हो रहा है वहीं ब्रह्माण्ड में हो रहा है। जो व्यष्टि में है वहीं समष्टि में है। बाहर जितने भी काम हो रहे हैं उन सब में स्वयं के अन्तर जीवन की छाया ही काम कर रही है। शत्रु और मित्र जो तुमने बाहर खड़े कर रखे हैं वे स्वयं तुम्हारे अन्दर की ही वृत्तियों का एक दृश्य रूप है या वृत्तियों का एक दृश्य फल है।

भली और बुरी वृत्तियों के निरन्तर जारी रहने वाले संघर्ष में यदि भली वृत्तियों को विजय प्राप्त होती है तो जीवन भला सुन्दर बन जाता है और यदि दुर्वृत्तियां विजेता के रूप में अपना सिर उठा लेती हैं, तो जीवन बर्बाद हो जाता है। भली और बुरी दोनों वृत्तियों का निर्माता मनुष्य स्वयं ही है, मनुष्य से भिन्न और कोई बनाने या मिटाने वाला नहीं है। कहा भी है कि-

"कत्ता विकत्ता या"

आत्मा ही कर्ता है तथा आत्मा ही भोक्ता है। अपनी वृत्तियों को बनाना व उन पर विजय प्राप्त करना, यह आत्मा का ही स्वाधिकार है। यदि ऐसा नहीं होता तो मनुष्य के सारे प्रयास, और समस्त साधना निष्फल हो जाती। अब हम स्वयं अपने निर्माता हैं तो हमें आदर्श को चुनना चाहिए, आदर्श को स्वीकारने में रंच मात्र भी कंजूसी नहीं करना चाहिए। अहिंसा की राह को जीवन में अपना लेना चाहिए।

राम और रावण का चरित्र सद्वृत्तियों और दुर्वृत्तियों को समझने के लिए बहुत सुन्दर उदाहरण है।

एक दिन राम ने बच्चे के रूप में जन्म लिया और रावण ने भी बच्चे के रूप में जन्म लिया। जन्म से ही वे मर्यादा पुरूषोत्तम नहीं बन गये थे, और जन्म से ही रावण "पर'-नारी हारी राक्षस नहीं बन गया था। किन्तु जब वे जीवन की राह पर चले तब एक राम और दूसरा रावण बन गया। जिन्होंने अपनी दुर्वृत्तियों को पराजित कर सद्वृत्तियों को अपनाया। वे राम बन गये और जिन्होंने सद्वृत्तियों का तिरस्कार कर दुर्वृत्तियों को जीवन में अपनाया वे रावण बन गये। सारा खेल स्वयं पर ही आधारित है। राम और रावण बनना स्वयं पर निर्भर है।

प्रत्येक मानव जीवन में भी दो धारायें बहती रहती हैं, एक मोह की धारा, दूसरी प्रेम की धारा। मोह की धारा में वासना विकार दुर्वृत्तियां और अवज्ञा का जन्म होता रहता है, दूसरों को कैसे आकर्षित करें, यह आकर्षण इतना अधिक प्रबल - गाढ़ है कि ; वह दूसरे के साथ अपना जीवन जोड़कर छोड़ना ही नहीं चाहता। वासना किसी न किसी के साथ सम्पर्क कायम रखना चाहती है, और जीवन साथी की तलाश में सदा भटकती रहती है। वैसे आकर्षण तो प्रेम में भी होता है, किन्तु दोनों में काफी अन्तर होता है। जैसे गाय का दूध भी दूध कहलाता है। और आक का दूध भी दूध कहलाता है। दोनों दूध कहलाते हैं, दोनों का रंग समान सफेद होता है, किन्तु दोनों में जमीन-आसमान का अन्तर है। एक में अमृत भरा है, जीवन भरा है, आनन्द भरा है तो दूसरे में विष छलकता है, दुख-पीड़ा संताप से परिपूर्ण है, लबालब भरा है। आक के दूध की एक बूंद जहर का काम करती है, जो जी रहा है, उसे मारने में काम आती है किन्तु गाय का दूध पीने के उपरान्त मरने वाला भी जी जाता है। उसके शरीर के कण-कण में शक्ति का संचार हो जाता है।

इस प्रकार प्रेम और मोह दोनों में आकर्षण है। पर दोनों आकर्षण में बहुत अन्तर है- मोह आकर्षण जब एक दूसरे पर चलता है तो दोनों की जिन्दगी को वासना के जाल में जकड़ लेता है और फिर जिस किसी के पास वह जाता है, विकार और वासना की हवा को साथ लेकर जाता है। किन्तु प्रेम के आकर्षण में ऐसा कुछ भी नहीं होता, वासना नहीं होती, बल्कि आत्म प्रेम जहां पर भी जाता है वहां पर प्रेम और शांति का वातावरण निर्मित हो जाता है, चहु ओर शांति बन जाती है।

सीता के प्रति रावण के मन में आकर्षण अत्यधिक है। वह दिन रात सीता के स्वप्न देखता है। दूसरी ओर लक्ष्मण के मन में भी सीता के प्रति अपूर्व आकर्षण है। किन्तु रावण का आकर्षण वासना विष से भरा है, तो दूसरी ओर लक्ष्मण का आकर्षण मातृत्व की पवित्र भावना से ओत-प्रोत है। सीता की सेवा करने को लक्ष्मण प्रत्येक समय तैयार रहते थे। उनकी रक्षा के लिए अपने प्राण देने को अपना कर्तव्य पूर्ण करने को प्रतिपल तैयार रहते थे। सीता की सेवा के पीछे अपने जीवन की समस्त सुख सुविधाओं को ठुकराया, सीता की चरण रज अपने माथे पे लगाया। ये सब काम लक्ष्मण ने निःस्वार्थ भाव से किया। उसके पास स्वार्थ वासना के लिए रंच मात्र भी स्थान न था। उन्होंने अपने

जीवन में मैंने सीता को माता की दृष्टि से देखा था।

रावण सीता का हरण कर जब आकाश मार्ग से जा रहा था तब, सीता अपने आभूषण अलंकार नीचे फेंकती गई थी, ताकि राम को पता लग जाये कि सीता कौन से मार्ग से कहां को गई। जब राम की दृष्टि नूपुर पर पड़ी, उन्होंने उसे उठा लिया और कहा-यह आभूषण तो सीता का ही दिखाई पड़ता है, देखना लक्ष्मण यह सीता का ही है ना?

उस समय लक्ष्मण का निःस्वार्थ प्रेम, अन्तर जीवन की उज्ज्वलता भीतर से चमक उठी। लक्ष्मण का यह आदर्श जीवन विश्व के लिए आदर्श अनुपम अनुष्ठा प्रतीक बन गया। जो आज हमारा प्रतिनिधित्व करता है, मानव के शील के साथ-साथ भारत के शील और सौजन्य को चार चांद लगा देता है। उस समय लक्ष्मण ने राम को क्या उत्तर दिया? उत्तर में लक्ष्मण नहीं बल्कि भारतीय आध्यात्म की अन्तरात्मा बोल उठी थी।

लक्ष्मण ने कहा-

"ना हं जानामि कैयूरे, नाहं जानामि कुण्डले।
नु पूरे त्वामि जानामि नित्यं पादामिवन्दनात्।"

भैया! मैं नहीं कह सकता कि यह कैयूर सीता मां का है या नहीं। मैं यह भी नहीं जानता कि कौन से कुण्डल सीता के है कौन से नहीं। मैं तो सिर्फ उनके पांव के नूपूरों को ही मात्र जानता हूं। जब मैं माता-सीता के चरणों को नमस्कार करने के लिये जाता था और पैर पड़ता था तब मात्र उनके पैरों पर ही मेरी निगाह रहती थी। इस कारण पैरां के गहनों को ही पहचान सकता हूं अन्य दूसरे गहनों को नहीं। क्योंकि उन्हें देखा ही नहीं।

यह कोई साधारण बात नहीं बहुत बड़ी बात है। मानव का जीवन कितनी ऊंचाई तक पहुंच सकता है। यह बात लक्ष्मण ने अपने आदर्श चरित्र में सिध्द कर दी है। आज हम लोग वासना के वातावरण में विपाक्त भोगों की हवाओं में अपना जीवन गुजार रहे है और बिगाड़ रहे हैं। आज हमारे पास लक्ष्मण के आदर्शों को देखने का भी समय नहीं है, उन आदर्शों की परख के लिए उपयुक्त आंखें भी कहा है।

लक्ष्मण भी हमारे समान मानव थे। जो शरीर उन्हें मिला था,

नहीं अगर आज कहीं भी मिला है, पर हम क्षुद्र वासनाओं के बहाव के गर्त में आ गए हैं। आज यदि किसी बालक से किसी नारी के बारे में उसके रूप के बारे में पूछें तो पैर के नख से लेकर चोटी तक सभी आंगोपांग का वर्णन बड़े सुन्दर ढंग से कर देगा। क्योंकि हमारा नैतिक स्तर बिल्कुल ही गिर गया है। हमारे रहन-सहन, खान-पान सब में काफी अन्तर आ गया है। इस भौतिकता ने मानव के पौरूष को समाप्त सा कर दिया है, विवेक को समाप्त कर दिया है। मानव मस्तिष्क में विकारी भावों ने अपना एक छत्र साम्राज्य स्थापित कर रखा है, जो हित अहित की बातों को सोचने का मौका ही नहीं देते। मैं तो मानव मस्तिष्क को विकृत करने का सर्वप्रथम श्रेय भारतीय चलचित्रों को दूंगा। आज करोड़ों रुपया सिनेमा व्यवसाय में खर्च किया जा रहा है। करोड़ों रुपया सिनेमा में काम करने वालों पर बर्बाद किया जा रहा है। फिर वे सिनेमा मात्र वासना के जहर बरसा रहे हैं, उनसे शिक्षा नहीं मिल रही। सिर्फ धधकती कामाग्नि को प्रोत्साहन मिल रहा है। आज के नवयुवक किसी डाकू को देखते है तो डाकू बनने की, प्रेमी और प्रेमिका का चित्र देखते है तो वैसा बनने की कोशिश करते है। पर्दे पर नायक नायिका का नग्न मिलन, नग्न नृत्य, रोमांचित करने से सेक्स बारम्बार देखकर मानव की अन्तरात्मा विकारों से भर जाती है, दूपित हो जाती है। वासना की आग में अधखिली कलियों को कामाग्नि की लपटों में जलने के सिवा अन्य दूसरी शिक्षा नहीं मिल रही।

नारी जाति की ओर ध्यान जाता है तो शर्म से सिर झुक जाता है। जहां की पावन भूमि पर नारी को मातृत्व की उपाधि से सम्मानित किया, जिसकी चरण रज को लोगों ने मस्तक पर लगाया, जिसने भारत की संस्कृति को अपने शील ऐश्वर्य का आभूषण पहनाकर सुरक्षित रखा। किन्तु आज पवित्र नारी जाति वासना की कठपुतली बनकर नाँच रही है। जहाँ कहीं भी बाजारों, गलियों, चौराहों में देखते हैं उनकी अर्ध नग्न तस्वीर का अभिनेत्री के रूप में अनोखा विज्ञापन, सुन्दर आकर्षण चित्रों में देखने को मिलता है। नारी जाति का मातृत्व और भगिनत्व की फोटो चली गई मात्र फ्रेम रह गया है। भारतीय संस्कृति में वासना का घुन लग गया है जो निरन्तर खोखला करता जा रहा है। इस कारण आध्यात्मिक और विराट जीवन को अपनाना चाहिये। वह नहीं बन रहा। इन सिनेमा ने भारतीय संस्कृति को इतना अधिक नष्ट भ्रष्ट किया है, उतना और किसी ने नहीं। इस सिनेमा ने युवक-युवतियों के हृदय में वासना के पावर फुल इन्जेक्शन दिये हैं, जिनसे उनका जीवन जहरीला बन गया है और भी बनता जा रहा है।

अब ऐसे दूषित संस्कारों के साथ में, अध्यात्म की मूल संस्कृति कैसे जीवित रह सकती है? जिस प्रकार कृष्ण और कंस, राम और रावण, इनका तालमेल एक साथ नहीं हो सकता, उसी प्रकार संस्कृति एवं विकृति का भी मेल नहीं हो सकता। ये दोनों छत्तीस के आंकड़े के समान है। सिनेमा काम वासनाओं का पोषण करता है तथा धर्म का शोषण करता है, संस्कृति का संहार करता है, काम-वासनाओं का विस्तार करता है। सिनेमा भारत की लाखों वर्षों पुरानी संस्कृति के लिए अभिशाप बन गया है।

कितना अधिक अनाचार फैल गया है, इस पावन भूमि पर! जहाँ पर राम एवं महावीर जैसी पुण्य आत्माओं का जन्म हुआ है। वहां की संस्कृति का आज हम लोगों ने, अपनी वासनाओं की पूर्ति के लिए गला घोट दिया है। सिनेमा ने ही आर्य प्रजा के जीवन को सत्यानाश के गहन सागर में धकेल दिया है। आज के युवक, युवतियों को सिनेमा ने मार्डन फैशन देकर वासना के समुद्र में डुबो दिया है। जिनकी आखों से वासना की चिन्गारियां निकल रही है। वे आँखें फिर भारतीय संस्कृति और लक्ष्मण के आदर्श जीवन को कैसे देखें? जबकि विधाता ने आँखें देव-दर्शन, कान धर्म श्रवन, हाथ दान देने, गिरतों को ऊपर उठाने के लिये दिये है जिनका हम वास्तविक प्रयोग न करके दुरुपयोग कर रहे हैं। यह दुरुपयोग मानव को जन्म-जन्म के लिए अंधा बना देगा, फिर जन्म ऐसी योनियों में होगा जहां आँखे होंगी ही नहीं, कान होंगे ही नहीं, पैर होंगे ही नहीं, सुख भी नहीं होगा। यदि मानव को अपने से प्यार है तो अपने जीवन में भगवान महावीर के आचरण को उतारें, ब्रह्मचर्य की उपासना करे, तभी हमारे जीवन के दुःखों का अन्त होगा, जन्म मरण का क्षय होगा।

ब्रह्मचर्य में अमिट क्षमता है, जो हमारे मन को मजबूत बनाती है, आत्मा को शक्तिशाली बनाती है, तन को मजबूत बनाती है। मनुष्य का तन-मन और अन्तरात्मा इस प्रकार से मजबूत हो जाता है, तब प्रचण्ड शक्ति का दैदीप्यमान तेज आत्मा में आविर्भाव हो जाता है। फिर संसार की कोई भी शक्ति उसके मार्ग की रोड़ा नहीं बन सकती। ब्रह्मचर्य के अभाव में शरीर की शक्ति क्षीण हो जाती है, मन विकारी भावों से ग्रसित होकर जलने लगता है, क्योंकि प्रत्येक वासना हिंसा है, ज्वाला है वह आत्मा को जलाती है। हम अपने स्वयं के विकारी भावों के कारण स्वयं नष्ट हो जाते हैं। दिया-सलाई जब रगड़ी जाती है, तो पहले

अपने आपको जलाती है, जब दूसरों को जलाने जाती है, तब सम्भव है वह बीच में ही बुझ जाये और दूसरों को न जला पाये। बस इसी प्रकार वासना ग्रसित मानव का हाल है, जो प्रतिक्षण स्वयं को मिटाता जाता है।

आपने लक्ष्मण एवं रावण के जीवन के आकर्षण को सुना होगा। दोनों के जीवन में काफी अन्तर है। रावण ने अपनी शक्ति को काम वासना की खाद्य सामग्री एकत्रं करने, भोग सामग्री में समाप्त कर दिया। लक्ष्मण ने अपनी शक्ति का प्रयोग आदर्श निर्माण करने में किया। दोनों हमारे जीवन केन्द्र में खड़े हैं। लक्ष्मण के आचरण में जीवन की ऊंचाई और मिठास का रस घुला है, जबकि रावण के आचरण में, उसके विचारों में वासना का विपाक्त विप भरा है। इसलिए लक्ष्मण को देवता के रूप में तथा रावण को राक्षस के रूप में माना। लेकिन लक्ष्मण और रावण के जीवन के विपय में अच्छा या बुरा निर्णय करने से हमारा काम नहीं चलेगा। हमें अपने आत्मा के बारे में निर्णय लेना होगा, सोचना होगा, शील मार्ग को चुनना होगा, उसका जीवन में विश्लेपण करना होगा, कि हम स्वयं के अन्दर क्या है? हमारी आन्तरिक प्रवृत्ति क्या है?

भगवान महावीर के ज्ञान का जो हमें अलौकिक प्रकाश उपलब्ध है, उनकी देशना व देशना का तद्रुप आचरण करने वाले आज भी हमारे समक्ष उपलब्ध है। उनके आचरण को देखकर एवं उत्तम ब्रह्मचर्य के पालन से, उसके अलौकिक ज्ञान से, हम अपने आन्तरिक जीवन का परीक्षण कर सकते हैं। ब्रह्मचर्य की आग वह आग है, जिसमें तपकर आत्मा कुन्दन बन जाती है। उस आग में अनन्त -अनन्त काल से चिपका कर्म मल जलकर नष्ट हो जाता है। इस प्रकार उत्तम ब्रह्मचर्य की साधना मानव जीवन को, जिसमें शरीर और आत्मा दोनों का वर्तमान में समावेश है, शक्तिशाली बनाती है। बल्कि उत्तम ब्रह्मचर्य एक ऐसी बूटी है, जो आत्मा की अलौकिक शक्ति को जागृत कर बढ़ाती है, अपरिमित बल प्रदान करती है। जीवन में आनन्द एवं खुशियों का आगमन उत्तम ब्रह्मचर्य के द्वार से ही होता है। तथा दुःख पीड़ा और सन्ताप का आगमन वासना के द्वार से होता है। जीवन में सौंदर्य के फूल ब्रह्मचर्य के माध्यम से ही खिलते है। वासना के माध्यम से मुरझा भी जाते है। जीवन में स्वतन्त्रता भी ब्रह्मचर्य के द्वार से आती है तथा, वासना के मार्ग से चली भी जाती है।

भगवान महावीर कहते है कि अपने अस्तित्व से बाहर जाना विजातीय से सम्बन्ध स्थापित करना ही, काम वासना से सम्बन्ध स्थापित करना है, जहाँ "पर" से सम्बन्ध करने के ही भाव है। यहाँ पर तो नियम से काम-वासना है, क्योंकि जो अपना नहीं है उसे पाने की कोशिश करने से आपका श्रम व्यर्थ जायेगा और हाथों में मात्र चिन्ता एवं दुःख रह जायेगा। यह कागज की नाव एक दिन भस्म होगी, क्योंकि इस पर कामाग्नि की सवारी है। आपके महल टूटेंगे, गिरेंगे, बिखरेंगे क्योंकि वासना की आँधियों से घिरे है। आपके समस्त स्वप्न बिखरेंगे और आंसू बन जायेंगे, क्योंकि वे सब स्वप्न है, और स्वप्न तो असत्य होते है। काम वासना के माध्यम से सुख को पाने की कोशिश की जा सकती है, सुख प्राप्ति का विचार भी किया जा सकता है, इसके लिए प्रयास भी किया जा सकता है, याने कि आशा की जा सकती है। सुख मिलने ही वाला है, हम बहुत करीब पहुँच गये है यह सब भ्रम है, सुखाभास है। वासना से सुख की आस करना, ओस से प्यास बुझाना है। काम-वासना से आज तक किसी को भी सुख की प्राप्ति नहीं हुई। कामाग्नि के बुझने के उपरान्त ही सुख को प्राप्त किया जा सकता है। कामाग्नि बुझें और आत्मा शान्त हो। इस कामाग्नि को बुझाने में विश्व का कोई भी पदार्थ समर्थ नहीं है, बल्कि संसार के भौतिक पदार्थ कामाग्नि को भड़काने में घासलेट तेल का काम करतें हैं। चारों ओर जलती, धधकती वासना की लपटों से आप निकलना चाहते है, और वहाँ पहुँचना चाहते हैं, जहाँ शान्त, शीतल झरने बह रहे हैं सुख के, आनन्द के, शांति के। हम यहां पर एक क्षण के लिए भी आनन्द नहीं पा रहे, एक समय के लिए सुख की श्वास नहीं ले रहें क्योंकि विषय-वासनाओं की लहर में आपाद-कण्ठ डूबे हैं। जिसके परिणाम स्वरुप श्वास भी दुःख के साथ है, सुख के साथ नहीं।

यदि आप काम वासना पर विजय प्राप्त करना चाहते हैं, अपने उपयोग को जो बाहर की ओर भौतिक सामग्री को अपना विषय बना रहा है, उसमें अटक रहा है, उसे अपनी आत्मा में लाना है, चाहे वह उपयोग, स्वात्मा में या परमात्मा में हो, किन्तु लाना है। आत्मा में उपयोग लगा नहीं पाते, इस कारण कामाग्नि धधक रही है। भारतीय संस्कृति में, भारतीय साहित्य में काम, पुरूपार्थ का उल्लेख भी देखने को मिलता है। जिसका अर्थ आपकी दृष्टि में लौकिक भोंग हो सकता है, किन्तु काम पुरूपार्थ का अर्थ है, चैतन्य का भोग करना। वही काम पुरूपार्थ से मोक्ष पुरूपार्थ की ओर जाता है। काम पुरूपार्थ का अर्थ है, अपने

[illegible] आत्मा में गहरे उतरना। आत्मा का विश्लेषण करना, सत्य का अनुभव करना, 'स्व' की आत्मा को देखना। काम-पुरूष-अर्थ इन तीनों शब्दों के योग से काम पुरूषार्थ निष्पन्न हुआ। काम अर्थात् भोग, पुरूष अर्थात् आत्मा, अर्थ अर्थात् प्रयोजन। पुरूष के लिये काम आवश्यक है, आत्म दर्शन के लिये नितांत आवश्यक है। क्योंकि इसके बिना deep (गहरे) में नहीं पहुँच सकते। यानि चैतन्य आत्मा के भोग के बिना गहरे पहुँचना संभव नहीं है। पुरूष तक पहुँचने के लिए चैतन्य का भोग आवश्यक है। वैसे मोक्ष पुरूपार्थ को किसी भी वर्ग में नहीं रखा है। इसलिए संस्कृत में इसे अपवर्ग भी कहते हैं। वर्ग विहीन कहते हैं किन्तु धर्म, अर्थ, काम आपस में सम्बद्ध है। इसलिए इन्हें विज्ञान का विद्यार्थी जब प्रयोगशाला में अपने प्रयोग को सिद्ध करने जाता है, तब उसे प्रयोगशाला के समस्त नियमों का पालन करना होता है। जो प्रयोगशाला के नियमों का उल्लंघन कर देते हैं, वे अपने प्रयोग को सिद्ध भी नहीं कर पाते। किन्तु प्रयोगशाला के नियमों के पालन के साथ ही साथ जब उसकी दृष्टि मात्र अपने प्रयोग पर ही रहती है, अपने अगल-बगल, आगे-पीछे वालों को भूल जाता है, एक मात्र उपयोग काम करता है, तब वह अपने प्रयोग को सिद्ध कर लेता है।

मानव जन्मा ही असुन्दरता के बीच है, गन्दे पदार्थों के मिलने से जन्मा है, रज-वीर्य के मिश्रण से मानव का जन्म हुआ है, वासना की प्रवृत्ति से उसका जन्म हुआ है। फिर वह सुन्दरता को कायम कैसे रहने देगा? वह भी जीवन में उपद्रव करेगा। राम और सीता के अनाहत चल रहे जीवन में एक व्यवधान विप संकट बनकर आ गया। उसे राम सीता का जीवन रास नहीं आया। रंग में भंग हो गया। सीता की गोरी-गोरी काया की माया में वह डूब गया। रावण की दृष्टि मात्र सीता की काया पर पड़ी, आत्मा पर नहीं। यदि सीता की आत्मा पर दृष्टि चली जाती, तो रावण को भी राम के समान मार्ग अवश्य मिल जाता। रावण का जीवन सुधर जाता। रावण का जीवन सुधरता कैसे? अभी रावण की वासनामयी आखों में सीतारानी झूल रही थी। एक दिन रावण ने अपनी बहुरुपणी विद्या के माध्यम से सीता का हरण कर लिया, तब सती सीता ने अपने जीवन में काम भोगो को स्थान नहीं दिया। सोने की लंका, रावण का वैभव, सीता के शील ऐश्वर्य को नहीं जीत सका। सीता रानी ने निर्भीक होकर रावण का सामना किया तथा रावण को ललकारा-तथा स्वयं के कार्यों पर, स्वयं की अनावश्यक मांग पर पश्चाताप किया।

अशोक वाटिका में बैठकर अपने कार्यों के बारे में सोचकर आँखों से आँसू बहाकर स्वयं से कहती है- हाय-ये मेरी दुर्बुद्धि हो गई, जो मैंने अपने स्वार्थ के लिए, क्षुद्र वासना की पूर्ति के लिए, अपने प्राण वल्लभ पति को भेज दिया। मात्र एक हिरण लाने को! इस दानव ने भिखारी का रूप बनाकर मेरा हरण कर लिया। मुझे क्या मालूम था कि ये विषधर नाग है। हे भगवान्। अब मैं किसी भी प्रकार से अपने शील धर्म की, अपने सतीत्व की रक्षा करूंगी और सामने आने वाले कष्टों को पत्थर की भांति बनकर सह लूंगी। मेरे कारण मेरे प्राण प्रिय की क्या स्थिति हुई होगी? निर्जन वन में एकाकी रहकर उनका समय कैसे व्यतीत होगा? वे मेरा स्मरण कर व्यथित हो रहे होंगे। मुझे अपनी प्यासी आंखों में ढूंढ रहे होंगे। मुझे क्या मालूम कि इस भिखारी के मन में घोर पाप छिपा है।

बंधुओं! जरा हम सीता रानी के हरण पर विचार करें! सीता, राम, लक्ष्मण, रावण बाहर नहीं अपितु स्वयं हमारे अन्दर हैं। रावण सीता हरण में सफल हुआ, क्योंकि सीता का वैराग्य दूर चला गया था। हमारे जीवन में, मोह रूपी रावण को सफलता तभी मिलती है जब वैराग्य हमसे दूर होता है, चरित्र हमसे दूर होता है! मानव मन में ज्ञान के प्रति अगाढ़ आस्था है, तथा अगम्य ज्ञान भी है। यदि वैराग्य उससे दूर रहे तो, मोह रूपी रावण, शांति रूपी सीता का हरण कर लेता है। हमारा वैराग्य ढाल के समान है, ज्ञान तलवार के समान है। जैसे- योध्दा रणभूमि में लड़ते समय आक्रमण का शस्त्र तो रखे किन्तु सुरक्षा का अस्त्र न रखें, तो वह सुरक्षित नहीं रह पायेगा। इसी प्रकार साधक को साधना के रण क्षेत्र में अपने बचाव रूपी वैराग्य ढाल रखनी आवश्यक है। शांति रूपी सीता तभी सुरक्षित रह सकती है जब जीवन में ज्ञान एवं वैराग्य दोनों होंगे। वैराग्य के अभाव में ज्ञान पंगु हो जाता है। ढ़ाल के अभाव में योध्दा तलवार लेकर शत्रु पर वार तो कर सकता है, किन्तु शत्रु के वार को मात्र तलवार से नहीं रोक सकता। उसके लिए तो ढाल आवश्यक है। यदि योध्दा के हाथों में केवल ढाल हो, तलवार न हो, तो उससे तो वह आक्रमण रोक लेगा किन्तु, स्वयं अपना वार शत्रु पर नहीं कर सकेगा। जब तक शत्रु समाप्त नहीं होंगे खतरा बना ही रहेगा। मोह रूपी रावण द्वारा बनाया माया रूप मृग, जिसे देखकर सीता प्रलोभित हो जाती है, उसे प्राप्त करने की कामना से भर जाती है, ज्ञान रूपी राम कामना भोग पूरी करने, माया मयी मृग के पीछे चले जाते है। तब चरित्र रूपी लक्ष्मण सीता से दूर वैराग्य रूपी रेखा खींच कर चले जाते

हैं, साथ ही कह देते हैं - मां! इस रेखा से बाहर मत आना। जब तक वैराग्य की आन्तरिक रेखा बनी रहेगी, शांति रूपी सीता सुरक्षित रहेगी। मोह रूपी रावण चुरा न सकेगा, क्योंकि मोह वैराग्य रूपी रेखा को पार नहीं कर सकता। जब शांति रुपी सीता वैराग्य रेखा का उल्लंघन कर बाहर आ जाती है तो मोह रूपी रावण शांति रूपी सीता का हरण कर लेता है। दूसरी बात, रेखा कोई लोहे की दीवार तो थी नहीं वह तो मात्र 'स्व-स्वीकृत' बंधन था क्योंकि, वैराग्य का बंधन 'स्व-स्वीकृत' ही होता है। उसे हम पर कोई जबरदस्ती लाद ही नहीं सकता। उसे हम स्वयं अपनी सुरक्षा के लिए स्वीकार करते हैं। सीता रानी ने मात्र मृग की कामना की थी जिसके कारण उन्हें रावण के यहां रहना पड़ा था। जो अपने जीवन में सुबह से शाम तक राग करता हो, फिर वह किस रावण के घर मेहमान बनेगा। क्योंकि यह राग ही, यह वासना ही, मानव जीवन के लिए अभिशाप बनी है। ब्रह्मचर्य मानव जीवन के लिए अभिशाप नहीं अपितु जीवन के लिए वरदान है।

धन्य है शील का महत्व, कितना अपूर्व साहस है नारी के पास, जो प्रतिकूल वातावरण में रहकर भी अपनी शील की सुरक्षा कर रही हैं सीता अपने शील की सुरक्षा के बारे में सोच रही थी कि रावण ने वाटिका में प्रवेश किया। अनजाने पावों की पदचाप सुनकर सीता सिहर उठी और तड़क कर बोल उठी- अन्दर कौन आ रहा है? यहां कोई पुरूष अन्दर न आये? रावण ने कहा- और कोई गैर नहीं, सीता मैं लंकापति रावण हूं, तुम्हें अपनी पटरानी बनाने आया हूं। चले जाओ यहां से, मैं तुम जैसे पापियों का मुंह भी नहीं देखना चाहती। तुम मेरे घावों पर नमक छिड़कने आये हो। ऐसे कठिन वचनों का प्रयोग मत करो सीते, मैं तुम्हारे चन्द्र मुख से अमृतवाणी सुनने आया हूं। तुम विष उगल रही हो। मैं-तुम्हें अपनी पटरानी बनाऊंगा, सीता अब तुम लंकाधिपति होगी। मैं तुम्हारा गुलाम! जरा होश से बात करो रावण! मैं राम की पत्नी हूं याद रखो! यदि सीता के मुख में अमृत भरा है तो, रावण के लिए विष भी। राम के लिए अमृत की पुतली तो गैर पुरूष के लिए विष पुतली हूं। राम के जीवन में अमृत घोल सकती हूं तो पर पुरूष के जीवन में जहर घोल सकती हूं। यदि तुम्हें अपने प्राण प्यारे हैं, प्राणों की रक्षा करनी हैं तो सकुशल मुझे मेरे राम के पास पहुंचा दो, उसी में तुम्हारी कुशलता है। तुम समझते हो, मेरे पति यहां नहीं हैं, तुम मेरे शरीर का लाभ उठा लोगे, तो ध्यान रखो! सीता सती है। तुच्छ वैभव के लिए वह अपना शील रत्न नहीं बेच सकती। **जिसे अपनी जिन्दगी से मोह है, अपने प्राणों से ममता है, जो अपने शरीर और**

सांसारिक भोगों का गुलाम है, कायर है, नपुसंक है वही क्षुद्र भोगों के लिए बिक सकता है। जो अपने धर्म में दृढ़ होते हैं जिनके पास स्वयं का आत्मबल होता है, वे भोगों के सामने अपना माथा नहीं टेकते हैं। सीता कोई मोम की पुतली नहीं है, जो विपत्तियों की आंच लगते ही पिघल जाए। सीता कांच की चूड़ी नहीं जो चन्द तूफानों से टकरा कर टूट जाये। संसार की बड़ी से बड़ी शक्ति भी मुझे सती धर्म से च्युत नहीं कर सकती। यदि तुम्हें अपने पौरूष पर अभिमान है तो ध्यान रखना। राम सूर्य के समान है और तुम उनके समक्ष दीपक हो तुच्छ दीपक! जब तक दीपक को सूर्य के दर्शन नहीं होते तब तक दीपक अभिमान करता है। जब तक हिरण को शेर के दर्शन नहीं होते तब तक हिरण अभिमान करता है। जब तक मेंढक को सांप के दर्शन नहीं होते तब तक वे टर्र-टर्र करते रहते हैं। जब गर्मी अधिक बढ़ जाती है तब बरसात नियम से होती है। आखिर बरसाती मेंढक की जिन्दगी कितने दिनों की होती है? सीता भोगों की दीवानी नहीं है। मैं राम के रंग रूप पर मुग्ध नहीं हूं। मैं उनके शील धर्म पर मुग्ध हूं। उनके पास रूप नहीं भी होता तो भी मेरे आराध्य हैं, मेरे पति है, तुम मुझे कायर मत समझो। सीता मिट सकती है किन्तु अनेक जीवन से संचित किये इस शील एश्वर्य धर्म को तिनके सम विपत्तियों में खो दूं। ऐसा तो कभी भी नहीं हो सकता। मैं शरीर की गुलाम नहीं, शील धर्म की दासी हूं। धर्म की रक्षा करने वाला अजर-अमर हो जाता है। मैं अपने शील धर्म की रक्षा करूंगी। तेरी दुर्वासनाओं की वेदी पर भेंट बन कर तिल-तिल कर जलने की अपेक्षा एक साथ प्राणों का त्याग करना अच्छा है। किन्तु ऐसे राक्षसों के सामने अपने शील को भंग करना अच्छा नहीं है। आपने सीता के धैर्य एवं अदम्य साहस के बारे में सुना। यदि अब इसे अपने जीवन में गुने और उतारे तो अति उत्तम होगा। जिस प्रकार सीता ने अपने शील धर्म का पालन किया माताएं बहिने भी अपने शील धर्म का पालन कर सकती हैं। शील धर्म की रक्षा करना स्वयं पर निर्भर करता है। आज भी इतिहास इनके आदर्श जीवन को दोहराता है। जैसेः- चन्दनाबाला, मनोरमा, रयन मंजूपा, द्रोपदी, अनन्तमति, अंजना तथा ब्राम्ही और सुन्दरी।

राम व सीता ने सांसारिक गृहस्थ जीवन को सुन्दर ढंग से निभाया। सीता की चर्या के माध्यम से राम का जीवन सुधरा, तथा राम के आचरण के माध्यम से सीता का आचरण सुधरा दोनों एक दूसरे के जीवन के पूरक थे। किन्तु अब सीता का बोध जाग गया। सीता की

अन्तरात्मा जाग उठी, पुकार उठी। बस अब नहीं। पर्याप्त समय हम लोग गृहस्थ में रहकर गुजार चुके। आखिर कब तक इस गृहस्थ कालेज में रहेंगे। अब मैंने एम.ए. भी कर लिया, अब पी.एच.डी. करना चाहिए। आत्म संशोधन करना चाहिए। संसार में रहकर सांसारिक वस्तुओं का शोध तो अनेक बार किया है, किन्तु स्वयं पर भी शोध करना है। शोध के लिए मुझे पर्याप्त बोध प्राप्त हो चुका है। बोध की चरम सीमा प्राप्त हो चुकी है। क्योंकि इस चरमसीमा के उपरान्त ही तो शोध किया जाता है। एम.ए. के उपरान्त ही पी.एच.डी. की जाती है। लेकिन लोग तो एम.ए. को ही शोध समझ लेते है। कहते है इसके उपरान्त शोध होता ही नहीं। बस यही गलत धारणा तो आत्म विश्लेषण करने से रोक देती है। आत्मा तक पहुंचने ही नहीं देती। सब लोग इन्हीं गलत राहों पर ही भटके है। इसलिए विवाह बंधन में बंध कर आत्मा संशोधन नहीं कर सके। थ्योरेटिकल में अनुभूति नहीं मिलती। अनुभूति तो प्रेक्टिकल करने में ही होती है। और बिना प्रेक्टिकल के थ्योरेटिकल को अधूरा माना जाता है, अपूर्ण माना जाता है। हां इतना जरूर है कि थ्योरेटिकल के उपरान्त ही प्रेक्टिकल होता है। प्रेक्टिकल थ्योरेटिकल ज्ञान को मजबूत बना देता है। विश्वास को दृढ़ बना देता है। थ्योरेटिकल का अर्थ है दूसरे की सहायता लेना। गाइड के माध्यम से पग बढ़ाना अपने बोध को परिपक्व बनाना, टेस्ट बुक की सहायता लेना। किन्तु प्रेक्टिकल का अर्थ है अब मात्र बोध का आलम्बन लेना। स्वयं के गाइडेन्स से, बिना टेस्ट बुक की सहायता से अनुभूति करना, मात्र स्वयं को ही देखना। स्वयं को देखने के लिए बंधनों को तोड़ना तो नितान्त आवश्यक है।

सीता कहती है- राम! अब स्वावलम्बी बनने का समय आ गया है। इसलिए अब मैं तुम्हारी नहीं रहूंगी राम! अब बहुत हो चुका मुझे जीने दो, विराम करने दो। अग्नि परीक्षा के उपरान्त कहते हैं राम-चलो प्रिय। अब घर चलो! तुम्हारा विवेक कहां खो गया, कैसी बहकी-बहकी बात कर रही हो, तुम्हें ये क्या हो गया है सीता। चलो अब घर चलो। इन प्रासादों को चलकर पवित्र करो। देखो! लक्ष्मण पर दृष्टिपात करो, हनुमान पर करूणा करो जिन्होंने अपना जीवन तुम्हारे शील की रक्षा में व्यतीत किया। देखो! ये दोनों अबोध बालक मां की अंक शय्या का इन्तजार कर रहे हैं। अपने लव-कुश को प्यार करो। राम कहते हैं- कम से कम मेरी ओर देखो सीता! ये हृदय के आंसू अब नेत्रों में भर आये, कम से कम इन आंसुओं पर तो रहम करो, करूणा करो। चलो घर चलो सीता। सीता कहती है-

" राम अब आगे नहीं रहा मुझे आराम, अब चाहती हूं मैं विराम।
विवाह के बंधन तोड़कर पाना है, मुझको आत्म राम।।"

आत्मा और अनात्मा की पहचान करो और अपने स्वरूप में रमण करो। इस प्रकार रमण करो जैसे शक्कर पानी में घुल जाती है। अब तुम भी अपने आप को पहिचानो। राम! तुम्हारा विवेक कहां खो गया है? एक दिन वह जब, सीता राम को पाने के लिए भोजन का त्याग करके बैठी थी। आंसूओं से अपने मुंह को धोती थी। राम के लिए तड़फती थी। आज वहीं सीता कह रही है- राम! तुम्हारा विवेक कहां गया? जागो! राममोहंकीचादर छोड़ो, आत्मा को पहिचानो! अब मेरे पास पर्याप्त शक्ति आ गई है, अब मुझे किसी के सहारे की जरूरत नहीं, अब मेरे कदम घर की ओर नहीं अपितु जंगल की ओर उठेंगे, अब तुम भी पीछे आ जाओ। मैं तुम्हारे साथ नहीं चल सकती। अब आप अपनी विषय सामग्री का चयन करें तथा मैं अपनी विषय सामग्री चुनती हूं अब आप मेरी दृष्टि में राम नहीं, पति नहीं बल्कि अब तो आत्म राम है। अब मैं आपकी इस पाठशाला में नहीं रहूंगी। क्योंकि बंधन तोड़ने के उपरान्त ही आत्म राम मिलते है। अब मैं नारी पर्याय से ऊपर उठूंगी। पंचमुष्ठि केशलोंच कर लेती है। शायद सीता की यह अग्नि ही स्नातक की परीक्षा थी, जिसमें सीता पास हो गई थी। राम खड़े-खड़े परीक्षा देखते रहे और सीता के चरणों में प्राणायातनत् हो गये। वह अबला होकर सबला बन गई तथा राम सबल होकर अबला हो गये। अपने आपकी कमजोरी का एहसास राम तो जरूर कर रहे थे कि- नारी नारायण की अभेद यात्रा पर जा रही है, वह अब चैतन्य आत्मा का अध्ययन करेगी और मैं यहीं का यहीं रह गया।

इस प्रकार अपने स्त्रीलिंग का छेदन करके सीता अभेद की यात्रा में चली गई। बस! काम पुरूपार्थ से मोक्ष पुरूपार्थ की भूमिका बन गई। अब यह मोक्ष पुरूपार्थ था, काम पुरूपार्थ नहीं। राम को भी सीता से प्रेरणा मिली। राम को अपनी कमजोरी का अहसास हो गया। वह तो नारी थी, मैं पुरूप हूं, मैं भी अब पीछे नहीं रहूंगा, मैं भी उसी पाठशाला का विद्यार्थी हूं, जिसकी सीता थी। अब मैं भी ऊपर उठूंगा, और चैतन्य आत्मा के साथ साक्षात्कार करूंगा। राम ने भी संकल्प ले लिया। दिगम्बर दीक्षा धारण कर ली। अब राम की भी यात्रा अभेद की यात्रा थी। राम की दृष्टि राग में नहीं, वीतरागता में थी। वे आत्म पुरूपार्थ में लीन हो गये। चैतन्य के भोग में एकाकार हो गये। बाहर क्या हो रहा है इसकी किंचित खबर नहीं? क्योंकि बाह्य दृष्टि अब अन्तरदृष्टि बन चुकी है, बाह्य पथ अब अन्तर-पथ बन चुका है। अन्तर्गत के सुख

[illegible] श्री [illegible] है। [illegible]
[illegible] सीता के जीव ने [illegible] राम ने [illegible] अपना
लिया मुझे तो [illegible] हाल में भटकना पड़ा। वे अपने लक्ष्य तक पहुंचने वाले हैं। सीता ने सोचा देखूं! राम डिगते है या नहीं; उसने अनेक प्रकार के नृत्य-नृत्यांगना बन कर उपसर्ग किये, पर राम डिगे नहीं, आंख खोलकर एक बार भी सीता पर दृष्टि नहीं डाली। प्रतीन्द्र बार-बार कहता रहा- चलो राम! मेरे साथ चलो मैं तुम्हारी सीता वापस आ गई हूं किन्तु राम तो सीता से आगे निकल गये।

राम ने अपनी शक्ति को पहचान लिया और समझ गये कि, जो शक्ति संसार के सृजन में काम आती हैं, वह मात्र शरीर में रहकर उपद्रव ही करती है। अब इस शक्ति को इस शरीर से मुक्त करना है और किसी दूसरे चैतन्य लोक में जन्म देना है। जहां कोई भी संघर्ष नहीं है, मात्र चैतन्य आत्मा का दर्शन है। संघर्ष तो शरीर के कारण होते हैं, आत्मा के कारण नहीं। इस भूमि पर जो भी अपने आत्म-तत्व को प्राप्त करने में संलग्न है उनका किसी के साथ भी संघर्ष नहीं है। जब शक्ति शांति में परिवर्तित हो जाती है, तो समस्त संघर्ष समाप्त हो जाते है। और वह भीतर बहना प्रारंभ कर देती है, तथा जब शांति शक्ति में बदल जाती है तब संघर्ष शुरू हो जाता है। शक्ति बाहर की ओर बहना प्रारंभ कर देती है। दूसरे के पास जाना ही संघर्ष करना है।

राम और सीता ने अपनी शक्ति को पहचान लिया और उसका सदुपयोग मोक्ष पुरूषार्थ में किया। दोनों का विवाह हुआ था, दोनों ने मोक्ष पुरूषार्थ को अपनाया, उसे निभाया, जिसके परिणाम स्वरूप राम को मुक्ति की उपलब्धि हुई। सीता रानी सोलहवें स्वर्ग के वेटिंग हाल में विराजमान है। वह भी भविष्य में गणधर परमेष्ठी बनेगी। मुक्ति का वरण करेगी।

हम लोग भी अपनी शक्ति का सदुपयोग करें। चैतन्यभोग आत्मा की प्राप्ति के लिए रंग में दंग न रहे, भौतिक सामग्री में उलझे नहीं अपितु अन्तरंग तक पहुचने का प्रयास करें, आत्मा के साथ भोग करें, आत्मा से संबंध स्थापित करें, तभी हमारा प्यारा जीवन सफल हो सकता है। जीवन का वास्तविक आनन्द चैतन्य आत्मा के भोग में है। आत्मा के भोग करने के लिए जीवन में ब्रह्मचर्य व्रत लेना आवश्यक है, बिना ब्रह्मचर्य के आत्मा में रमण भी नहीं है। वास्तव में ब्रह्मचर्य मानव जीवन के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण वस्तु है और जीवन की सुन्दर खुराक भी है

[illegible] आयेगा। आज [illegible] नहीं दिखाई देती है? घर-घर में बीमारों के पलंग लगे है, इसका मुख्य कारण है शरीर का कमजोर होना, और शरीर के कमजोर होने का कारण है, अब्रह्म का पालन करना। [illegible] वासनाओं का समर्थन करना। इसलिए आजकल युवकों के चेहरे पर चमक भी दिखाई नहीं देती। भाल पर उपभासित होने वाली आभा कब गायब हो गई? नेत्र की वह ज्योति कहा चली गई? ब्रह्म की व.. ओजुस्वता कहां चली गई? जिसका एक मात्र उत्तर है- सब कुछ वासना की भोग में जलकर भस्म हो गया है। बल्कि नैसर्गिक सौंदर्य के स्थान पर पाउडर और क्रीम के द्वारा सुन्दरता पैदा करने का प्रयत्न कर रहे हैं, यानि मुर्दे का श्रृंगार कर उसकी शोभा बढ़ाने का प्रयास कर रहे, जो संयत नहीं है, वे ही कार्य कर रहे है।

ऊपर से पैदा की गई सुन्दरता, जीवन की सुन्दरता नहीं बन सकती। **एक वृक्ष सूख रहा है, उसका जीवन रस समाप्त हो गया है, तब कोई भी रंग रेज या चित्रकार रंग पोतकर** उसमें बसन्त लाना चाहे तो नहीं ला सकता । उसके निष्प्राणं सूखे पत्तों पर रंग पोत देने से बसन्त आने वाला नहीं। बसन्त तो तब ही आयेगा जब उसकी जड़ों में रस होगा, जीवन में हरियाली होगी। उस समय एक भी पत्ते पर रंग लगाने की आवश्यकता नहीं होगी। वह स्वयं अपने आप में सजीवता के लक्षण प्रगट कर देगा।

इसी प्रकार ऊपरी रंग पोत देने से जीवन में सुन्दरता का आगमन नहीं होगा। जीवन में असली रंग ब्रह्मचर्य के माध्यम से आता है, चेहरे पर चमक और दमक लाती है, ओज और तेज लाता है। जीवन को सत्यमय बनाता है, पावन पवित्र बनाता है जीवन को सफल और कृतार्थ करना है तो ब्रह्मचर्य की उपासना करना आवश्यक है।

जिनागम इस बात का साक्षी है, जिन आत्माओं ने ब्रह्मचर्य की उपासना की है, उसे जीवन में उतारा है उन आत्माओं ने उन्नति के उच्चतम शिखर पर जाकर अपना डेरा डाला है, जन्म मरण का क्षय कर अजर-अमर हो गये हैं। आपने राम और सीता के वैवाहिक जीवन के बारे में सुना, जरा शान्त मन से पुनः विचार करें। दोनों की जिन्दगी हमारे सामने आज भी प्रकाश स्तम्भ बनी हुई है, और हमारा मार्गदर्शन

पार नहीं है। आज भी कोटि-कोटि नर नारी दोनों की पूजा करते हैं आखिर क्यों? क्या दोनों राजा रानी थे। इसलिए? नहीं! तो क्या सीता राजा की बेटी थी? और राम राजा दशरथ के पुत्र थे? नहीं! क्या राम ने रावण को मारा इसलिए? नहीं। दोनों के सामने दुनिया भर के उच्चतम भोग थे, संसार के समस्त प्रलोभन थे, फिर भी उन्होंने भोग सम्पदा को गले नहीं लगाया, अपितु अपने जीवन में ब्रह्म की उपासना की, और अपने मानव जीवन को सफल बनाया। इसलिए जिनागम में उनके गुण गाये हैं। और हम लोग भी उनके गुण इसलिए गाते हैं ताकि उच्चता के शिखर की ऊंचाई को छू सके।

जिसके जीवन में एक बार वासना जड़ से साफ हो गई, जिसका शुध्द स्वरूप प्रगट हो गया, फिर उस पर वासना का प्रहार कभी भी नहीं हो सकता, उसकी अखण्ड पवित्रता कभी भी मलिन नहीं होती, फिर उस ब्रह्म आत्मा में रमण करना ही उत्तम ब्रह्मचर्य कहलाता है।

पूज्य श्री युवाचार्य पुष्पदन्त सागरजी महाराज!

जन्म = 1 जनवरी 1954, जन्म स्थान - गौंदिया (महाराष्ट्र) पितृनाम - श्री कोमलचंदजी, मातृनाम - माँ मथुराबाई (सम्प्रतिक्षुल्लिका पद्म श्री) शिक्षा बी.ए., गृह त्याग - 12 अप्रैल 1978 क्षुल्लक दीक्षा - 2 नवम्बर 1978 ऐलक दीक्षा - 14 जनवरी 1980 मुनि दीक्षा 31 जनवरी 1980 युवाचार्य पद - 21 मार्च 1986 गुरु द्वय - **आचार्य विमल सागर, आचार्य विद्या सागर**

चातुर्मास - 1980 छिंदवाड़ा 1981 छिंदवाड़ा 1982 रायपुर 1983 राजिम 1984 दुर्ग 1985 सिवनी 1986 इंदौर 1987 बागीदौरा (राज.) **1988 परतापुर (राज.)**

साहित्य - अध्यात्म के सुमन, बोधि वृक्ष, शब्दांकन, हम दुःखी क्यों? षटलेश्या, सम्यकदर्शन, सुमन के सुमन, अनुभूति के सुमन, (मुक्तक संग्रह), अध्यात्म के स्वरों में, आदि पंच दशक साहित्य प्रकाशित (करीब एक लाख)!

पत्रिकाएं - पुष्पदंत धारा (मासिक), मुक्ति सोपन (मासिक), पुष्प वर्षा (साप्ताहिक) गुरुवाणी (साप्ताहिक) प्रवचन प्रवाह (साप्ताहिक) अमृतवाणी (साप्ताहिक) प्रवचन प्रवाह पाक्षिक परतापुर से।

विशेषांक - सन्मति वाणी जून 1986, सन्मतिं वाणी - जुलाई 1986 मुक्ति सोपान - 1987

लेख - जैन मित्र, जैन गजट, जैन दर्शन, पुष्पदंत धारा, मुक्ति सोपान, करुणा दीप, वीतराग वाणी, ज्ञान गंगा, विद्यासागर आदि-आदि।

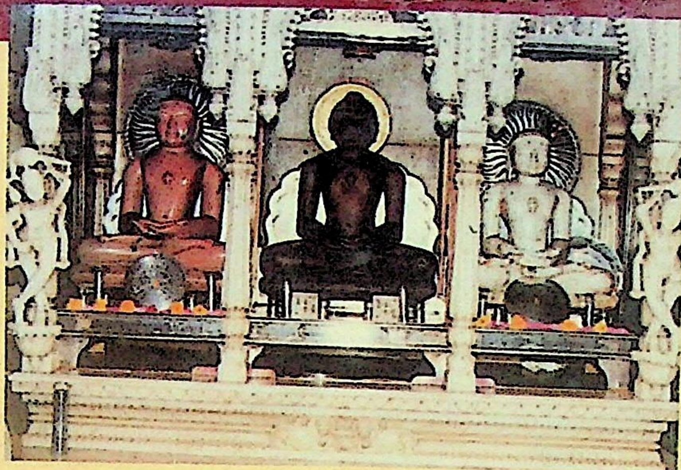
अभिरुचि - मौलिक चिन्तन, मनन, लेखन, प्रवचन, तदनुकूल आचरण आदि।

विशेषताएं - गूढ़ से गूढ़ विषयों को युक्तियों और दृष्टान्तों के द्वारा श्रोताओं के गले उतारना! कठिन से कठिन विषय आपकी वाणी पर चढ़ कर सरस सरल हो जाता है सरलता सौम्यता के निधान, सिद्धहस्त लेखक, कवि हृदय, तार्किक!

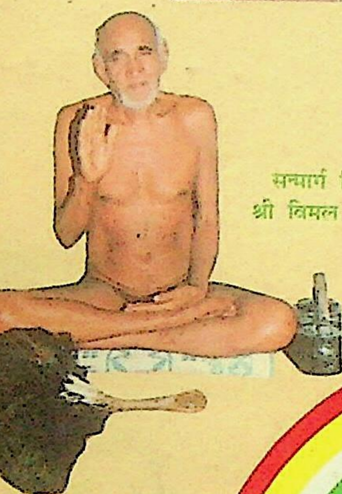
संघ - भारत का सर्वाधिक कम उम्र में दीक्षित साधुओं का अनूठा दर्शन सभी बाल ब्रह्मचारी

विशेष जीवन परिचय - निखलांत की ओर (पुस्तिका से) (सुशील से महाशील पुष्पदन्त)

मुनि तरुण सागर



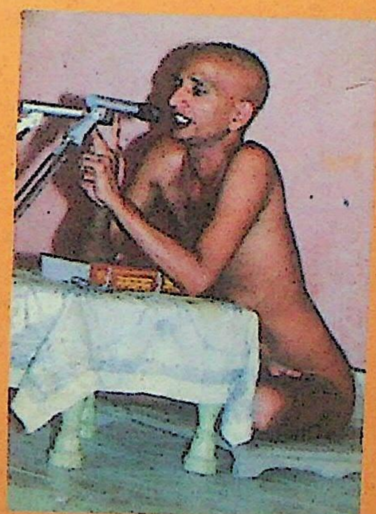
श्री अतिशय क्षेत्र महावीरजी (राज.)



सन्मार्ग दिवाकर आचार्य
श्री विमल सागरजी महाराज



आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज



आचार्य श्री पुष्पदंत सागरजी महाराज

क्रोध-प्रीति को, मान-विनय को, माया-मैत्री को, लोभ-सब को नष्ट कर देता है। जीव का क्रोध करना अपना ही वध है, जीव की दया अपनी ही दया है जो क्रोध करता है व अपने लिए दुःख निर्मित करता है। जो क्षमा करता है, वह अपने लिए प्रेम आमंत्रित करता है। तुम जो दोगे वही पाओगे। जो तुमने पहले दिया था, आज वही पा रहे हो। जो दूसरो के साथ करोगे वही तुम्हारे साथ हो जायेगा। प्रेम बांटोगे, प्रेम पाओगे। क्रोध करोगे घृणा पाओगे। इसलिए क्षमा से क्रोध को नम्रता से मान को ऋजुता से माया को, संतोष से लोभ को जीतो।

पुष्पदन्त सागर